विपशयी साधकों के कल्याणार्थ

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग - १

सत्यनारायण गोयन्का

विपश्यना विशोधन विन्यास

इगतपुरी

प्रथम आवृत्ति १९९५
पुनर्मुद्रण २००१, २००२

मूल्य: रु. १३०/-

ISBN 81-7414-025-5

प्रकाशक:
विपश्यना विशोधन विन्यास
धम्मगिरि, इगतपुरी - ४२२ ४०३
नाशिक, महाराष्ट्र, भारत
दूरध्वनी: [०२५५३] ४४०७६, ४४०८६, ४४३०२
फैक्स: [९१] [०२५५३] ४४१७६
e-mail: dhamma@vsnl.com
Web site: http://www.vri.dhamma.org

मुद्रक:
अपोलो प्रिंटर्स
३१३, जोगानी एस्टेट, जे. आर. बोरिचा मार्ग
लोअर परेल, मुंबई-४०० ०११

विषय-सूची

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

– धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त

किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे ? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनो ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं। स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ सूत्रों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सूत्रों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सूत्रों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत-सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक बाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत

मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दु:ख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुन: प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अर्थकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि-साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अत: अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि –

“भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।”

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक बृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शिनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति? (म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महर्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!
उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!
उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!
उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!
यही कल्याण कामना है।

बुद्ध जयंती, १९९५

कल्याणमित्र,
सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
पारा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये– पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अउत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध - १

क्या है तिपिटक में?

क्या है तिपिटक में?

तिपिटक में क्या है इसे समझने के पहले, यह समझें कि पिटक क्या है? और क्या है तिपिटक?

क्या है पिटक?

जिसके पेट में हम कोई वस्तु सुरक्षित रख सकें, वह कहलाती है पेटी। उसे ही कहते हैं पेटिका या पिटारी। उसी को २६०० वर्ष पुराने उत्तर भारत की जनभाषा में कहते थे – पिटक। पिटक शब्द टोकरी या अन्य किसी भाजन के लिए भी प्रयुक्त हुआ करता था, क्योंकि वह भी सामान रखने के काम में आता है। जैसे कि –

ततो महाजनकायो धञ्ञं आहरेय्य, काजेहिपि पिटकेहिपि उच्छङ्गेहिपि अञ्जलीहिपि।

(अ० नि० ३.८.८, उत्तरविपत्तिसुत्त)

– वहां से लोग धन-धान्य ढो-ढोकर ले आयें, कोई बहँगी में, कोई टोकरी या भाजन में, कोई पल्ले में, कोई अंजलि में।

इसी प्रकार जब श्रेष्ठि मेण्डक की पुत्रवधू के **चतुदोणिकं पिटकं** का उल्लेख आया, तो वहां अभिप्राय चार द्रोण के माप वाली टोकरी से ही है। यों ही जब कोई पेड़ की जड़ उखाड़ने के लिए **कुदालपिटकं** का प्रयोग करता है, तो वहां भी पिटक का अर्थ टोकरी ही है।

परंतु उन दिनों पिटक का एक और अर्थ भी प्रचलित था और वह था – धार्मिक वाङ्मय। अलग-अलग परंपराओं के अलग-अलग पिटक रहे होंगे। कालामसुत्त में जब भगवान ने **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६६, केसमुत्तिसुत्त) कहा, तो अभिप्राय कालामों के परंपरागत धार्मिक वाङ्मय से ही था। इसी प्रकार वैशाली में भगवान ने जब भद्दिय लिच्छवी को **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.४.१९३, भद्दियसुत्त) कहा, अथवा श्रावस्ती में भदंत नंदक ने जब मिगार के नाती को **मा पिटकसम्पदानेन** (अ० नि० १.३.६७, साळ्हसुत्त) कहा, तब अभिप्राय उन-उन के परंपरागत धार्मिक वाङ्मय से ही था, न कि पेटी या टोकरी से।

इसी प्रकार जब भगवान के बारे में कहा गया कि –

सामं सयमभिञ्ञातं अत्तपच्चक्खं धम्मं, न पिटकसम्पदाय। (महानि० १९८, सारिपुत्तसुत्तनिद्देस)

– उन्हें स्वयं अभिज्ञात आत्म-प्रत्यक्ष धर्म प्राप्त हुआ; न कि पिटक संपदा से।

तो यहां भी पिटक का अर्थ किसी धार्मिक वाङ्मय से ही है, न कि पेटी या टोकरी से।

और जब आनंद ने संदक परिव्राजक से कहा –

इधेकच्चो सत्था... – यहां कोई शास्ता (धर्मगुरु),

सो अनुस्सवेन इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय धम्मं देसेति। (म० नि० २.२३०, सन्दकसुत्त)

– परंपरागत पिटक संपदा से सुना सुनाया धर्म सिखाता है।

तो यहां भी पिटक का अर्थ उस शास्ता के धार्मिक वाङ्मय से ही है।

इसी प्रकार चङ्कीसुत्त में कापथिक माणवक ने जब यह कहा कि –

ब्राह्मणानं पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय...। (म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त)

यह ब्राह्मणों के पुरातन मंत्रपद की परम्परागत पिटक सम्पदा से है....

तो स्पष्ट ही उसका भी अभिप्राय ब्राह्मण परंपरा के धार्मिक वाङ्मय से ही था।

अतः प्रस्तुत संदर्भ में पिटक का अर्थ टोकरी न करके 'धार्मिक वाङ्मय' करना अधिक उपयुक्त है।

क्या है तिपिटक?

भगवान के जीवनकाल में समग्र बुद्धवाणी इन नौ भागों में विभाजित की गयी थी –

सुत्तं, गेय्यं, वेय्याकरणं, गाथा, उदानं, इतिवुत्तकं, जातकं, अब्भुतधम्मं, वेदल्लं।

(अ० नि० १.४.६, अप्पस्सुतसुत्त)

संभवतः इन्हीं को भगवान ने धम्म, विनय और मातिका कहा और आगे चल कर संभवतः ये ही सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक के नाम से संपादित एवं संगृहीत हुए।

'ये तीनों संग्रह तीन पेटियों या टोकरियों में अलग-अलग रखे जाते थे इसलिए **तिपिटक** कहलाये' – यह कथन युक्तियुक्त नहीं लगता। एक तो उन दिनों लेखन-कला का आविष्कार हो जाने पर भी वह बहुत श्रमसाध्य थी, दूसरे एक-एक विभाग का साहित्य इतना विशद था कि उसे पूर्णतया ताड़पत्रों या भोजपत्रों पर लिख कर एक-एक टोकरी में रखा जाना अव्यावहारिक लगता है। उन दिनों सभी परंपराओं के धार्मिक वाङ्मय श्रुति और स्मृति के आधार पर ही अक्षुण्ण रखे जाते थे। तब यही प्रथा थी। इसलिए लिखित धर्मवाणी के तीन विभागों को सुरक्षित रखने वाली तीन पेटियों या पिटकों को तिपिटक कहना समीचीन नहीं लगता।

वस्तुतः धर्मवाणी को इन तीन विभागों में पाल कर, सँभाल कर रखने वाला संपूर्ण साहित्य ही **तिपिटक** कहलाया। यह साहित्य तत्कालीन उत्तर भारत की प्राकृतिक जन-भाषा में है। इस भाषा ने इसे पाल कर, सँभाल कर रखा, अतः वह **पालि** कहलायी। यों दोनों मिलकर **तिपिटक-पालि** कहलाये।

यद्यपि किसी भी परंपरा के धार्मिक वाङ्मय को पिटक कहा जाता था, परंतु कालांतर में पिटक या तिपिटक बुद्ध-वचनों के अर्थ में ही रूढ़ हो गया। भिक्षु महेंद्र जब अपने साथियों सहित श्रीलंका गये, तो उसका वर्णन करते हुए कहा गया –

विनयं ते वाचयिंसु, पिटकं तम्बपण्णिया। (परि० ३, कत्थपञ्ञत्तिवार)

– ताम्रपर्णी में उन्होंने विनयपिटक का वाचन किया।

तिपिटक में मुख्यतया भगवान बुद्ध की धर्मवाणी संगृहीत है, जो साधारणतया मानव-मात्र के लिए और विशेषतया विपश्यी साधकों के लिए प्रभूत पावन प्रेरणा और महामांगलिक मार्गदर्शन लिए हुए है। संपूर्ण तिपिटक में ८४,००० धर्म शिक्षापद (धर्मस्कंध) हैं, जिनमें ८२,००० भगवान बुद्ध के और २,००० उन भिक्षुओं के हैं, जो भगवान के परम शिष्य थे।

महास्थविर आनंद ने कहा है –

द्वासीति बुद्धतो गण्हिं, द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।
चतुरासीतिसहस्सानि, ये मे धम्मा पवत्तिनो॥ (थेरगा० १०२७, आनन्दत्थेरगाथा)

– मैंने ८२,००० उपदेश भगवान से ग्रहण किये हैं और २,००० भिक्षुओं से। इस प्रकार मुझे ८४,००० उपदेश याद हैं, जो मुझे धर्म की ओर प्रवृत्त करते हैं।

भिक्षुओं की वाणी में भी भगवान की वाणी ही समायी हुई है। उन्होंने जो कुछ कहा, भगवान से सीखकर ही कहा। इस विषय में आयुष्मान उत्तर का कथन है –

एवमेवं खो, देवानमिन्द, यं किञ्चि सुभासितं सब्बं तं तस्स भगवतो वचनं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। ततो उपादायुपादाय मयञ्चञ्ञे च भणामाति। (अ० नि० ३.८.८, उत्तरविपत्तिसुत्त)

– हे देवेंद्र, जो सुभाषित हैं, वे सब उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध के हैं। उन्हीं से ले-लेकर हम तथा अन्य बोलते हैं।

उन्होंने जो कुछ भगवान से सुना, सीखा और अपने अनुभव पर उतारा, वही कहा। जिस प्रकार भगवान तथागत **'यथा वादी तथा कारी'** थे, वैसे ही उनके ये प्रबुद्ध शिष्य भी थे।

यथा वादी तथा कारी, अहु बुद्धस्स सावको। (सु० नि० ३५९, निग्रोधकप्पसुत्त)

जो बुद्ध का स्रावक शिष्य है वह वही करता है जो बोलता है।

इसलिए इन संतों की वाणी भी बुद्ध-वाणी के सदृश ही अत्यंत गरिमामयी है। स्वयं अनुभूत सत्य वाणी है। अतः सारे तिपिटक को बुद्ध-वाणी कहना समीचीन ही है।

तिपिटक का संपादन संगायन

तथागत द्वारा उपदेशित सद्धर्म को शुद्ध रूप में चिरस्थायी रखने के लिए स्वयं तथागत ने यह आदेश दिया था –

... ये वो मया धम्मा अभिञ्ञा देसिता, तत्थ सब्बेहेव सङ्गम्म समागम्म, अत्थेन अत्थं ब्यञ्जनेन ब्यञ्जनं सङ्गायितब्बं, न विवदितब्बं, यथयिदं ब्रह्मचरियं अद्धनियं अस्स चिरट्ठितिकं...। (दी० नि० ३.१७७, पासादिकसुत्त)

– ... जिन धर्मों को मैंने स्वयं अभिज्ञात करके तुम्हें उपदेशित किया है, तुम सब मिल-जुल कर बिना विवाद किये अर्थ और व्यंजन सहित उनका संगायन करो जिससे कि यह धर्माचरण चिरस्थायी हो...।

अतः भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात देर-सबेर बुद्ध-वाणी का संपादन, संगायन तो होता ही परंतु उसे इतना शीघ्र आयोजित किये जाने का एक विशेष कारण उपस्थित हुआ।

वृद्धावस्था में प्रव्रजित हुए एक नये भिक्षु सुभद्र ने अपनी बाल-बुद्धि के कारण भगवान के महापरिनिर्वाण की सूचना पाने पर हर्ष प्रकट करते हुए यह घोर अमांगलिक घोषणा की –

सुमुत्ता मयं तेन महासमणेन, उपद्दुता च होम – 'इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पती'ति।

– हम बिल्कुल मुक्त हो गये उन महाश्रमण से। उनके ऐसे आदेशों से सदा पीड़ित रहा करते थे, कि 'यह उचित है, यह अनुचित है'।

इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम, तं करिस्साम, यं न इच्छिस्साम, न तं करिस्साम।

(दी० नि० २.२३२, महापरिनिब्बानसुत्त)

– अब हमारी जो इच्छा होगी वह करेंगे, जो इच्छा नहीं होगी, वह नहीं करेंगे।

कीचड़ में से कमल की भांति कभी-कभी घोर अमंगल में से भी महामंगल का प्रादुर्भाव हो जाता है। यही हुआ। सुदूरदर्शी महास्थविर महाकश्यप ने भिक्षु सुभद्र के इन अभद्र शब्दों को सुन कर तत्क्षण यह निर्णय किया कि लोक-कल्याणार्थ बुद्ध-वाणी को चिरकाल तक अविकल रूप में सुरक्षित रखने के लिए शीघ्र ही संगायन का आयोजन करना चाहिए। अन्यथा इस प्रकार के अपरिपक्व स्वार्थी लोग इसमें से अपनी अनचाही बातें निकाल देंगे और मनचाही जोड़ देंगे। इसलिए उन्होंने हम पर अनुकंपा करके पांच सौ सत्य-साक्षी महास्थविरों को एकत्र कर तीन महीने के भीतर ही राजगृह में प्रथम संगायन का आयोजन किया जिसमें सारी बुद्ध-वाणी अपने शुद्ध रूप में संपादित एवं संगृहीत की गयी।

इस कार्य में बहुत विलंब हो जाता तो कौन जाने इतने सत्य-साक्षी महास्थविर एक साथ जुट पाते या नहीं। इस हेतु इस अनार्य सुभद्र का आभार मानें कि उसके कारण इतनी शीघ्रता से प्रथम संगायन का आयोजन हुआ।

परंतु वास्तविक आभार मानें भगवान के उन परम मेधावी उपस्थाक याने सदा समीप रहने वाले निजी सेवक महास्थविर आनंद का जिन्होंने भगवान की सारी वाणी कंठस्थ कर ली थी और इस कारण अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका द्वारा संगायन को सफल बनाया। उनकी प्रशंसा में स्वयं भगवान ने कहा था –

आयस्मा आनन्दो अत्थकुसलो, धम्मकुसलो, ब्यञ्जनकुसलो, निरुत्तिकुसलो, पुब्बापरकुसलो।

(अ० नि० २.५.१६९, खिप्पनिसन्तिसुत्त)

– आयुष्मान आनंद अर्थकुशल है, धर्मकुशल है, व्यंजनकुशल है, निरुक्तिकुशल है, पूर्वापरकुशल है।

सेखो, भिक्खवे, आनन्दो, न च पनस्स सुलभरूपो समसमो पञ्ञाय। (अ० नि० १.३.७९, सीलब्बतसुत्त)

– भिक्षुओ, आनंद (यद्यपि) शैक्ष्य है, तो भी प्रज्ञा में उसकी बराबरी करने वाला सुलभ नहीं।

परंतु भगवान के महापरिनिर्वाण के पश्चात प्रथम संगायन का आरंभ होते-होते आनंद शैक्ष्य से अशैक्ष्य हो गए, स्रोतापन्न से अरहंत हो गए।

आनंद की यह प्रशस्ति कितनी सही है –

बहुस्सुतो धम्मधरो, कोसारक्खो महेसिनो।
चक्खु सब्बस्स लोकस्स, आनन्दो परिनिब्बुतो॥ (थेरगा० १०५०, आनन्दत्थेरगाथा)

– बहुश्रुत, धर्मधर, महर्षि के कोषरक्षक सारे संसार के चक्षु-समान हैं अरहंत आनंद।

और यह भी कि–

गतिमन्तो सतिमन्तो, धितिमन्तो च यो इसि।
सद्धम्मधारको थेरो, आनन्दो रतनाकरो॥ (थेरगा० १०५२, आनन्दत्थेरगाथा)

– गतिमान, स्मृतिमान, धृतिमान और सद्धर्म को धारण करने वाले भिक्षु आनंद (महा)स्थविर रत्नाकर हैं।

ऐसे सद्धर्मधारक आनंद का आभार मान कर हम आभार मानें पहले से छठे संगायन तक के उन सभी महास्थविरों का भी, जिन्होंने बुद्ध-वाणी को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के लिए उसका पुनः-पुनः संगायन किया।

आभार मानें उन महा-मेधावी तिपिटकधर महास्थविरों का भी, जिन्होंने भगवान के आदेशानुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तिपिटक के विशाल वाङ्मय को आदरणीय आनंद की भांति कंठस्थ रखने की स्वस्थ परंपरा कायम रखी। भगवान ने स्वयं बताया कि जिन कारणों से सद्धर्म कायम रहेगा और वह अंतर्धान नहीं होगा, उनमें से एक यह है–

ये ते भिक्खू बहुस्सुता आगतागमा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा, ते सक्कच्चं सुत्तन्तं परं वाचेन्ति।

– जो बहुश्रुत, परंपरागत आगम के जानकार, धर्मधर, विनयधर, मातिकाधर (यानी धर्म, विनय और मात्रिका को कंठस्थ कर रखने वाले) भिक्षु हैं, वे दूसरों को ठीक से सुत्त का अध्यापन कराते हैं।

तेसं अच्चयेन नच्छिन्नमूलको सुत्तन्तो होति सप्पटिसरणो। (अ० नि० १.४.१६०, सुगतविनयसुत्त)

– उनकी शरीर-च्युति हो जाने पर भी सूत्रों की परंपरा अविच्छिन्न रूप से स्थायी रहती है।

इसी कारण सद्धर्म अपने मूल रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रहा है। **चिरं तिट्ठतु सद्धम्मो** की इसी पावन परंपरा को पिछले दिनों तक ब्रह्मदेश के परम पूज्य तिपिटकधर धम्मभण्डागारिक मिंगोन महास्थविर भदंत विचित्तसाराभिवंस निभाते रहे हैं। इस स्वस्थ परंपरा को जीवित रखने के लिए आज की पीढ़ी के चार अन्य मेधावी भिक्षुओं ने भी तिपिटक कंठस्थ कर रखा है।

क्या है तिपिटक में?

आओ, संक्षेप में समझें कि क्या है भगवद्-वाणी में? क्या है तिपिटक में?

भगवद्-वाणी के समस्त नभोमंडल पर भगवान गौतम बुद्ध के महान व्यक्तित्व की सुधा-वर्षिणी घनी बदलियां छायी हुई हैं, जो शीतलता, शांति, स्वस्ति और मुक्ति प्रदायिनी हैं। इस वाङ्मय में हम भगवान बुद्ध की उस विशिष्ट सुषमामयी भौतिक रूप-काया का मनोहारी दर्शन करते हैं, जो इतनी आकर्षक थी कि हर किसी को चुंबक की तरह सहज ही अपनी ओर खींच लेती थी। परंतु उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी असीम, अद्भुत, आश्चर्यजनक और कल्याणकारिणी धर्मकाया, ब्रह्मकाया, बोधिकाया का दर्शन करते हैं, जो तिपिटक में अमूर्त रूप से सर्वत्र छायी हुई है।

भौतिक रूपकाया

भौतिक रूपकाया

उन दिनों के वैदिक साहित्य में महापुरुष के शरीर-लक्षण का एक अलग शास्त्र हुआ करता था, जो दुर्भाग्य से अब विलुप्त है। उस शास्त्र में लोकायत यानी ग्रह-नक्षत्र आदि सांसारिक बातों की जानकारी के साथ-साथ शरीर-लक्षण का विशद विवरण भी था, जिसमें विशेषकर महापुरुष के बत्तीस शारीरिक लक्षणों का स्पष्ट उल्लेख था। उन दिनों के ब्राह्मण आचार्य-प्राचार्य जिन विशिष्ट शास्त्रों में निपुण होते थे उनमें अपने शिष्यों को निपुण बना कर उनके अपनी ही तरह ज्ञानसंपन्न होने को इन शब्दों में स्वीकार करते थे– **यमहं जानामि तं त्वं जानासि, यं त्वं जानासि, तमहं जानामि** – जो मैं जानता हूं सो तू जानता है, जो तू जानता है सो मैं जानता हूं। ऐसा व्यक्ति– **अज्झायको, मन्तधरो, तिण्णं वेदानं पारगू, सनिघण्डु-केटुभानं साक्खरप्पभेदानं, इतिहासपञ्चमानं, पदको, वेय्याकरणो, लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो** (दी० नि० १.२५६, अम्बट्ठसुत्त) याने अध्यायक, मंत्रधर, तीनों वेदों में पारंगत, चौथे निघंटु-निरुक्ति-अक्षर-भेद-प्रभेद ज्ञान में कुशल और पांचवें इतिहास का जानकार तथा पदज्ञ (कवि), वैय्याकरण, लोकायत यानी सांसारिक विषयों का तथा महापुरुष-लक्षण-शास्त्र का पूर्ण मर्मज्ञ होता था। इस शास्त्र के अनुसार जिस व्यक्ति के शरीर में बत्तीस महापुरुष लक्षण हों, वह गृही रहने पर सागर-पर्यंत पृथ्वी का एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट होता और गृह-त्यागी होने पर परम विमुक्त अरहंत सम्यक संबुद्ध।

उन दिनों शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों में यह मान्यता बहुत प्रचलित थी। इसी कारण हम देखते हैं कि जब कभी कोई विद्वान ब्राह्मण, भगवान के बारे में फैला हुआ यह कल्याणमय कीर्ति-शब्द, **कल्याणो कित्तिसद्दो,** सुनता कि– **इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो...** तो स्वयं उनके पास जाता अथवा अपने किसी शास्त्रज्ञ शिष्य को भेजता, जिससे कि यह जांच हो सके कि गौतम वैसे ही हैं या वैसे नहीं हैं, जैसा कि उनका कीर्ति-शब्द फैला है– **यदि वा सो भवं गोतमो तादिसो, यदि वा न तादिसो**। (दी० नि० १.२५८, अम्बट्ठसुत्त) क्या वे सचमुच ऐसे हैं, अथवा नहीं है??

इस जांच पर जाने वाला व्यक्ति जब भगवान बुद्ध से मिलता तो पहले यही देखता कि उनके शरीर पर सभी शास्त्रोक्त चिह्न हैं या नहीं। ऐसी ही एक जांच के परिणामस्वरूप हमें इन बत्तीस लक्षणों का पूरा विवरण मिलता है, जबकि वयोवृद्ध ब्राह्मण नेता ब्रह्मायु ने अपने विद्वान पट्ट-शिष्य युवा उत्तरमाणवक को भगवान के बारे में फैली हुई कीर्ति का स्वयं निरीक्षण-परीक्षण करने के लिए भेजा। शरीर के ये बत्तीस लक्षण उनके व्यक्तित्व को औरों से अलग एक भव्य विशिष्टता प्रदान करते थे।

बत्तीस लक्षण ये हैं;–

(१) **सुप्पतिट्ठितपादो** (सुप्रतिष्ठित पाद) – पांव के तलवे समतल होते हैं। उनमें खड्डे नहीं होते और इस कारण पांव जमीन पर समतल पड़ते हैं।

(२) **पादतलेसु चक्कानि जातानि सहस्सारानि सनेमिकानि सनाभिकानि सब्बाकारपरिपूरानि** (चक्र वरंकित) – पैरों के दोनों तलवों में चक्र अंकित होते हैं, जो नाभि, नेमि तथा सहस्र आरों से सर्वाकार परिपूर्ण होते हैं।

(३) **आयतपण्हि** (आयत-पार्ष्णि) – पांव की एड़ियां सामान्य जन की एड़ियों की तुलना में अधिक लंबी और चौड़ी होती हैं।

(४) **दीघङ्गुलि** (दीर्घ अंगुल) – हाथों और पांवों की अँगुलियां लंबी होती हैं।

(५) **मुदुतलुनहत्थपादो** (मृदु तरुण हस्त-पाद) – हाथ और पांव रूखे और कड़े नहीं बल्कि मृदुल और तरुण होते हैं।

(६) **जालहत्थपादो** (जाल हस्त-पाद) – हाथ और पांव की अँगुलियों के बीच थोड़ी सी दूर में ऐसी जालनुमा त्वचा होती है, जैसी कि हंस, बतख आदि के पंजों में होती है, जिससे दो अँगुलियों के बीच कोई विवर नहीं रहता।

(७) **उस्सङ्खपादो** (उस्संख पाद) – पांव के टखने यानी गुल्फ सामान्य जन के टखनों की तुलना में जरा ऊपर की ओर स्थित होते हैं।

(८) **एणिजङ्घो** (एणी जंघ) – एणी जाति के मृग की सी सुंदर जांघें होती हैं।

(९) **परिमसति परिमज्जति** (आजानुबाहु) – इतनी लंबी भुजाएं कि सीधे खड़े होने पर जरा भी झुके बिना हथेलियों से अपने घुटनों को थपथपा सकें, मसल सकें, यानी घुटनों तक की लंबी भुजाएं होती हैं।

(१०) **कोसोहितवत्थगुय्हो** (कोषाच्छादित वस्तिगुह्य) – पुरुषेन्द्रिय त्वचा-कोष में गुप्त, गुंफित रहता है।

(११) **सुवण्णवण्णो** (सुवर्ण वर्ण) – त्वचा कंचनवर्णी होती है।

(१२) **सुखुमच्छवि** (सूक्ष्म-छवि) – शरीर की चमड़ी पर एक सूक्ष्म त्वचा मढ़ी होती है, जिस पर धूल आदि नहीं सटती।

(१३) **एकेकलोमो** (एकैक लोम) – प्रत्येक लोम-कूप में एक-एक लोम होता है।

(१४) **उद्धग्गलोमो** (ऊर्ध्वाग्र लोम) – सभी लोम बाएं से दाहिनी ओर कुंडलित होते हैं और उनके सिरे ऊपर की ओर स्थित होते हैं।

(१५) **ब्रह्मुजुगत्तो** (ब्राह्मऋजु-गात्र) – शरीर लंबा और सीधा होता है जिसके कारण लोग उन्हें **ब्रह्म उजु** कहते हैं।

(१६) **सत्तुस्सदो** (सप्त उत्सद) – दोनों हाथ, दोनों पांव, सामने और पीछे की धड़ और चेहरे सहित मस्तिष्क – शरीर के ये सातों अंग विशाल और पूर्ण आकार वाले होते हैं।

(१७) **सीहपुब्बद्धकायो** (सिंह-पूर्वार्द्ध-काय) – छाती सहित काया का ऊपरी भाग सिंह का सा होता है।

(१८) **चितन्तरंसो** (चितांतरांस) – दोनों कंधों के बीच का भाग भरा-पूरा होता है।

(१९) **निग्रोधपरिमण्डलो** (न्यग्रोध परिमंडल) – न्यग्रोध वृक्ष जितना ऊंचाई में बढ़ता है, ठीक उतना ही चौड़ाई में फैलता है। इसी प्रकार खड़े होकर दोनों लंबे हाथों को दोनों ओर फैला देने से जितना व्याम यानी शरीर की चौड़ाई का माप बनता है, उतना ही सिर से पांव तक की ऊंचाई का माप होता है।

(२०) **समवट्टक्खन्धो** (समवर्त स्कंध) – समान गोलाकार कंधे होते हैं।

(२१) **रसग्गसग्गी** (रस रसाग्रि) – समस्त रसों का पूर्णतः आस्वादन करने वाली जीभ तथा उससे जुड़ी हुई गले तक उभरी हुई एक नस होती है।

(२२) **सीहहनु** (सिंह हनु) – सिंह की सी सुंदर, चौड़ी ठोड़ी होती है।

(२३) **चत्तालीसदन्तो** (चत्तालीस दंत) – चालीस दांतों से भरा-पूरा भव्य चेहरा होता है।

(२४) **समदन्तो** (समदंत) – दांत आगे-पीछे न होकर समान पंक्तिबद्ध होते हैं।

(२५) **अविरळदन्तो** (अविवर दन्त) – दांतों के बीच विवर अर्थात छेद नहीं होते हैं।

(२६) **सुसुक्कदाठो** (सुशुक्ल दाढ़) – दाढ़(दांत) अत्यंत शुक्ल होते हैं।

(२७) **पहूतजिव्हो** (प्रभूत जिव्हा) – बहुत लंबी जीभ होती है।

(२८) **ब्रह्मस्सरो** (ब्रह्म स्वर) – करविंक पक्षी (कोयल) के स्वर के समान निन्नादी ब्रह्म-स्वर होता है।

(२९) **अभिनीलनेत्तो** (अभिनील नेत्र) – अलसी के फूल जैसी सुंदर नीली आंखें होती हैं।

(३०) **गोपखुमो** (गो-पक्ष्म) – गाय की सी बड़ी-बड़ी सुंदर बरौनियां (पलकों के बाल) होती हैं।

(३१) **ओदाता उण्णा** (श्वेत ऊर्णा) – **उण्णा भमुकन्तरे जाता ओदाता मुदुतूलसन्निभा** – दोनों भौहों के बीच श्वेत, सुंदर, कोमल वर्तुलाकार रोमावली होती है।

(३२) **उण्हीससीसो** (उष्णीष शीर्ष) – सिर के ऊपर बीचोबीच उठा हुआ एक उपशीष होता है, मानो सिर पर एक जटामुकुटनुमा पगड़ी बँधी हो। इस एक चिह्न के कारण आज भी कोई बुद्ध मूर्ति अन्य ध्यानावस्थित मूर्तियों से स्पष्टतया भिन्न दीखती है।

(म० नि० २.३८६, ब्रह्मायुसुत्त)

इनमें से कुछ एक शरीर लक्षण स्पष्ट देखे जा सकते थे और अत्यंत भव्य तथा दर्शनीय होने के कारण किसी भी सामान्य व्यक्ति को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे।

बुद्ध दुर्लभ

उन दिनों किसी के शरीर पर संपूर्ण बत्तीस महापुरुष लक्षण किसी ने नहीं देखे थे। उनका उल्लेख केवल शास्त्रों में ही था। बावरी ब्राह्मण जैसे किसी एक व्यक्ति के शरीर पर तीन लक्षण भले हों – **तीणिस्स लक्खणा गत्ते** – (सु० नि० १०२५, पारायणवग्ग, वत्थुगाथा), परंतु बत्तीस लक्षणों वाले व्यक्ति को लोगों ने न कभी देखा था, न उनके बारे में सुना था। ऐसे बत्तीस महापुरुष लक्षणों वाला कोई व्यक्ति हो और वह भी एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट न होकर गृह-त्यागी सम्यक संबुद्ध हो, यह बहुत दुर्लभ बात थी। जो व्यक्ति अनगिनत कल्पों के असंख्य जन्मों में आत्महित और परहित में संलग्न रहता हुआ अपनी सभी पारमिताएं परिपूर्ण कर लेता है, तब अपने अंतिम जन्म में सम्यक संबुद्ध बनता है। सचमुच यह बड़ी दुर्लभ बात है।

इसी कारण स्थान-स्थान पर हम ऐसे वक्तव्य देखते हैं –

तथागतस्स अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स, इमस्स खो, भिक्खवे, एकपुग्गलस्स पातुभावो दुल्लभो लोकस्मिं;

(अ० नि० १.१.१७१, एकपुग्गलवग्ग)

– जो तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध हो, ऐसे एक व्यक्ति का लोक में प्रादुर्भाव दुर्लभ है;

सम्मासम्बुद्धस्स पातुभावो दुल्लभो लोकस्मिं ; (अ० नि० २.५.१९५, पिङ्गियानीसुत्त)

– संसार में सम्यक संबुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है;

किच्छो बुद्धानमुप्पादो – बुद्धों का उत्पन्न होना कठिन है; (ध० प० १८२, बुद्धवग्ग)

दुल्लभो पुरिसाजञ्ञो – उत्तम पुरुष दुर्लभ हैं; (ध० प० १९३, बुद्धवग्ग)

यानी बुद्ध उत्पाद दुर्लभ है।

बुद्धो लोकम्हि उप्पन्नो, मनुस्सत्तम्पि दुल्लभं।
उभोसु विज्जमानेसु, सवनञ्च सुदुल्लभं॥ (अप० थेर २.४९.१७, बुद्धसञ्ञकत्थेरअपदान)

– संसार में बुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है। प्राणी का मनुष्य योनि में जन्म दुर्लभ है। ये दोनों विद्यमान हों तो बुद्ध द्वारा उपदेशित धर्म का श्रवण दुर्लभ है।

हम देखते हैं कि यह मान्यता उस समय के ब्राह्मणों में इतनी अधिक प्रचलित थी कि जब कोई विद्वान ब्राह्मण बुद्ध के उत्पन्न होने की बात सुनता था तो उसे एकाएक विश्वास नहीं होता था। परंतु जब स्वयं जाकर या अपने किसी शिष्य को भेज कर जांच करवाता था तो सच्चाई देख कर बड़ा प्रभावित हो जाता था। केवल एक दो नहीं, ऐसे अनेक ऐतिहासिक प्रसंग हमारे सामने आते हैं।

ब्राह्मण बावरी

कोशलनरेश का पूर्व पुरोहित, सौ वर्ष का वयोवृद्ध बहुश्रुत ब्राह्मण बावरी दक्षिण में गोदावरी के तट पर आश्रम बना कर रहता था। जब उसने यह सुना कि लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं, तो धर्म संवेग के कारण उत्साहित हो उठा। स्वयं यात्रा के लिए असमर्थ था, अतः अपने सोलह प्रमुख शिष्यों को श्रावस्ती भेजते हुए उसने आदेश दिया –

यस्सेसो दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
स्वाज्ज लोकम्हि उप्पन्नो, सम्बुद्धो इति विस्सुतो।
खिप्पं गन्त्वान सावत्थिं, पस्सव्हो द्विपदुत्तमं॥(सु० नि० १००४, पारायनवग्ग, वत्थुगाथा)

– संसार में जिनका प्रादुर्भाव सदा दुर्लभ है, संबुद्ध नाम से विश्रुत वे इस समय संसार में उत्पन्न हुए हैं। शीघ्र श्रावस्ती जाकर उन मानव-श्रेष्ठ का दर्शन करो।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उसने अपने जिन सोलह परिपक्व शिष्यों को भेजा, उनमें से प्रत्येक स्वयं विश्व-विश्रुत गणी आचार्य था –

पच्चेकगणिनो सब्बे, सब्बलोकस्स विस्सुता। (सु० नि० १०१५, पारायनवग्ग, वत्थुगाथा)

वे सब लंबी यात्रा करके भगवान के पास पहुँचे। पहले उन्होंने उनके बत्तीस महापुरुष लक्षणों को जांचा और फिर उनकी संबोधि जांचने के लिए उन्होंने धर्म संबंधी गंभीर प्रश्न किये और उनके उत्तर सुन कर वे पूर्ण आश्वस्त हुए।

ब्राह्मण सेल

हम देखते हैं कि कुछ एक अन्य श्रमण भी अपने आपको बुद्ध घोषित करने में गौरव महसूस करते थे। सचमुच उन दिनों बुद्ध शब्द अत्यंत गौरव-गरिमा का प्रतीक था। लेकिन यह भी सच है कि अपने आपको बुद्ध घोषित करने वाले ऐसे लोग बहुत कम थे। इसलिए बहुत से लोगों ने यह सुना भी नहीं कि संसार में कोई बुद्ध उत्पन्न हुआ है। तभी कुछ लोग बुद्ध का नाम सुनते ही अत्यंत आश्चर्य-चकित हो उठते थे।

उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण सेल और जटिल केणिय के वार्त्तालाप का एक प्रसंग हमारे सामने आता है। ब्राह्मण सेल अपने मित्र जटिल केणिय से मिलने आया है। वह देखता है कि केणिय के सभी शिष्य-सेवक, संगी-साथी बृहद भोज की तैयारी में लगे हैं। कारण पूछने पर केणिय जटिल कहता है – "मैंने कल के भोजन के लिए साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ भगवान बुद्ध को आमंत्रित किया है।"

यह सुन कर आश्चर्य-चकित हो ब्राह्मण सेल पूछता है –

बुद्धोति, भो केणिय, वदेसि – हे केणिय, क्या तू बुद्ध कहता है?

बुद्धोति, भो सेल, वदामि – हां, सेल, मैं बुद्ध कहता हूं।

ब्राह्मण सेल को विश्वास नहीं हो रहा है। अतः वह अपना प्रश्न दोहराता है –

बुद्धोति, भो केणिय, वदेसि – हे केणिय, क्या तू बुद्ध कहता है?

उसे फिर वही उत्तर मिलता है –

बुद्धोति, भो सेल, वदामि – हां, सेल, मैं बुद्ध कहता हूं।

तीसरी बार भी यही उत्तर सुन कर ब्राह्मण सेल के मन में यह विचार उठता है –

घोसोपि खो एसो दुल्लभो लोकस्मिं यदिदं बुद्धोति। (सु० नि०, सेलसुत्त)

– संसार में बुद्ध शब्द का घोष भी सुन पाना दुर्लभ है।

बुद्धो बुद्धोति सुत्वान, पीति मे उदपज्जथ। (अप० थेर १.४०.२६१, सेलत्थेरअपदान)

– 'बुद्ध', 'बुद्ध' ये शब्द सुन कर मेरे भीतर प्रीति-प्रमोद उत्पन्न हो गया है।

परंतु क्या यह व्यक्ति सचमुच बुद्ध है? सचमुच बत्तीस महापुरुषलक्षणधारी है? इसे जांचने के लिए वह स्वयं भगवान से मिलने जाता है।

उनके शरीर पर स्थित सभी महापुरुष लक्षणों को स्वयं जांचता है। साथ ही वह भगवान के रूप-माधुर्य से भी बहुत प्रभावित होता है और उनकी शिक्षा ग्रहण करने के पूर्व ही भावविभोर होकर उनकी प्रशंसा में जो कुछ कहता है वह ध्यान देने योग्य है –

परिपुण्णकायो सुरुचि, सुजातो चारुदस्सनो।
सुवण्णवण्णोसि भगवा, सुसुक्कदाठोसि विरियवा॥ (सु० नि० ५५३, सेलसुत्त)

– आप परिपूर्ण शरीर वाले हैं, सुरुचि हैं, सुजात हैं, चारुदर्शन हैं। आप सुवर्णवर्ण हैं, अत्यंत उज्ज्वल दांत हैं आपके, आप वीर्यवान हैं।

पसन्ननेत्तो सुमुखो, ब्रहा उजु पतापवा। (सु० नि० ५५५, सेलसुत्त)

– आप निर्मल नेत्र वाले हैं, सुमुख हैं, दीर्घ और ऋजु शरीरधारी हैं, प्रतापवान हैं।

ऐसा अनुपम शरीर-सौंदर्य देख कर और महापुरुषों के सभी लक्षण देख कर वह भगवान को एकछत्र चक्रवर्ती सम्राट होने का सुझाव देता है, मानो भगवान की संबोधि जांच रहा हो। उस प्रस्ताव को ठुकराते हुए भगवान उसे अपना संदेह मिटाने के लिए कहते हैं –

विनयस्सु मयि कङ्खं, अधिमुच्चस्सु ब्राह्मण।
दुल्लभं दस्सनं होति, सम्बुद्धानं अभिण्हसो॥ (सु० नि० ५६४, सेलसुत्त)

– हे ब्राह्मण, मेरे बारे में शंका-संदेह दूर कर, श्रद्धा जगा। सम्यक संबुद्धों के दर्शन सदा दुर्लभ होते हैं।

येसं वे दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
सोहं ब्राह्मण सम्बुद्धो, सल्लकत्तो अनुत्तरो॥ (सु० नि० ५६५, सेलसुत्त)

– हे ब्राह्मण, संसार में जिनका प्रादुर्भाव सदा दुर्लभ है, मैं वह अनुत्तर शल्यकर्ता सम्यक संबुद्ध हूं।

अंततः पूर्ण आश्वस्त होकर अपने तीन सौ शिष्यों सहित सेल ब्राह्मण भगवान से प्रव्रज्या ग्रहण करता है।

जब किसी को यह विश्वास हो जाता था कि महाश्रमण गौतम सचमुच सम्यक संबुद्ध हैं, तो उनका अनुगामी बनने में उसे हिचक नहीं होती थी; क्योंकि तब उसे यह भी खूब समझ में आ जाता था कि –

बहूनं वत अत्थाय, उप्पज्जन्ति तथागता। (थेरगा० १२६५, वङ्गीसत्थेरगाथा)

– बहुतों के हित के लिए, उनकी अर्थ-सिद्धि के लिए ही वस्तुतः बुद्ध उत्पन्न होते हैं।

इसीलिए कहा गया –

सुखो बुद्धानमुप्पादो – बुद्धों का उत्पन्न होना सुखदायी है। (ध० प० १९४, बुद्धवग्ग)

परिव्राजक सुभद्र

बुद्ध का उत्पन्न होना दुर्लभ है – यह मान्यता ब्राह्मणों के अतिरिक्त औरों में भी थी। हम परिव्राजक सुभद्र को यह कहते हुए देखते हैं –

सुतं खो पन मेतं परिब्बाजकानं वुड्ढानं महल्लकानं आचरियपाचरियानं भासमानानं – कदाचि करहचि तथागता लोके उप्पज्जन्ति अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा। (दी० नि० २.२१२, महापरिनिब्बानसुत्त)

– मैंने वयोवृद्ध महल्लक, परिव्राजक, आचार्य-प्राचार्यों को यह कहते सुना है कि कदाचित ही, कभी-कभी लोक में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न होते हैं।

अनाथपिंडिक

ब्राह्मण और परिव्राजक ही नहीं, समाज के अन्य वर्गों में भी बुद्ध की महानता और उनके उत्पाद की दुर्लभता बहुमान्य थी। इससे संबंधित धनी वैश्य वर्ग के प्रतिनिधि-स्वरूप श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के जीवन की एक घटना हमारे सामने है।

श्रावस्ती का श्रेष्ठि अनाथपिंडिक राजगृह के श्रेष्ठि का बहनोई था। उसका व्यवसाय दूर-दूर तक फैला हुआ था। वह बहुधा अपने व्यवसाय के सिलसिले में और कभी-कभी अन्य कारणों से राजगृह आया करता था। इस बार आया तो देखा कि उसका साला बहुत व्यस्त है, किसी बड़े भोज की तैयारी में लगा है, मानो उसके यहां कोई आवाह-विवाह हो या किसी महान यज्ञ का आयोजन हो अथवा महाराज बिंबिसार मेहमान बन कर आने वाले हों। पूछने पर अनाथपिंडिक को बताया गया कि ये तीनों बातें सच नहीं हैं। वस्तुतः कल उसके यहां विशाल भिक्षु संघ के साथ भगवान बुद्ध भोजन के लिए पधार रहे हैं।

संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं, यह सुनने मात्र से अनाथपिंडिक साश्चर्य प्रसन्नता से भर उठा।

घोसोपि खो एसो, गहपति, दुल्लभो लोकस्मिं यदिदं – बुद्धो, बुद्धो। (चूळव० ३०४, अनाथपिण्डिकवत्थु)

– हे गृहपति, संसार में 'बुद्ध', 'बुद्ध' यह शब्द तक सुनना दुर्लभ है।

और तुम कह रहे हो कि संसार में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं! वे कल तुम्हारे यहां भोजन के लिए पधार रहे हैं!

बुद्ध की उत्पत्ति सचमुच अत्यंत दुर्लभ होती है, सचमुच अत्यंत लोक हितकारिणी होती है। बहुतों के हित के लिए, सुख के लिए जो व्यक्ति अपनी सहज प्राप्य मुक्ति को त्यागता है और असंख्य कल्पों तक अनगिनत जन्मों में पारमिताएं पूरी करने का कष्ट सहन करता है, उसकी उत्पत्ति सचमुच दुर्लभ है; लोक-कल्याणकारिणी है; लोक-हर्षदायिनी है।

रूपकाया का सौंदर्य

यह सच है कि किसी सम्यक संबुद्ध की रूपकाया के दर्शन करने मात्र से, अथवा उनके अपूर्व सौंदर्य और महापुरुष लक्षणों की सराहना करने मात्र से सही लाभ नहीं मिलता। सही लाभ तो बुद्ध की शिक्षा ग्रहण करने से ही मिलता है। परंतु हम देखते हैं कि कुछ लोगों के लिए उनकी रूपकाया की सुंदरता ही प्रथम आकर्षण का कारण बनी। ऐसा एक उदाहरण है ऋषि कालदेवल का।

ऋषि कालदेवल

बुद्ध-वाणी का पारायण करते हुए हम देखते हैं कि पहला व्यक्ति जो नवजात शिशु बोधिसत्त्व की रूपकाया देख कर भाव-विभोर हुआ, वह था ब्राह्मण ऋषि कालदेवल। श्यामवर्णी होने के कारण वह कान्हदेवल तथा असितदेवल भी कहलाता था। वह तत्कालीन ब्राह्मण समाज में बहुत विख्यात और प्रतिष्ठित था। वह शाक्य तथा कोलिय राजघरानों का धर्मगुरु भी था। लेकिन उसकी अधिक रुचि ध्यान भावना में थी। उसने आठों ध्यान साध लिए थे और अभिज्ञाओं **(अभिञ्ञा)** की अनेक सिद्धियां प्राप्त कर ली थीं। एक बार देवलोक में देवों से संपर्क होने पर उसने देखा कि वहां बड़ी खुशियां मनायी जा रही हैं। पूछने पर पता चला कि मनुष्य लोक में उस बोधिसत्त्व का जन्म हुआ है, जिसने अपनी सारी पारमिताएं पूरी कर ली हैं और यह उसका अंतिम जन्म है। यही बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि प्राप्त करेगा और फिर अनुत्तर धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा, जिससे अनेक देव मनुष्यों का हित सधेगा। उसे यह जान कर विशेष प्रसन्नता हुई कि यह बोधिसत्त्व उसके यजमान महाराज शुद्धोदन के घर महारानी महामाया की कोख से जन्मा है। वह तत्काल

शुद्धोदन के यहां पहुँचा। वहां उसने नवजात शिशु को देखा जो अत्यंत सुंदर और तेजस्वी था। उसके शरीर-सौंदर्य का वर्णन कालदेवल ने इन शब्दों में किया –

अनोमवण्णं – यह श्रेष्ठ वर्ण वाला है,

सिखिमिव पज्जलन्तं – अग्निशिखा सदृश प्रज्वलित है,

सुवण्णनिक्खं विय पण्डुकम्बले – जैसे पीले कंबल पर रखी स्वर्ण मुद्रा हो।

ऋषि कालदेवल ने शिशु बोधिसत्त्व के सुंदर शरीर पर महापुरुषों के लक्षणों को देखा और अत्यंत भावविभोर होकर उसने यह भविष्यवाणी की –

अनुत्तरायं द्विपदानमुत्तमो – यह द्विपदों में अर्थात मनुष्यों में उत्तम पुरुष है और अनुत्तर है, यानी सर्वश्रेष्ठ है और इस कारण –

सम्बोधियग्गं फुसिस्सतायं कुमारो, सो धम्मचक्कं परमविसुद्धदस्सी।
वत्तेस्सतायं बहुजनहितानुकम्पी, वित्थारिकस्स भविस्सति ब्रह्मचरियं॥

(सु० नि० ६९१, ६९२, ६९४, ६९५, ६९८, नालकसुत्त)

– यह कुमार परम विशुद्ध निर्वाणदर्शी होकर संबोधि प्राप्त करेगा। बहुजनों के हित के लिए अनुकंपा करता हुआ धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा और इसकी शिक्षा यानी **ब्रह्मचरिया, धम्मचरिया** दूर-दूर तक फैलेगी। (यह भविष्यवाणी कितनी सत्य सिद्ध हुई!)

वह इस प्रकार भगवान की रूपकाया से आनंदित हुआ, परंतु अपनी बहुत कम बची हुई आयु देख कर दुःखी भी हुआ क्योंकि जब तक यह बालक सम्यक संबुद्ध बनेगा तब तक वह स्वयं मृत हो चुका होगा। अतः स्पष्ट था कि वह भगवान की धर्मकाया से लाभान्वित नहीं हो पायेगा। इसलिए उसने अपने भानजे नालक को प्रेरित किया और कहा कि यह बालक बड़ा होकर जब सम्यक संबुद्ध बने, तब उससे धर्म सीख कर जन्म-मरण से मुक्ति प्राप्त कर लेने का अवसर न चूके। नालक ने आगे चल कर यही किया। बुद्ध की धर्मकाया का लाभ ऋषि देवल को नहीं मिला, परंतु उसके भानजे नालक को मिला।

आठ ब्राह्मण ज्योतिषाचार्य

तत्पश्चात पिता शुद्धोदन के निमंत्रण पर आये हुए उस समय के आठ प्रसिद्ध ब्राह्मण ज्योतिषाचार्यों ने शास्त्रों के आधार पर बालक का भविष्य बतलाया। सबने बालक के शरीर पर बत्तीस महापुरुष लक्षण देखे। यह देख कर उनमें से सात ने यह भविष्यवाणी की कि बड़ा होकर यदि यह गृही रहा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृह-त्यागी हुआ तो सम्यक संबुद्ध बनेगा।

क्योंकि ऐसे शरीर-लक्षण वाले की –

द्वेयेव तस्स गतियो, ततिया हि न विज्जति (सु० नि० १००७, वत्थुगाथा, पारायनवग्ग)

– दो ही गतियां होती हैं, तीसरी नहीं।

ब्राह्मण कौंडन्य जो उन ज्योतिषाचार्यों में सबसे कम आयु का था, उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि यह बालक विवृत-कपाट सम्यक संबुद्ध ही होगा। बालक की सुलक्षणी रूपकाया की अनोखी विशिष्टता से आठों

ब्राह्मण प्रभावित हुए, पर भाग्यशाली अकेला कौंडन्य निकला जिसने आगे चल कर अपने चार अन्य साथियों सहित भगवान के धर्मचक्र प्रवर्तन का उपदेश सुना और उनकी धर्मकाया के दर्शन करता हुआ मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हुआ।

किसा गोतमी

महापुरुष के इन बत्तीस लक्षणों के अतिरिक्त बोधिसत्त्व राजकुमार सिद्धार्थ गौतम का सामान्य शरीर-सौंदर्य इतना चित्ताकर्षक था कि लोगों को चुंबक की तरह अपनी ओर खींच लेता था। शाक्य वनिता किसा गोतमी भी उनके रूप-सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो गयी थी।

बोधिसत्त्व राजकुमार ने जिस रात गृह त्याग कर महाभिनिष्क्रमण किया, उसके पूर्व संध्या के समय वे रथ-यात्रा पर निकले थे। अपने मकान के छज्जे पर खड़ी शाक्य वनिता किसा गोतमी [चुटकी भर सरसों वाली नहीं] ने उनका रूप-सौंदर्य देखा तो मोह-मुग्ध हो उठी और बरबस उसके मुँह से ये प्रशंसा-भरे शब्द निकल पड़े –

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ईदिसो पतीति॥

(जा० अट्ठ० १, निदानकथा, अविदूरेनिदानकथा)

– उस माता की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, उस पिता की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ; उस पत्नी की सारी कामनाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पति मिला।

केवल रूपकाया के सौंदर्य दर्शन से ही संतुष्ट हुई किसा गोतमी बुद्धत्व प्राप्ति के पश्चात उत्पन्न हुई धर्मकाया के दर्शन से वंचित ही रह गयी।

महाराज बिंबिसार

ऐसा ही एक और दृश्य हमारे सामने आता है –

गृह त्याग कर सत्य की खोज में निकले हुए राजयोगी बोधिसत्त्व राजगृह के राजमार्ग पर से गुजर रहे हैं। मगधनरेश बिंबिसार की नजर उन पर पड़ती है। फटे चीथड़ों से बना चीवर उनके शरीर-सौंदर्य और चाल-ढाल को नहीं छिपा पाता है। बिंबिसार देखता है, यह प्रतिभाशाली व्यक्ति **अभिरूपो ब्रहा सुचि** हैं, यानी अत्यंत सुंदर हैं, दीर्घकाय हैं, पवित्र हैं। उनके बारे में कुछ और जानने के लिए वह स्वयं उनसे मिलने के लिए जाता है और मिल कर कहता है –

वण्णारोहेन सम्पन्नो, जातिमा विय खत्तियो। (सु० नि० ४२२, पब्बज्जासुत्त)

– विपुल सौंदर्य संपन्न हो, मानो क्षत्रिय कुल के हो।

बोधिसत्त्व के रूप-सौंदर्य से आकर्षित हुआ बिंबिसार उन्हें अपने राज्य की भोग संपदा का एक भाग देने को तत्पर हो जाता है, ताकि वे भिक्षु जीवन त्याग कर पुनः गृही हो जायँ। लेकिन परमसत्य-गवेषी

बोधिसत्त्व इसे अस्वीकार करते हैं। इस पर बिंबिसार उनसे प्रार्थना करता है कि बुद्धत्व प्राप्त होने पर धर्मज्ञान देने के लिए वे उसके राज्य में अवश्य आएं।

बोधि-सत्त्व ने इसे स्वीकार किया और कालांतर में अपना वचन निभाया। इस प्रकार महाराज बिंबिसार पहले रूपकाया से प्रभावित हुआ और फिर भाग्यशाली होने के कारण धर्मकाया के संपर्क में आकर धर्मलाभी हुआ।

आजीवक उपक

भव्य रूपकाया के दर्शन की हम एक और घटना देखते हैं –

बोधिसत्त्व ने बोधि-वृक्ष तले सम्यक संबोधि प्राप्त कर ली है। वे तदनंतर सात सप्ताह वहीं अथवा उसके इर्द-गिर्द विमुक्तिसुख में बिताते हैं। इसके बाद ऋषिपत्तन मृगदाय में धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए वाराणसी की ओर चल पड़ते हैं।

मार्ग में आजीवक संप्रदाय का उपक नामक नग्न साधु उन्हें देखता है। उनकी त्वचा का स्वर्ण-वर्ण संबोधि के तेज से और अधिक तप्त हो उठा है। चेहरे पर अपूर्व शांति और कांति विराज रही है। इसे देख कर आजीवक उपक बहुत प्रभावित हो कर कहता है –

विप्पसन्नानि खो ते, आवुसो, इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो। (म० नि० १.२८५, पासरासिसुत्त)

– आवुस, तेरी इंद्रियां विमल हैं, प्रसन्न हैं। तेरे चेहरे की कांति परिशुद्ध है, उज्ज्वल है।

इसके उत्तर में भगवान के स्वयंभू जिन होने की बात सुन कर उपक अविश्वास के भाव में कहता है – 'होगा भाई!' और मुँह मोड़ कर, मार्ग छोड़ कुमार्ग की ओर चल देता है। भगवान की रूपकाया से आकर्षित होकर भी वह उस समय उनकी धर्मकाया नहीं देख पाता है, न उससे लाभान्वित हो पाता है।

वह सचमुच कुमार्ग पर ही चला गया। मार्ग छोड़ कर वन-प्रदेश की पगडंडी पर जाते हुए किसी शिकारी की युवा लड़की के संपर्क में आया और गृहत्यागी का जीवन छोड़, गृहस्थ हो कर उसके साथ रहने लगा। उससे एक संतान भी हुई, परंतु वहां से शीघ्र ही उकता कर भाग चला और भटकते-भटकते भगवान की ही शरण पहुँचा। उसी समय भगवान की धर्मकाया से उसका संपर्क हुआ, उसे धर्म प्राप्त हुआ और सुमार्ग पर चल कर वह मुक्ति की ओर बढ़ चला।

राहुल और राहुल-माता

भगवान की सुंदर काया से संबंधित हम एक अन्य प्रसंग देखते हैं –

बुद्धत्व प्राप्ति के उपरांत पिता महाराज शुद्धोदन के प्रबल आग्रह पर बृहद भिक्षु-संघ के साथ भगवान कपिलवस्तु आये हैं। जब राजधानी के राजमार्ग पर भिक्षाटन के लिए निकलते हैं तो माता यशोधरा पुत्र राहुल को उसके अनदेखे पिता का प्रथम दर्शन कराते हुए, उनके रूप-सौंदर्य का बखान करती है और इस प्रकार उनका परिचय देती है –

लक्खणचित्तितपुण्णसरीरो – जिनका सकल शरीर महापुरुष के लक्षणों से परिपूर्ण है,

चक्कवरङ्कितरत्तसुपादो – जिनके रक्त-वर्ण चरण श्रेष्ठ चक्र-चिह्न से भली प्रकार अंकित हैं,

अञ्जनवण्णसुनीलसुकेसो – जिनके (मुंडित सिर पर उगे नन्हें नन्हें) केश सुरमे के समान सुनील वर्ण हैं,

कञ्चनपट्टविसुद्धललाटो – जिनका ललाट विशुद्ध कंचन की भांति दीप्त है, आदि-आदि।

एसहि तुम्ह पिता नरसीहो – ये जो नरों में सिंह जैसे दीखते हैं, यही तुम्हारे पिता हैं।

यों उसके पिता की देहकाया का परिचय देते हुए असीम पुण्यपारमिताओं की स्वामिनी राहुल-माता उनकी धर्मकाया का भी जरा-सा उल्लेख करती है–

सीलसमाधिपतिट्ठितचित्तो – शील और समाधि में इनका चित्त प्रतिष्ठित है। तथा –

लोकहिताय गतो नरवीरो – ये नरवीर लोकहित के लिए गृहत्यागी हुए हैं। (नरसीहगाथा)

पर नन्हा बालक इसे क्या समझे! वह तो शरीर की पहचान के सहारे ही अपने पिता के समीप जाता है और धर्मकाया के सान्निध्य में आते ही उसके मुँह से बरबस निकल पड़ता है–

सुखा ते, समण, छायाति – श्रमण, तेरी छाया सुखद है। (महाव० १०५, राहुलवत्थु)

रूपकाया का आकर्षण तो अद्भुत था ही, पर उससे कहीं अधिक अद्भुत आकर्षण था उनकी धर्मकाया का जिसके समीप जाकर एक सप्त-वर्षीय अबोध बालक तक यह कह उठा – श्रमण, तेरी छाया सुखद है।

सचमुच अत्यंत सुखद थी उस महाश्रमण की शीतल छाया!

राहुल-माता खूब जानती है कि गृहत्यागी भगवान बुद्ध के पास अब कोई राजसी विरासत नहीं है। उनके पास तो केवल चार आर्य-सत्यों वाली भवमुक्ति की धर्ममयी विरासत ही है। परंतु यह विरासत अनमोल है। राजसी विरासत की इससे कोई तुलना नहीं हो सकती। राहुल-माता अपने पुत्र को यही धर्मविरासत मांगने के लिए भगवान के पास भेजती है।

भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर राहुल प्रव्रजित होता है। उसे पिता से धर्म का दायाद मिलता है, मुक्ति की विरासत मिलती है और समय पाकर वह अरहंत बनता है तथा भवचक्र से मुक्त हो जाता है।

वत्सगोत्र

अलभ्य, अद्भुत बत्तीस महापुरुष लक्षणों के अतिरिक्त उनके शरीर पर अस्सी अन्य छोटे-मोटे सुंदर चिह्न थे, जिन्हें अनुव्यंजन कहते थे। इनके कारण उनकी शरीर-सुषमा अत्यंत आकर्षक और दर्शनीय थी। देखने वाले अवाक देखते ही रह जाते थे। उन सब में सर्वाधिक आकर्षक उनकी त्वचा थी जिसका रंग और जिसकी कांति **(छविवण्णो)** लोगों को हठात अपनी ओर खींच लेती थी। इसके साथ-साथ उनके चेहरे की शांति, आंख, कान, नाक, मुँह आदि इंद्रियों की पवित्रता, शुचिता, निर्मलता, निर्दोषता अत्यंत हृदयग्राही थी। जैसे चित्त का मैल, वैसे ही चित्त की निर्मलता स्वभावतः चेहरे पर प्रकट होती है। भगवान की चित्त-निर्मलता के कारण ही उनका मुखमंडल सतत स्वच्छ, ओजपूर्ण और तेजस्वी बना रहता था। त्वचा और चेहरे की यह आभा देख कर आगंतुक सहज ही श्रद्धा से झुक जाता था।

एक प्रसंग है वेनागपुर का। भगवान चारिका करते हुए वहां पहुँचे हैं। अनेक गृहस्थ ब्राह्मण और वैश्य उनसे मिलने आये हैं। उनमें से एक है ब्राह्मण वत्सगोत्र। वह भगवान की दर्शनीय रूपकाया को देख कर, प्रसन्नता-विभोर होकर कह उठता है–

अच्छरियं, भो गोतम, अब्भुतं, भो गोतम, यावञ्चिदं भोतो गोतमस्स विप्पसन्नानि इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो।

– हे गौतम, आश्चर्य है, हे गौतम, अद्भुत है। आप गौतम की इंद्रियां कितनी निर्मल हैं, प्रसन्न हैं। आपकी त्वचा कितनी परिशुद्ध, स्वच्छ, और कांतिपूर्ण है।

... सेय्यथापि, भो गोतम, नेक्खं जम्बोनदं दक्खकम्मारपुत्तसुपरिकम्मकतं उक्कामुखे सुकुसलसम्पहट्ठं पण्डुकम्बले निक्खित्तं भासते च तपते च विरोचति च। एवमेवं भोतो गोतमस्स विप्पसन्नानि इन्द्रियानि, परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो। (अ० नि० १.३.६४, वेनागपुरसुत्त)

– ... जैसे कि हे गौतम, किसी दक्ष स्वर्णकार ने जांबोनद स्वर्ण को परिश्रमपूर्वक काट-छांट कर, ठोक-पीट कर, आग में तपा कर, विशुद्ध करके पांडुवर्णी मखमली कंबल पर रखा हो। जिस प्रकार वह स्वर्ण चमकता है, विरोचित होता है, आभास्वर होता है, उसी प्रकार आपकी छवि और इंद्रियां दीप्त हैं।

अधिकांश सहृदय लोग उनसे सर्वथा अपरिचित होते हुए भी उनकी रूपकाया के प्रथम दर्शन से ही अभिभूत हो जाते थे। उनके विशुद्ध धर्माचरण के साथ-साथ उनकी इस मनोहारिणी रूप-छवि की चर्चा भी दूर-दूर तक फैल चुकी थी। उन्हें बिना देखे ही लोग इसकी चर्चा करते थे। ऐसे अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण है कोशल के ओपसाठ निगम के स्वामी ब्राह्मण चंकी का।

महाशाल ब्राह्मण चंकी

ब्राह्मण चंकी महाशाल यानी महा धनाढ्य था। कोशलराज से दान में प्राप्त हुए समस्त ओपसाठ निगम का स्वामी था। एक बार भगवान चारिका करते हुए वहां पहुँचे। बहुत लोगों की भीड़ उनके दर्शनार्थ जाने लगी, तो ब्राह्मण चंकी का भी मन हुआ कि वह भगवान से मिले। उसने उनकी बहुत ख्याति एवं प्रसिद्धि सुन रखी थी। परंतु उसके कुछ हितैषी साथियों ने उसे रोका। उन्होंने कहा, यह उसकी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होगा कि उस जैसा प्रमुख ब्राह्मण एक श्रमण के दर्शन के लिए जाए। लेकिन चंकी जाने के लिए दृढ़-निश्चय था। उसने भगवान के बारे में जो अच्छी बातें सुनी थीं, उनमें एक उनके काय-सौंदर्य से संबंधित थी। उसी ओर संकेत करते हुए चंकी ने कहा–

समणो खलु, भो, गोतमो अभिरूपो दस्सनीयो पासादिको परमाय वण्णपोक्खरताय समन्नागतो ब्रह्मवण्णी ब्रह्मवच्छसी अखुद्दावकासो दस्सनाय। (म० नि० २.४२५, चङ्कीसुत्त)

– श्रमण गौतम अभिरूप है; अत्यंत रूपवान है; दर्शनीय है; प्रसादनीय है; प्रिय लगने वाला है। उसके वर्ण का निखार अत्यंत श्रेष्ठ है। महाब्रह्मा का सा शरीर और वर्ण है उसका। उसके दर्शनीय होने में कोई कमी नहीं है।

उन दिनों के ब्राह्मण अक्सर गोरे होते थे। इस कारण कुछ एक वर्णवादी ब्राह्मण श्रमणों को हेय दृष्टि से देखते थे। उन्हें **इब्भा कण्हा** (नीच काले) कह कर दुत्कारते थे। परंतु बुद्ध एक ऐसे श्रमण थे जो काले-कलूटे न होकर ब्रह्मवर्णी **ब्रह्मवच्छसी** थे और बत्तीस महापुरुष लक्षणों के साथ-साथ उनका ऐसा सुंदर रंग-रूप उन्हें **अखुद्दावकासो दस्सनाय** बनाता था।

इसी कारण साथियों के हजार रोकने पर भी ब्राह्मण चंकी उनके दर्शन के लिए गया। उनकी रूपकाया से प्रभावित हुआ। परंतु पुण्यशाली होने के कारण उनकी धर्मकाया से भी लाभान्वित हुआ।

सोण

भगवान की धर्मकाया के साथ-साथ उनकी रूपकाया की प्रशस्ति केवल वर्णवादी ब्राह्मणों तक ही नहीं बल्कि सर्वत्र इतनी लोक-प्रसिद्ध हो गयी थी कि अनेक अपरिचित लोगों के लिए यही उनकी प्रथम पहचान थी। उदाहरणार्थ, उन दिनों अवंति के राजपुरोहित के पुत्र विद्वान ब्राह्मण कात्यायन भगवान से प्रव्रज्या लेकर स्वदेश लौटे, तो वहां कुररघर नामक पर्वत पर विहार करने लगे।

उनका एक प्रिय शिष्य था – सोण कोटिकर्ण। उसके मन में यह आया कि –

न खो मे सो भगवा सम्मुखा दिट्ठो, अपि च सुतोयेव मे सो भगवा – ‘ईदिसो च ईदिसो चा’ति। (उदा० ४६, सोणसुत्त)

– मैंने भगवान का साक्षात दर्शन नहीं किया है। केवल सुना ही है कि ‘वे ऐसे हैं, ऐसे हैं’।

भगवान की ख्याति सुन-सुन कर सामान्य लोगों के मन में भी यही भाव उठता था –

साधु खो पन तथारूपानं अरहतं दस्सनं होति। (दी० नि० १.३०१, सोणदण्डसुत्त)

– ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

सोण तो अपने आचार्य कात्यायन के द्वारा भगवान की शिक्षा में दीक्षित भी हो चुका था। अतः उसके मन में ऐसा भाव जागना स्वाभाविक था। उसने आचार्य कात्यायन से भगवान का दर्शन करने की अपनी यह इच्छा प्रकट की। कात्यायन ने प्रसन्न चित्त से जाने की आज्ञा देते हुए उसे कहा –

साधु साधु, सोण, गच्छ त्वं, सोण, तं भगवन्तं दस्सनाय अरहन्तं सम्मासम्बुद्धं।

– बहुत अच्छा, सोण, बहुत अच्छा। तुम उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध के दर्शनार्थ जाओ।

भगवान को पहचानने के लिए उसने सोण से कहा –

दक्खिस्ससि त्वं, सोण, तं भगवन्तं पासादिकं पसादनीयं सन्तिन्द्रियं सन्तमानसं उत्तमदमथसमथमनुप्पत्तं दन्तं गुत्तं यतिन्द्रियं नागं। (उदा० ४६, सोणसुत्त)

– सोण, तुम उन भगवान के दर्शन करोगे, जो प्रसन्नमुख हैं, सुंदर हैं; प्रसन्नता जगाने वाले हैं, दर्शनीय हैं, शांत-इंद्रिय हैं; शांत-चित्त हैं; संयमशील हैं; यतिंद्रिय हैं और मनुष्यों में नाग सदृश हैं। निष्पाप हैं।

भगवान के बारे में जिन अनेक प्रशंसात्मक विशेषताओं की चर्चा लोगों में फैली थी, उनमें से एक थी उनकी अकुटिल भ्रकुटि। भगवान ने जीवन भर कभी क्रोध नहीं किया। अतः किसी ने कभी उनकी भ्रकुटि चढ़ी हुई नहीं देखी। वे सारी चिंताओं से सर्वथा विमुक्त हो चुके थे। इस कारण भी कभी उनकी भ्रकुटि में बल नहीं पड़ा। अकुटिल भ्रकुटि रहना उनका सहज स्वभाव बन गया था। इससे मुख-मंडल सहज प्रसन्नता से

भरा रहता था, जिसे देख कर दर्शक भी सहज ही प्रसन्नता से भर उठता था। इसीलिए उनकी रूपकाया को **पासादिकं, पसादनीयं** कहा जाता था।

श्रद्धालु सोण ने इसी बहुचर्चित रूपकाया के दर्शन किये और फिर धर्म से भरी हुई धर्मकाया के दर्शन करके निहाल हो गया। वस्तुतः कल्याण तो धर्मकाया से ही होता है।

बाहिय दारुचीरिय

लोग भगवान की इस अद्वितीय **पासादिकं, पसादनीयं** रूपकाया से उन्हें पहचान अवश्य लेते थे, परंतु वास्तविक लाभ तो उनकी धर्मकाया के दर्शन से ही होता था।

एक उदाहरण हमारे सामने है –

उन दिनों के सुप्पारकपत्तन यानी सुप्पारक बंदरगाह (आज की बंबई महानगरी के समीप नल्ला सुप्पारक गांव) में एक वयोवृद्ध संन्यासी रहता था। वह वल्कल अर्थात पेड़ की छाल का वस्त्र पहनता था, अतः उसका नाम दारुचीरिय पड़ गया। उसने सुना कि लोक में अरहंत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं। वे श्रावस्ती में विहार कर रहे हैं। वे अरहंत मार्ग का उपदेश भी देते हैं। यह सुन कर उसके मन में अपूर्व धर्मसंवेग जागा। वह भगवान के दर्शन के लिए आतुर हो उठा और तत्काल श्रावस्ती के लिए चल पड़ा। शीघ्र पहुँचने की आतुरता में वह रास्ते में बहुत कम विश्राम कर पाया। जब श्रावस्ती के जेतवन विहार में पहुँचा तो पता चला कि भगवान भिक्षाटन के लिए नगर की ओर गये हैं। वह तुरंत नगर की ओर चल दिया। वहां नगरवीथि में उसने भगवान को भिक्षाचारिका करते देखा। किसी ने उसको भगवान का परिचय नहीं कराया था। पर उनके जनविश्रुत गुणों के कारण उसने उन्हें पहचान लिया। यही तो उनका परिचय था –

पासादिकं पसादनीयं सन्तिन्द्रियं सन्तमानसं उत्तमदमथसमथमनुप्पत्तं दन्तं गुत्तं यतिन्द्रियं नागं।

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

यह ऐसा परिचय था जिससे उन्हें कोई भी पहचान सकता था। **पासादिकं** और **पसादनीयं** रूपकाया के दर्शन कर, भगवान के चरणों में सिर टेक दारुचीरिय ने धर्म की याचना की। स्पष्ट है कि उसने रूपकाया में धर्मकाया के दर्शन किये। उसे धर्म मिला, मुक्ति की विधा मिली जिससे उसका परम कल्याण हुआ।

अनुपादाय आसवेहि चित्तं विमुच्चि। (उदा० १०, बाहियसुत्त)

– उपादानरहित हो, आस्रवों से चित्त विमुक्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस **पासादिकं** और **पसादनीयं** रूपकाया से आकर्षित होकर कितने ही लोग भगवान के संपर्क में आये और उनकी धर्मकाया से धर्म प्राप्त कर कल्याणलाभी हुए।

मागंधीय

सर्वांग-सौंदर्य से परिपूर्ण भगवान की रूपकाया का हम एक और दृश्य देखते हैं। ब्राह्मण मागंधीय की अनिंद्य-सुंदरी, सुवर्ण-वर्णा कन्या विवाह-योग्य हो गयी है। ब्राह्मण उसका विवाह उसी के अनुरूप सर्वांग-सुंदर, सुवर्ण-वर्ण पुरुष से करना चाहता है। परंतु ऐसा रूपवान व्यक्ति उसे न ब्राह्मण समाज में मिला

और न राजन्य समाज में। अकस्मात वह भगवान को देखता है और उनकी रूपकाया में उसे अपनी पुत्री के लिए मनचाहा वर दिखायी देता है। अपनी पुत्री का हाथ भगवान को सौंपने के लिए वह अधीर हो उठता है।

हो सकता है कि वह इस तथ्य को बिलकुल न जानता हो कि यह श्रमण, ब्राह्मणों की जन्मजात वर्ण-व्यवस्था का, किसी नदी में नहाने से दुष्कर्मों के मैल धुल जाने की मिथ्या मान्यता का और पशु-बलि वाले यज्ञों के कर्म-कांडों का कट्टर विरोधी है। पर इतना तो स्पष्ट देख ही रहा था कि यह व्यक्ति प्रव्रजित है, गृहस्थ नहीं है, और श्रमण है। जात्यभिमान में डूबे हुए उन दिनों के कुछ ब्राह्मण ऐसों के प्रति तीव्र अनादर भाव प्रकट कर कहा करते थे –

मुण्डका, समणका, इब्भा, कण्हा, बन्धुपादापच्चा। (दी० नि० १.२६३, अम्बट्ठसुत्त)

– ये मथमुंडे, श्रमण, इभ्य (नीच), काले-कलूटे, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न हैं।

ऐसे मथमुंडे श्रमण को वह अपनी अनिंद्य सुंदरी कन्या देना चाहता है। स्पष्ट ही इसका एकमात्र कारण यही है कि भगवान जैसा सुंदर पुरुष उसे कहीं ढूंढे नहीं मिला। ऐसी थी भगवान की मनोहारिणी अनुपम रूप-काय-सुषमा।

यहां एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शरीर-लक्षण शास्त्र के प्राचीन वैदिक ग्रंथ में केवल महापुरुषों के बत्तीस शारीरिक लक्षण ही नहीं गिनाये गये थे; वरन उसमें और भी अन्य अनेक विवरण थे। यह भी स्पष्ट है कि उन दिनों नारी-शिक्षा पर कोई प्रतिबंध नहीं रहा होगा। इसी कारण हम देखते हैं कि ब्राह्मण मागंधीय की भार्या शरीर-लक्षण विद्या में इतनी निष्णात थी कि जिस आसन पर भगवान बैठे थे, उसके दबाव-उठाव को देख कर तथा जिस भूमि पर चले थे, वहां पड़े पद-चिह्नों के दबाव-उठाव को देख कर उसने यह निर्णय किया कि इस आसन पर बैठने वाला और ऐसे पद-चिह्नों वाला व्यक्ति कदापि कामभोगी नहीं हो सकता, कामलोलुप नहीं हो सकता। अवश्य ही यह नितांत वीतकाम है, भवमुक्त है। हमारी कन्या का पाणिग्रहण करने वाला नहीं है। और यही हुआ। देश के धनी-मानी, ऐश्वर्यशाली क्षत्रिय और ब्राह्मण जिसे प्राप्त करने में अपना सौभाग्य मानते थे, उस कन्यारत्न को किसी के द्वारा अस्वीकृत किया जाना ब्राह्मण मागंधीय के लिये आश्चर्यजनक घटना थी। इसी कारण भगवान की देहकाया का आकर्षण भुला कर वह उनकी धर्मकाया की ओर आकृष्ट हुआ। पुत्री को अपने अनुज के हवाले करके, दोनों पति-पत्नी प्रव्रजित हुए और भगवान से विपश्यना साधना सीख कर, उसका समुचित अभ्यास करते हुए भव-बंधनों से मुक्त होकर कृत-कृत्य हुए।

वक्कलि

ऐसा ही एक और विशिष्ट उदाहरण हमारे सामने आता है वक्कलि का। श्रावस्ती का यह वेदज्ञ ब्राह्मण भगवान की रूप-संपदा से इतना प्रभावित होता है कि गृह त्याग कर प्रव्रजित हो जाता है। केवल इस उद्देश्य से कि अधिक समय भगवान के समीप रह कर उनके शरीर-सौंदर्य का दर्शन करता रहे। परवर्ती भक्ति-युग में इष्टदेव के रूप-सौंदर्य का वर्णन तथागत के रूप-सौंदर्य से प्रभावित हुआ लगता है। इसी प्रकार लगता है कि यह वक्कलि परवर्ती भक्ति-युग में इष्टदेव के रूप-दर्शन के लिए विकल रहने वाले भक्तों का मानो पूर्ववर्ती संस्करण है। जब देखो तब भगवान के शरीर पर दृष्टि गड़ाए रखे; धर्मधारण का कतई अभ्यास न करे। जब भगवान उसकी यह मूढ़ अवस्था देखते हैं, तो उसे फटकारते हुए कहते हैं –

किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन?

– इस गंदे शरीर को देखकर तुझे क्या मिलेगा?

इस रूपकाया की ओर से उसका ध्यान हटा कर धर्मकाया की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करते हुए भगवान कहते हैं –

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति; यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।

(सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है; जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।

भिक्षु वक्कलि जैसा कोई अंध-भक्त भले भगवान की रूपकाया पर इस प्रकार आकर्षित और मुग्ध हो गया हो, पर भगवान ने तो बार बार धर्मकाया को ही महत्त्व दिया। इस विषय में उनकी वाणी कितनी स्पष्ट है –

सङ्घाटिकण्णे चेपि, भिक्खवे, भिक्खु गहेत्वा पिट्ठितो पिट्ठितो अनुबन्धो अस्स पादे पादं निक्खिपन्तो, सो च होति अभिज्झालु कामेसु तिब्बसारोगा ब्यापन्नचित्तो पदुट्ठमनसङ्कप्पो मुट्ठस्सति असम्पजानो असमाहितो विब्भन्तचित्तो पाकतिन्द्रियो; अथ खो सो आरकाव मय्हं, अहञ्च तस्स। तं किस्स हेतु? धम्मं हि सो, भिक्खवे, भिक्खु न पस्सति। धम्मं अपस्सन्तो न मं पस्सति।

(इतिवु० ९२, सङ्घाटिकण्णसुत्त)

– भिक्षुओ, यदि कोई भिक्षु मेरी संघाटी के कोने को पकड़े, मेरे चरण-चिह्नों पर अपने चरण रखते हुए मेरे पीछे-पीछे लगा हो, परंतु हो वह लोभी, कामभोग में तीव्र रागचित्त युक्त, द्रोहचित्त युक्त व प्रदुष्ट संकल्प युक्त, स्मृति और संप्रज्ञानरहित, समाधिरहित, विभ्रांतचित्त, असंयमित इंद्रियों वाला; तो वह मुझसे दूर ही है और मैं उससे। सो किस कारण? क्योंकि वह धर्म को नहीं देखता है। जो धर्म को नहीं देखता है, वह मुझे नहीं देखता है।

दूसरी ओर –

योजनसते चेपि सो, भिक्खवे, भिक्खु विहरेय्य, सो च होति अनभिज्झालु, कामेसु न तिब्बसारोगा, अब्यापन्नचित्तो, अपदुट्ठमनसङ्कप्पो, उपट्ठितस्सति, सम्पजानो समाहितो एकग्गचित्तो, संवुतिन्द्रियो; अथ खो सो सन्तिकेव मय्हं, अहञ्च तस्स। तं किस्स हेतु? धम्मं हि सो, भिक्खवे, भिक्खु पस्सति; धम्मं पस्सन्तो मं पस्सति।

(इतिवु० ९२, सङ्घाटिकण्णसुत्त)

– कोई भिक्षु सौ योजन की दूरी पर विहार करता हो, परंतु न वह लोभी हो, न कामभोग में तीव्र रागचित्त युक्त हो, न द्रोहचित्त युक्त हो, न प्रदुष्ट संकल्पयुक्त हो, वह सतत स्मृति और संप्रज्ञानयुक्त, समाहित, एकाग्रचित्त, इंद्रियसंयमी हो; तो वह मेरे समीप ही है और मैं उसके। सो किस कारण? भिक्षुओ, वह भिक्षु धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है।

भगवान के देह-दर्शन की तीव्र आसक्ति लिए अंधभक्ति में डूबा वक्कलि भगवान की फटकार से सुधरता है। साधना के उतार-चढ़ावों में से गुजरता हुआ वह अंततः भवमुक्त हो जाता है।

वैशाली का उग्र गृहपति

भगवान की रूपकाया इतनी सुदर्शनीय थी कि उसे देख कर सब का मन खिल उठता था।

को दिस्वा न पसीदति – उसे देख कर कौन प्रसन्न नहीं हो उठता!

(अप० थेर २.४७.४५-५४, सयंपटिभानियत्थेरअपदान)

पहले ही दर्शन में भगवान के अनन्य भक्त बन जाने के और भी उदाहरण हमें देखने को मिलते हैं। वैशाली का श्रेष्ठि उग्र भगवान के प्रति बहुत श्रद्धालु था। भगवान भी उसके बहुत बड़े प्रशंसक थे। किसी एक प्रसंग में उसने अपने जीवन की यह सच्चाई प्रकट की।

यदाहं, भन्ते, भगवन्तं पठमं दूरतोव अद्दसं; सह दस्सनेनेव मे, भन्ते, भगवतो चित्तं पसीदि।

(अ० नि० ३.८.२१, पठमउग्गसुत्त)

– भंते, जब पहली बार भगवान को मैंने दूर से देखा तो भंते, देखते ही भगवान के प्रति मेरे मन में श्रद्धा जाग गयी।

यह भगवान की सुंदर रूपकाया का ही आकर्षण था जिसके कारण दर्शक पहले दर्शन में ही प्रभावित हो जाते थे।

ठीक इसी से मिलती-जुलती हम एक अन्य घटना देखते हैं –

हस्तिग्राम का उग्र गृहपति

हस्तिग्राम में भी उग्र नाम का एक धनी गृहस्थ था। वह भी भगवान के प्रथम दर्शन से ही उनका श्रद्धालु उपासक बन गया। लगता है वह व्यक्ति शराबी भी था। उसने अपना अनुभव इन शब्दों में व्यक्त किया है—

यदाहं, भन्ते, नागवने परिचरन्तो भगवन्तं पठमं दूरतोव अद्दसं,

– भंते, नागवन में विचरण करते हुए जब मैंने पहली बार भगवान को दूर से देखा –

सह दस्सनेनेव मे, भन्ते, भगवतो चित्तं पसीदि,

– तो भंते, देखते ही भगवान के प्रति मेरे मन में श्रद्धा जाग गयी,

सुरामदो च पहीयि – मदिरा का नशा उतर गया। (अ० नि० ३.८.२२, दुतियउग्गसुत्त)

पहले उग्र श्रेष्ठि की भांति दूसरा उग्र गृहपति भी भगवान की रूपकाया से प्रभावित हो श्रद्धालु बन गया। परंतु इसे भगवान की पावन धर्मकायिक तरंगों ने भी तत्काल प्रभावित किया और उसका मदिरा का सारा नशा उतर गया। और यह नशा सदा के लिए उतर गया, क्योंकि वह भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर अनागामी अवस्था तक पहुँच गया।

अतृप्त हत्थक आलवक

भगवान की रूपकाया के अद्भुत आकर्षण का एक और उदाहरण हम हत्थक आलवक के वक्तव्य में देखते हैं। हत्थक भगवान के अग्रगण्य गृही उपासकों में से एक था। मृत्यु के पश्चात उसका जन्म देवलोक में हुआ। वहां से अपने दिव्य रूप में भगवान के सामने प्रकट हुआ और बोला –

भगवतो अहं, भन्ते, दस्सनस्स अतित्तो अप्पटिवानो कालङ्कतो।

– भंते, मैं भगवान के दर्शनों से अतृप्त रह कर, दर्शनों के लिए पीछे न हटने वाला होते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गया।

भगवान की रूपकाया सदृश उनकी धर्मकाया की धर्मवाणी भी उतनी ही आकर्षक थी। लोग रूप देखते तो देखते ही रह जाते, तृप्त नहीं होते; मुड़ने को जी नहीं चाहता। धर्मवाणी सुनते, तो सुनते ही रह जाते, तृप्त नहीं होते; मुड़ने को जी नहीं चाहता। यही दशा हत्थक की हुई।

सद्धम्मसवनस्साहं, भन्ते, अतित्तो अप्पटिवानो कालङ्कतो। (अ० नि० १.३.१२८, हत्थकसुत्त)

– सद्धर्म श्रवण से भी अतृप्त रह कर, सुनने में पीछे न हटने वाला होते हुए मृत्यु को प्राप्त हो गया।

यदि भगवान के श्रद्धालु भक्त ही उनकी रूपकाया की प्रशंसा करते, तो यह परवर्ती भक्ति-युग की सी अतिरंजना भरी अभिव्यंजना होती परंतु भगवान के सुंदर रूप को ऐसे लोगों ने भी स्वीकारा, जो भगवान के प्रति रंचमात्र भी श्रद्धालु नहीं थे।

उरुवेल काश्यप

उरुवेल की एक सूनी कुटिया में भगवान रात भर के लिए ठहरे थे। वहां उनका सामना एक क्रुद्ध नाग से हुआ। इसे देख कर उरुवेल काश्यप के मुँह से यही निकला –

अभिरूपो वत भो महासमणो, नागेन विहेठियति। (महाव० ३९, उरुवेलपाटिहारियकथा)

– अरे, सचमुच यह 'महाश्रमण' अभिरूप यानी अत्यंत सुंदर है! (परन्तु) यह नाग द्वारा सताया जा रहा है।

ध्यान देने की बात यह है कि भगवान की काया के सौंदर्य का यह बखान उरुवेल काश्यप ने तब किया जब वह उनसे पहली बार मिला था। भगवान का अनुयायी, भक्त होना तो बहुत दूर की बात थी, तब तक तो उसने भगवान का वह ऋद्धिबल भी नहीं देखा था, जो कि आश्चर्यजनक होने पर भी उसे प्रभावित नहीं कर सका था। वह मगध देश का प्रसिद्ध धर्माचार्य था और अपने आपको अरहंत मानता था। उसे अपने कर्मकांडों का बड़ा अभिमान था। उसने भगवान बुद्ध के लिए केवल महाश्रमण शब्द का प्रयोग किया। 'श्रमण' तो उनकी वेश-भूषा के कारण और 'महा' उनके बड़े डीलडौल के कारण।

राजगृह के अश्रद्धालु नागरिक

जब प्रमत्त नालागिरि हाथी सूंड़ उठा कर, चिंघाड़ता हुआ और कान फड़फड़ाता हुआ भगवान पर हमला करने के लिए उनकी ओर दौड़ा आ रहा था, तब आसपास के कुछ ऐसे नगरनिवासी –

तत्थ ये ते मनुस्सा अस्सद्धा अप्पसन्ना दुब्बुद्धिनो, ते एवमाहंसु,

– जो अज्ञानी थे और भगवान के प्रति अश्रद्धालु थे, अप्रसन्न थे, उन्होंने कहा –

अभिरूपो वत भो महासमणो, नागेन विहेठीयिस्सति। (चूळव० ३४२, नाळागिरिपेसन)

– अरे, यह अत्यंत सुंदर महाश्रमण हाथी द्वारा क्षति पहुँचाया जायेगा।

इनमें श्रद्धा नहीं थी, पर सुंदरता का बखान तो इन्होंने भी किया ही। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान की रूपकाया निश्चित रूप से अत्यंत सुंदर थी।

पुक्कुसाति

भगवान के बारे में जो अनेक बातें लोक-प्रसिद्ध थीं उनमें से एक यह भी थी –

समणं खलु, भो, गोतमं तिरोरट्ठा तिरोजनपदा पञ्हं पुच्छितुं आगच्छन्ति।

(दी० नि० १.३०४, सोणदण्डसुत्त)

– राष्ट्र और जनपद के बाहर से भी लोग श्रमण गौतम से धर्मसंबंधी प्रश्न पूछने आते हैं।

भगवद्-वाणी में हम देखते हैं कि ऐसे अनेक लोग दूर-दूर से चल कर आये। दक्षिण में गोदावरी के तट से बावरी के भेजे हुए सोलह ब्राह्मण आचार्य आये – यह हमने देखा ही है। इसी प्रकार गंधार देश की राजधानी तक्षशिला से गंधार-नरेश पुक्कुसाति भगवान से मिलने चला आया। यह द्रष्टव्य है कि भगवान की रूपकाया के बत्तीस महापुरुष लक्षणों की चर्चा सुन कर जो लोग आये, वे सभी शास्त्रज्ञ ब्राह्मण थे, क्योंकि ब्राह्मणों के सर्वमान्य ग्रंथ में इसका विवरण था। पर अन्य अनेक लोग भगवान की धर्मकाया अर्थात उनके धर्मोपदेशों के बारे में ही सुन कर आये। उनमें से एक यह था – महाराज पुक्कुसाति।

तक्षशिलाधीश पुक्कुसाति मगध-नरेश बिंबिसार का अनदेखा पत्र-मित्र था। व्यापारियों के माध्यम से दोनों ने परस्पर स्नेह-संदेशों और उपहारों का आदान-प्रदान किया था। एक बार पुक्कुसाति द्वारा भेजे गये मुक्ता-मणियों के उपहार के बदले बिंबिसार ने स्वर्ण-पत्र पर भगवान बुद्ध और उनके उपदेशों के बारे में लिख भेजा। पुक्कुसाति पूर्वपुण्यपारमिताओं से संपन्न था। अतः यह धर्मसंदेश पढ़ते ही उसके मन में गहरा धर्मसंवेग जागा और वह राजपाट त्याग कर संन्यासी के वेष में भगवान के दर्शनार्थ निकल पड़ा। तक्षशिला से राजगृह तक की लंबी यात्रा पूरी करते हुए वह श्रावस्ती के जेतवन विहार के सामने से गुजरा, जहां उस समय भगवान विहार कर रहे थे। परंतु वह तो यही समझे बैठा था कि भगवान राजगृह में मिलेंगे। अतः आगे बढ़ता गया। भगवान ने जब यह जाना, तो वे उसके पीछे-पीछे तेज गति से पैदल ही चल पड़े। राजगृह के बाहर एक कुम्हार की धर्मशाला में एक ही कक्ष में दोनों ने रात बितायी, क्योंकि देर हो जाने के कारण नगर के दरवाजे बंद हो चुके थे। पुक्कुसाति ने भगवान को देखा तो यही समझा कि यह कोई सामान्य श्रमण है।

भगवान की सुंदर रूपकाया और बत्तीस महापुरुष लक्षण उसके सामने थे, पर उसके लिए वे महत्त्वपूर्ण नहीं थे। अतः उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। रात देर तक साथ ध्यान करने के बाद भगवान ने उसे धर्मदेशना दी। धातु-विभंग जैसा साधना संबंधी गंभीर उपदेश दिया। भगवान ने थोथी मान्यताओं और उनके प्रति जागी आसक्तियों से विमुक्त होने के लिए धर्म का यह प्रयोगात्मक पक्ष प्रस्तुत किया और कहा–

इमं खो मे त्वं, भिक्खु, सङ्खित्तेन छधातुविभङ्गं धारेहि। (म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

– भिक्षु, मेरे द्वारा तुम्हे संक्षेप में समझाये गये छः धातु विभंगों को धारण कर।

'धारेहि' यह शब्द सुनते ही पुक्कुसाति के भीतर मानो बिजली का-सा प्रवाह दौड़ा। अन्य धर्माचार्य केवल वैदिक उपदेश देते है। किसी न किसी दार्शनिक मान्यता के प्रति अभिनिवेश जगाते है। परंतु इसने तो सभी दार्शनिक मान्यताओं को ठुकरा कर पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश और विज्ञान इन छहों धातुओं के टुकड़े-टुकड़े कर परम सत्य को धारण करने पर जोर दिया, यानी उस स्वानुभूति का आधार बनाने को, प्रत्यक्षानुभूति के स्तर पर जानने और ग्रहण करने को महत्त्व दिया है। यही तो विपश्यना है। अवश्य ही यह महाश्रमण सम्यक संबुद्ध है। यों रूपकाया नहीं बल्कि धर्मकाया के संपर्क में आकर उसने भगवान को पहचाना और उल्लास-भरे शब्दों में बोल उठा–

सत्था किर मे अनुप्पत्तो, सुगतो किर मे अनुप्पत्तो, सम्मासम्बुद्धो किर मे अनुप्पत्तो!

(म० नि० ३.३७०, धातुविभङ्गसुत्त)

– अहो, सचमुच मुझे शास्ता मिल गये! सचमुच, मुझे सुगत मिल गये! सचमुच, मुझे सम्यक संबुद्ध मिल गये!

इस प्रकार न जाने कितने लोग भगवान की धर्मकाया के संपर्क में आकर धन्य हुए, कृत-कृत्य हुए।

रूपकाया की भंगुरता

रूपकाया की भंगुरता

जराधम्मो योब्बञ्ञे, ब्याधिधम्मो आरोग्ये, मरणधम्मो जीविते। (सं० नि० ३.५.५११, जराधम्मसुत्त)

– यौवन में बुढ़ापे का, आरोग्य में व्याधि का और जीवित रहने में मृत्यु का स्वभाव समाया हुआ है।

सब्बं, भिक्खवे, जराधम्मं... ब्याधिधम्मं... मरणधम्मं...। (सं० नि० २.४.३४-३६, जातिधम्मादिसुत्त)

– भिक्षुओ, सब जराधर्मा है..., व्याधिधर्मा है..., मरणधर्मा है...।

यह प्रकृति का अटूट नियम सभी प्राणियों पर लागू होता है। जरा, व्याधि और मृत्यु से किसी की भी काया नहीं बच पाती। चाहे किसी सम्यक संबुद्ध की बत्तीस महापुरुष लक्षणों और अस्सी अनुव्यंजनों वाली, कंचन-वर्णी, परम सौंदर्यमयी काया ही क्यों न हो, समय पाकर वह भी जर्जरित होती ही है, व्याधिग्रस्त होती ही है, मृत्यु को प्राप्त होती ही है। और यही हुआ।

जो बाल-बुद्धि वाले लोग केवल भगवान की काया का सौंदर्य ही देखते रह गये, वे कोरे रह गये। जो इस भव्य और दिव्य सौंदर्य से आकर्षित हो, उनकी धर्मकाया के संपर्क में आये अथवा जो गंधार-नरेश पुक्कुसाति की भांति उस रूपकाया को जरा भी महत्त्व न देकर सीधे उनकी धर्मकाया के संपर्क में आये; वे धर्म से लाभान्वित हो निहाल हो गये।

भगवान के रूप-दर्शन मात्र से भला क्या मिलता? रूप-दर्शन के भूखे अंध-भक्त वक्कलि को फटकारते हुए भगवान ने ठीक ही कहा –

किं ते इमिना पूतिकायेन दिट्ठेन? (सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– इस गंदे शरीर को देख कर तुझे क्या मिलेगा?

हर मानवी काया पूतिकाया ही है। हाड़, मांस, लहू, पीप, मल, मूत्र आदि-आदि का समुच्चय। चाहे वह सम्यक संबुद्ध की काया हो अथवा अन्य किसी की।

सभी रूपकाया जरा-मरण-धर्मा है।

किसी एक प्रसंग पर भगवान ने कोशल-नरेश प्रसेनजित को समझाया –

नत्थि खो, महाराज, जातस्स अञ्ञत्र जरामरणा।

– महाराज! जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी जरा-मरण से नहीं बच पाता।

चाहे वह महाधनाढ्य क्षत्रिय हो, महाधनाढ्य ब्राह्मण हो या महाधनाढ्य वैश्य। उसका विपुल धन-वैभव, उसकी संपूर्ण शक्ति-सत्ता उसे जरा-मृत्यु से नहीं बचा पाती।

येपि ते, महाराज, भिक्खू अरहन्तो खीणासवा वुसितवन्तो कतकरणीया ओहितभारा अनुप्पत्तसदत्था परिक्खीणभवसंयोजना सम्मदञ्ञाविमुत्ता, तेसंपायं कायो भेदनधम्मो निक्खेपनधम्मो।

– इसी प्रकार महाराज, जो भिक्षु अरहंत हैं, क्षीणास्रव हैं, जिन्होंने धर्माभ्यास पूरा कर लिया है, जो कृत-कृत्य हैं, भार-मुक्त हैं, परमार्थ-प्राप्त हैं, भवबंधन-परिक्षीण हैं, परमज्ञान-प्राप्त हैं, विमुक्त हैं, उनका शरीर भी भेदन-निक्षेपन-धर्मा है अर्थात मरण-धर्मा है।

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेति। (सं० नि० १.१.११४, जरामरणसुत्त)

– जैसे अत्यंत सजे-धजे सुचित्रित राजरथ भी समय पाकर जर्जरित हो जाते हैं, वैसे ही शरीर भी जीर्णता को प्राप्त हो जाता है।

समय पाकर भगवान का स्वर्ण-वर्ण, कांतिमय सुंदर शरीर भी जीर्णता को प्राप्त हुआ। इससे संबंधित एक दृश्य –

झुर्रियां पड़ गयीं

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के मृगारमाता विशाखा के पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। सर्दी के दिन थे। सूरज ढल रहा था। भगवान ध्यान से उठ कर पश्चिम की ओर पीठ किये धूप ले रहे थे। इतने में आनंद आये। वे प्रणाम कर भगवान का शरीर दबाने लगे। उनके शरीर की जरा-जीर्ण अवस्था देख कर और उनकी पूर्व अवस्था के शरीर को याद कर वे आश्चर्यचकित होकर बोले – भगवान, अब आपका शरीर पहले जैसा **परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो** यानी परिशुद्ध, सुंदर और कांतिपूर्ण नहीं रह गया।

सिथिलानि च होन्ति गत्तानि, सब्बानि वलियजातानि।

– सारे गात्र शिथिल पड़ गये हैं, सर्वत्र झुर्रियां पड़ गयी हैं।

पुरतो पब्भारो च कायो – शरीर आगे की ओर झुक गया है,

दिस्सति च इन्द्रियानं अञ्ञथत्तं,

– आंख, कान आदि सारी इंद्रियां पहले जैसी नहीं रहीं, दुर्बल हो गयी हैं।

ताव मनोरमं बिम्बं, जराय अभिमद्दितं। (सं० नि० ३.५.५११, जराधम्मसुत्त)

– जरा अवस्था द्वारा मनोरम देह-बिंब अभिमर्दित कर दिया गया है।

दुष्कर-चर्या

वैसे एक बार बिना जरा अवस्था आये ही बोधि-सत्त्व ने काय-दंडन की दुष्करचर्या द्वारा अपने स्वर्ण-वर्ण सुंदर शरीर को दुर्वर्ण बना लिया था।

परिसुद्धो छविवण्णो परियोदातो उपहतो होति,

– त्वचा का परिशुद्ध, निर्मल छविवर्ण नष्ट हो गया,

तायेवप्पाहारताय – निराहार के कारण, (म० नि० २.३३४, बोधिराजकुमारसुत्त)

अत्तकिलमथानुयोगेन – आत्म-क्लेश की साधना के कारण।

दुष्कर उपवास आदि करके उन्होंने अपने शरीर को बार-बार पीड़ित कर इतना क्षीण कर लिया था कि वह हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। पेट को हाथ लगाये तो पीठ की हड्डी छू जाय। आंखें गड्ढों में धँस गयी थीं। सिर की चमड़ी ऐसे सिकुड़ गयी थी जैसे कोई लौकी धूप और हवा में सिकुड़ कर मुरझा जाय। लेकिन जब इस निकम्मी, निरर्थक काय-कष्ट की साधना को छोड़ कर युक्त आहार-विहार ग्रहण किया और मध्यम-मार्ग अपनाया, तो शरीर पुनः पहले जैसा सबल, स्वस्थ और कांतिपूर्ण हो गया। ऐसे कांतिपूर्ण शरीर को देख कर ही आजीवक उपक उनकी ओर आकर्षित हुआ था।

लेकिन अब तो यह जरावस्था की जीर्णता है, दुर्बलता है, जो समय पकने पर सबको आती है। यह पुनः युवावस्था प्राप्त नहीं कर पाती। इस जीर्ण जरावस्था का एक दृश्य और देखते हैं, जब भगवान इसे लक्ष्य करके कहते हैं –

अहं खो पनानन्द, एतरहि जिण्णो वुड्ढो महल्लको अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो। आसीतिको मे वयो वत्तति।

– हे आनंद, मैं इस समय जीर्ण, वृद्ध, महल्लक, ढलती उम्र का वयःप्राप्त व्यक्ति हूं। मेरी उम्र अस्सी वर्ष की है।

और फिर कहते हैं –

सेय्यथापि, आनन्द, जज्जरसकटं वेठमिस्सकेन यापेति। (दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, जैसे कोई जर्जरित गाड़ी को बांध-बूंध कर चलाता है, वैसे ही मैं इस शरीर को चला रहा हूं।

व्याधि-धर्मा

भगवान ने स्वयं इस बात की घोषणा की थी कि वे बीमार कम ही होते हैं।

यानी खो पन तानि वेदयितानि,

– ये वेदनाएं जो कि,

पित्तसमुट्ठानानि वा सेम्हसमुट्ठानानि वा वातसमुट्ठानानि वा,

– प्रकुप्त पित्त से, या प्रकुप्त कफ से, या प्रकुप्त वायु से या

सन्निपातिकानि वा उतुपरिणामजानि वा विसमपरिहारजानि वा,

– सन्निपात ज्वर से या ऋतु परिवर्तन से या विषम परिस्थितियों से या

ओपक्कमिकानि वा कम्मविपाकजानि वा,

– किसी उपक्रमण से अथवा पूर्व कर्मों के विपाक से उत्पन्न होती हैं,

तानि मे न बहुदेव उप्पज्जन्ति – वैसी मुझे अधिकतर नहीं होतीं।

इसी कारण तथागत ने घोषणा की कि –

अप्पाबाधोहमस्मि – मैं प्रायः निरोग रहता हूं। (अ० नि० २.५.१०४, समणसुखुमालसुत्त)

उन्होंने प्रायः निरोग रहने का कारण भी बताया।

अहं खो, भिक्खवे, एकासनभोजनं भुञ्जामि। (म० नि० १.२२५, ककचूपमसुत्त)

– भिक्षुओ, मैं 'एकासन' यानी दिन में एक बार ही भोजन करता हूं।

और दूसरा कारण बताया –

अहं खो, भिक्खवे, अञ्ञत्रेव रत्तिभोजना भुञ्जामि।

– भिक्षुओ, (एक भोजन भी) मैं रात के समय नहीं करता।

इन कारणों से मैं –

अप्पाबाधतञ्च सञ्जानामि, अप्पातङ्कतञ्च, लहुट्ठानञ्च, बलञ्च, फासुविहारञ्च।

(म० नि० २.१७४, कीटागिरिसुत्त)

– आरोग्य, अव्याकुलता, हल्कापन, बल और सुख का अनुभव करते हुए विहार करता हूं।

स्पष्ट है कि तथागत सामान्य व्यक्तियों की तुलना में अधिक स्वस्थ रहते थे।

परंतु फिर भी जैसे जरा वैसे ही व्याधि भी शरीर का धर्म है, स्वभाव है, जो कि एक न एक कारण से यदा-कदा प्रकट होती रहती है। अतः तथागत कभी-कभी व्याधि-ग्रस्त भी हो जाते थे। जैसे –

कब्जियत

छः वर्षों की दुष्कर चर्या के कारण उन्हें कभी-कभी उदर रोग हो जाता था। एक बार राजगृह में रहते हुए उन्हें कब्जियत की शिकायत हुई। राजवैद्य जीवक ने उनके शरीर की जांच की और रोग का निदान किया। उपचार के लिए उसने तीन कमल-नाल को औषधियों से भावित किया और आनंद से भगवान के शरीर को स्निग्ध करने के लिए कहा। तदुपरांत उसने कमल-नाल से बनी औषधि तथागत को तीन बार सूंघने को दी। सूंघने पर भगवान को तीस बार जुलाब (दस्त) हुआ और वे रोगमुक्त हुए।

पत्थर की चोट

देवदत्त ने प्रदुष्ट चित्त से जिस बड़ी चट्टान को गृध्रकूट पर्वत पर चढ़ते हुए तथागत की ओर लुढ़काया, वह तो तथागत तक नहीं पहुँच पायी, पर उसका एक टुकड़ा छिटक कर उनके पांव पर आ लगा, जिससे गहरा घाव हो गया। यद्यपि तथागत का शिष्य राजवैद्य जीवक उनकी समुचित चिकित्सा करता रहा, तो भी इस शारीरिक व्याधि की वेदनाएं अत्यंत तीव्र थीं।

हम देखते हैं कि राजगृह के मद्दकुच्छि मृगदाय वन में तथागत विहार कर रहे हैं, तब –

भगवतो पादो सकलिकाय खतो होति।

– भगवान का पांव पत्थर के टुकड़े से क्षत है।

भुसा सुदं भगवतो वेदना वत्तन्ति सारीरिका वेदना दुक्खा तिब्बा खरा कटुका असाता अमनापा।

– इस समय भगवान को बहुत वेदना हो रही है। यह शारीरिक वेदनाएं हैं, जो बहुत तीव्र, प्रचंड, कटु, अप्रिय और अवांछित हैं।

इस तीव्र शारीरिक वेदना को –

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेति अविहञ्ञमानो। (सं० नि० १.१.३८, सकलिकसुत्त)

– भगवान स्मृति एवं संप्रज्ञान के साथ, अविचलित होकर सहन कर रहे हैं।

वातरोग

रुग्ण अवस्था की एक और घटना।

तब तथागत श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। उस समय वे वातरोग से पीड़ित थे। उन्होंने अपने उपस्थाक यानी सेवक उपवाण से गर्म पानी मांगा।

इङ्घ मे त्वं, उपवाण, उण्होदकं जानाहि। (सं० नि० १.१.१९९, देवहितसुत्त)

– हे उपवाण, तुम जानते हो मेरे लिए गर्म पानी (कहां मिलेगा?)

उपवाण किसी गृहस्थ के यहां से गरम पानी ले आया और गुड़ की एक पोटली भी। उसने लौट कर तथागत को गरम पानी से स्नान कराया और गरम पानी में गुड़ घोल कर पिलाया। इससे उनकी वात-पीड़ा दूर हुई।

कपिलवस्तु में रुग्ण

उनकी रुग्ण अवस्था का एक और प्रसंग–

एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं निग्रोधारामे।

– एक समय भगवान शाक्य प्रदेश में कपिलवस्तु के निग्रोधाराम में विहार कर रहे थे।

तेन खो पन समयेन भगवा गिलाना वुट्ठितो होति अचिरवुट्ठितो गेलञ्ञा।

(अ० नि० १.३.७४, महानामसक्कसुत्त)

– तब भगवान को बीमारी से उठे हुए थोड़ा ही समय बीता था।

बोज्झङ्ग

एक अन्य प्रसंग जब कि भगवान–

राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे

– राजगृह के वेणुवन कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे।

उस समय भगवान–

आबाधिको होति दुक्खितो बाळ्हगिलानो – किसी पीड़ादायक रोग से ग्रसित थे।

(सं० नि० ३.५.१९७, ततियगिलानसुत्त)

तब बोज्झंग धर्म का सहारा लेकर रोग-मुक्त हुए थे।

नंदक

पीठ-दर्द से भगवान कई बार पीड़ित हुए थे।

एक बार वे श्रावस्ती के जेतवनाराम में विहार कर रहे थे। संध्या हो जाने पर ध्यान से उठ कर उपस्थानशाला पहुँचे। वहां आयुष्मान नंदक भिक्षुओं को धर्मोपदेश दे रहे थे। उपदेश पूरा होने तक के लिए भगवान बाहर बरामदे में खड़े रहे। परन्तु उपदेश लंबा चला, तब उन्होंने खांस कर उपस्थानशाला के दरवाजे की कुंडी खटखटायी। दरवाजा खुला। भगवान भीतर जाकर बिछे आसन पर बैठ गये और आयुष्मान नंदक से बोले –

दीघो खो त्यायं, नन्दक, धम्मपरियायो भिक्खूनं पटिभासि।

– नंदक, सचमुच तूने भिक्षुओं को जो यह प्रवचन दिया वस्तुतः वह बड़ा लंबा चला रे!

अपि मे पिट्ठि आगिळायति बहिद्वारकोट्ठके ठितस्स कथापरियोसानं आगमयमानस्स।

(अ० नि० ३.९.४, नन्दकसुत्त)

– प्रवचन के समापन की प्रतीक्षा में दरवाजे के बाहर बरामदे में खड़े-खड़े मेरी पीठ दुखने लगी।

नळकपान

उन दिनों भगवान भिक्षु संघ के साथ कोशल प्रदेश में यात्रा कर रहे थे। कुछ समय के लिए नळकपान नामक निगम के पलासवन में रुके। वहां रात देर तक भगवान भिक्षुओं को उपदेश देते रहे। भिक्षु मौन रह कर सुन रहे थे। तब उन्होंने आयुष्मान सारिपुत्त से कहा –

पटिभातु तं, सारिपुत्त, भिक्खूनं धम्मी कथा।

– अच्छा हो, सारिपुत्त, (अब) तुम भिक्षुओं के लिए धर्मकथा मन में लाओ। (यानी अब तुम धर्मकथा कहो।)

पिट्ठि मे आगिळायति – मेरी पीठ दुख रही है।

तमहं आयमिस्सामि – मैं इसे विश्राम दूँगा। (अ० नि० ३.१०.६७, पठमनळकपानसुत्त)

कपिलवस्तु –पावा

इसी प्रकार भगवान ने एक बार कपिलवस्तु में शाक्यों के नये बने संस्थागार में (म० नि० २.२२, सेखसुत्त) और एक बार पावा में मल्लों के नये बने संस्थागार में (दी० नि० ३.३००, सङ्गीतिसुत्त) प्रवचन देते हुए अपनी पीठ दुखने की शिकायत की और कहा –

तमहं आयमिस्सामि – इसे मैं विश्राम दूँगा ।

भयंकर पीड़ादायक रोग

राजगृह में कुछ दिनों विहार कर भगवान चारिका करते हुए वैशाली पहुँचे। वहां अंबपाली के आम्रवन में कुछ समय रुक कर वेलुवग्राम आये। यहीं उन्होंने वर्षावास किया। यह उनके भिक्षु-जीवन का अंतिम वर्षावास था। लगभग अस्सी वर्ष का शरीर जरा-जीर्ण था, दुर्बल था। इस वर्षावास के दौरान –

अथ खो भगवतो वस्सूपगतस्स खरो आबाधो उप्पज्जि, बाळ्हा वेदना वत्तन्ति मारणन्तिका।

–तब भगवान को वर्षावास में भयंकर रोग हुआ, जिसके कारण प्रबल मरणांतक पीड़ा होने लगी।

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो।

– भगवान ने उसे **सतो सम्पजानो** यानी स्मृतिमान और संप्रज्ञानी हो, बिना विचलित हुए स्वीकार कर सहन किया।

भगवान ने देखा शरीर छोड़ने के लिए न यह उचित स्थान है, न समय। अतः इच्छा-मृत्यु की शक्ति से संपन्न तथागत ने निर्णय किया कि

यंनूनाहं इमं आबाधं वीरियेन पटिपणामेत्वा जीवितसङ्खारं अधिट्ठाय विहरेय्यं।

– उस व्याधि को बलपूर्वक हटा कर, जीवनी-शक्ति को अधिष्ठान द्वारा धारण कर विहार करने लगे।

यह व्याधि इतनी तीव्र थी कि किसी को उनके बचने की आशा नहीं रह गयी थी। आनंद बहुत चिंतित थे। भगवान को स्वस्थ देख वह प्रसन्न हुए और बोले कि भगवान की रुग्ण अवस्था के समय –

मधुरकजातो विय कायो – मेरा शरीर मद्यप की भाँति संज्ञा-शून्य होकर लड़खड़ाने लगा था,

दिसापि मे न पक्खायन्ति – मुझे दिशाएं भी नहीं सूझ रही थीं,

धम्मापि मं न पटिभन्ति भगवतो गेलञ्ञेन। (दी० नि० २.१६४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– भगवान की बीमारी के कारण मुझे धर्मों का भी प्रतिभान नहीं हो रहा था।

आनंद अभी शैक्ष्य थे। अरहंत अवस्था तक नहीं पहुँचे थे। परंतु भगवान तो भगवान थे। **अविहञ्ञमानो** अर्थात अविचलित ही रहे।

चुंद भोजन

ऐसे ही एक भयंकर एवं कष्टदायक रोग से भगवान पुनः रुग्ण हुए।

भगवान ने वैशाली में विहार करते हुए आयु-संस्कार का त्याग कर तीन महीने पश्चात, यानी आगामी वैशाख पूर्णिमा को शरीर छोड़ने का निर्णय किया था। इस निमित्त उन्होंने कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में चुंद कर्मार-पुत्र के घर भोजन ग्रहण किया। परिणामस्वरूप –

खरो आबाधो उप्पज्जि, लोहितपक्खन्दिका पबाळ्हा वेदना वत्तन्ति मारणन्तिका।

(दी० नि० २.१९०, महापरिनिब्बानसुत्त)

– खून गिरने का कष्टदायक रोग उत्पन्न हुआ, जिससे प्रबल मरणांतक वेदनाएं होने लगीं।

भगवान अपने साधकों को सिखाते थे –

तस्मातिह ते, गहपति, एवं सिक्खितब्बं – 'आतुरकायस्स मे सतो चित्तं अनातुरं भविस्सती'ति।
(सं० नि० २.३.१, नकुलपितुसुत्त)

– हे गृहपति (नकुल पिता), तुम्हें यही सीखना चाहिए कि 'शरीर रोगी हो जाय तो भी चित्त निरोगी ही रहे'।

भगवान जो सिखाते थे, वही स्वयं पालते भी थे। इसीलिए –

ता सुदं भगवा सतो सम्पजानो अधिवासेसि अविहञ्ञमानो। (दी० नि० २.१६४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– भगवान इस मरणांतक शारीरिक पीड़ा को **सतो सम्पजानो** और **अविहञ्ञमानो** हो स्वीकार कर, सहन करते रहे।

मिथ्या मान्यता

कुछ लोगों की यह मिथ्या मान्यता थी कि युवावस्था में ही प्रज्ञा प्रखर रहती है, चैतन्य-निपुणता बनी रहती है; परंतु ८० या १०० वर्ष की उम्र हो जाने पर सबकी मति मारी जाती है, प्रज्ञा क्षीण हो जाती है, निपुणता नष्ट हो जाती है। भगवान ने इस मान्यता का खंडन किया और स्वयं अपना तथा अपने शिष्यों का उदाहरण देकर समझाया –

अहं खो पन, सारिपुत्त, एतरहि जिण्णो, वुद्धो, महल्लको, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो।

– सारिपुत्त, मैं इस समय जरा-जीर्ण, वृद्ध, बूढ़ा, पकी उम्र का वय:प्राप्त व्यक्ति हूं।

आसीतिको मे वयो वत्तति – मेरी उम्र अस्सी वर्ष की है।

और केवल मैं ही नहीं,

चत्तारो सावका – ये चार श्रावक शिष्य हैं, जो कि –

वस्ससतायुका वस्ससतजीविनो – शतायु हैं, सौ वर्ष का जीवन जी रहे हैं।

परमाय सतिया च, गतिया च, धितिया च, समन्नागता,

– परम स्मृति से, गति से, धृति से समन्वित हैं और –

परमेन च पञ्ञावेय्यत्तियेन – स्पष्ट परम प्रज्ञा समन्वित हैं। (म० नि० १.१६१, महासीहनादसुत्त)

किसी भी बुद्ध की रूपकाया भले श्रांत और क्लांत हो जाय, पर धर्मकाया स्मृति और संप्रज्ञान से सदैव परिपूर्ण रहती है। अतः सर्वथा स्वस्थ रहती है।

रूपकाया दुर्बल; धर्मकाया सबल

जरा और व्याधि से शरीर अत्यंत थक गया था। अतः कुशीनगर की ओर जाते हुए किसी एक वृक्ष के नीचे रुक कर भगवान ने आनंद से कहा –

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, चतुग्गुणं सङ्घाटिं पञ्ञपेहि। किलन्तोस्मि, आनन्द, निसीदिस्सामि।

– हे आनंद, संघाटी चौपरती करके बिछा दो। मैं थक गया हूं, बैठूंगा।

जरावस्था के साथ-साथ, रक्तातिसार के कारण भी शरीर अत्यंत कृश, दुर्बल और असहाय हो गया था। प्यास लगी, तो पानी मांगा –

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, पानीयं आहर। पिपासितोस्मि, आनन्द, पिविस्सामि।

(दी० नि० २.१९१, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आ आनंद, तुम मेरे लिए पानी ले आओ। प्यासा हूं, आनंद, पानी पीऊंगा।

आनंद चाहते थे कि भगवान यहां का पानी न पीयें, क्योंकि यहां जो नदी थी, वह छिछले जल वाली थी और अभी-अभी उस पर से पांच सौ बैलगाड़ियां गुजरी थीं। परिणामतः चक्कों से मथा जाकर पानी मैला हो गया था। कुछ दूर जाने पर ककुत्था नदी मिलेगी, जिसका पानी बड़ा स्वच्छ और निर्मल होगा। परंतु भगवान ने यहीं पानी पीने का आग्रह किया। उन्हें बहुत प्यास लगी थी। संभवतः प्रबल पेचिश के कारण शरीर में जल तत्व की कमी हो गयी थी। रूपकाया तो आखिर रूपकाया है, प्रकृति के नियमों के अधीन है। यह अलग बात है कि जब आनंद पानी लेने गये, तो धर्मकाया के तेज-बल से उस नदी का पानी शांत हो गया था, मैल नीचे बैठ गया था और आनंद को भगवान के लिए स्वच्छ, निर्मल जल उपलब्ध हो गया।

मल्लपुत्र पुक्कुस

रूपकाया की इस दुर्बल और रुग्ण अवस्था में भी भगवान की धर्मकाया पूर्ण स्वस्थ थी। रास्ते में भगवान एक वृक्ष तले विश्राम के लिए बैठे। पुक्कुस नामक मल्लपुत्र उस रास्ते से गुजरा। भगवान को देख उनके समीप आया और नमन करके समीप बैठ गया। भगवान की रूपकाया क्लांत थी, परंतु धर्मकाया पूर्ण स्वस्थ थी। उन्होंने पुक्कुस मल्लपुत्र को धर्मोपदेश दिया। उसकी शंकाओं का समाधान करते हुए छहों इंद्रियों के परे निर्वाणिक अवस्था समझाते हुए अपने जीवन का एक अनुभव सुनाया। मल्लपुत्र पुक्कुस अत्यंत प्रभावित हुआ और फलस्वरूप भगवान का अंजलिबद्ध अनुगामी बना। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान को सुवर्ण वर्ण का एक जोड़ा दुशाला अर्पित किया। भगवान ने उसमें से एक आनंद को देने के लिए कहा। पुक्कुस एक दुशाला भगवान को और एक आनंद को ओढ़ा कर, प्रसन्नचित्त, नमस्कार करता हुआ चला गया।

दो अवसरों पर रूपकाया प्रभापूर्ण

थोड़ी देर बाद आनंद ने अपना दुशाला भी भगवान को ओढ़ा दिया। उस समय आनंद ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि भगवान की वृद्ध, जर्जरित रुग्ण काया एक बार फिर पूर्ववत स्वर्ण-वर्ण होकर कांतिमय हो उठी है। आनंद ने अपना विस्मय प्रकट किया। भगवान ने उसका समाधान करते हुए कहा –

एवमेतं, आनन्द, द्वीसु कालेसु अतिविय तथागतस्स कायो परिसुद्धो होति छविवण्णो परियोदातो।

– ऐसा ही होता है आनंद, दो अवसरों पर तथागत की काया का वर्ण अत्यंत परिशुद्ध और कांतिमय हो उठता है।

कतमेसु द्वीसु – किन दो अवसरों पर?

यञ्च आनन्द, रत्तिं तथागतो अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुज्झति,

– आनंद, जिस रात तथागत अनुत्तर, अनुपम सम्यक संबोधि का संबोध प्राप्त करते हैं, और दूसरे -

यञ्च रत्तिं अनुपादिसेसाय निब्बानधातुया परिनिब्बायति। (दी० नि० २.१९५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– जिस रात तथागत उपादि रहित यानी आवागमन के उपादान रहित महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं।

जब बोधिवृक्ष के तले सम्यक संबोधि उपलब्ध होती है और इंद्रियातीत निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार होता है तब –

विसङ्खारगतं चित्तं...।

– नया भव प्रदान करने वाले सभी संस्कारों से चित्त विमुक्त हो जाता है। बोधिसत्त्व की लंबी भवयात्रा की तपस्या सफलीभूत होती है। वे भवमुक्त होते है। सचमुच धर्मकाया का यह परम उज्ज्वल अवसर होता है और धर्मकाया की यह उज्ज्वलता रूपकाया पर भी प्रभासित होती है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है, परंतु इसमें रूप और नाम के पंच-स्कंधों की उपादि साथ चलती है। अतः इसे सोपधिशेष निर्वाण कहते हैं। महापरिनिर्वाण के समय यह उपादि भी छूट जाती है।

अभेदि कायो – काया का भेदन हो गया,

निरोधि सञ्ञा – संज्ञा निरुद्ध हो गयी,

वेदना सीतिभविंसु सब्बा – सारी वेदनाएं शीतलीभूत हो गयीं, शांत हो गयीं,

वूपसमिंसु सङ्खारा – संस्कारों का उपशमन हो गया,

विञ्ञाणं अत्थमागमा – विज्ञान का अस्तगमन हो गया। (उदा० ७९, पठमदब्बसुत्त)

इस तरह नाम और रूप के पांचों स्कंध समाप्त हो जाते हैं। सारी उपधि समाप्त हो जाती है। यह निरुपधि-शेष निर्वाण की अवस्था अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है। यह तथागत की चरम उपलब्धि है। यह समय जैसे-जैसे समीप आता है, धर्मकाया समुज्ज्वलित हो, रूपकाया पर प्रकट होती है।

हम देखते हैं, वह समय समीप आ रहा है। आज की रात समाप्त होते ही भगवान का महापरिनिर्वाण होगा। ककुत्था नदी के स्वच्छ, शीतल जल में भगवान ने स्नान किया और फिर भिक्षु चुंदक से कहा –

इङ्घ मे त्वं, चुन्दक, चतुग्गुणं सङ्घाटिं पञ्ञपेहि। किलन्तोस्मि, चुन्दक, निपज्जिस्सामि।

(दी० नि० २.१९६, महापरिनिब्बानसुत्त)

–अहो, चुंदक, मेरे लिए संघाटी चौपरती करके बिछा दो। मैं थक गया हूं, लेटूंगा।

धर्मकाया की महाकरुणा

रूपकाया प्रभापूर्ण थी, कांतिमयी थी, परंतु क्लांत थी, थकी थी। उसे बिछी चौपरती संघाटी पर कुछ देर लेटा कर विश्राम दिया गया। उसे विश्राम की आवश्यकता थी। परंतु धर्मकाया पूर्ववत सबल-स्वस्थ थी, वह केवल प्रभास्वर ही नहीं थी, बल्कि उसमें से अपरिमित करुणा प्रवहमान हो रही थी। सुबह के भोजनदाता चुंद कर्मार-पुत्र की भगवान को याद आयी। भोले लोग समझेंगे नहीं। उस बेचारे की भर्त्सना करेंगे कि तूने कैसा भोजन खिलाया, जिससे भगवान परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। यह सुन कर चुंद दुःखी होगा।

इसका ध्यान आते ही धर्मकाया करुणा-विगलित हो उठी। भगवान ने आनंद से कहा– आनंद, चुंद कर्मार-पुत्र की चिंता दूर करना। उसे इस प्रकार समझाना।

तस्स ते आवुसो, चुन्द, लाभा, तस्स ते सुलद्धं, यस्स ते तथागतो पच्छिमं पिण्डपातं परिभुञ्जित्वा परिनिब्बुतो।

– आयुष्मान चुंद, यह लाभ है तेरा। तूने यह बड़ा सुलाभ कमाया क्योंकि तेरा भिक्षा-दान तथागत का अंतिम भोजन हुआ, जिसे ग्रहण कर वे परिनिवृत्त हुए।

भगवान ने आनंद से कहा– चुंद को समझाना कि तथागत को दी गयी दो समय की भिक्षा महाफलदायी होती है। एक तो वह भिक्षा जिसे ग्रहण कर तथागत सम्यक संबोधि प्राप्त करते हैं और दूसरी वह जिसे ग्रहण कर निरुपधिशेष निर्वाण-धातु को प्राप्त हो परिनिवृत्त होते हैं।

चुन्दस्स, आनन्द, कम्मारपुत्तस्स एवं विप्पटिसारो पटिविनेतब्बो। (दी० नि० २.१९७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– हे आनंद, इस प्रकार चुंद कर्मार-पुत्र की चिंता दूर करनी चाहिए।

धन्य है करुणामयी धर्मकाया!

रूपकाया का पूजन

धर्मकाया के धनी तथागत का ऐसा ही एक और करुणा-सिंचित दृश्य–

कुछ दूर और चल कर कुशीनगर के समीप हिरण्यवती नदी के तीर पर मल्लों का शालवन था। जब वहां पहुँचे, तब भगवान ने आनंद से कहा–

इङ्घ मे त्वं, आनन्द, अन्तरेन यमकसालानं उत्तरसीसकं मञ्चकं पञ्ञपेहि।

– आओ आनंद, इन दो जुड़वां शाल वृक्षों के बीच में उत्तर की ओर सिरहाना करके मंचक (चारपाई) रख दो।

किलन्तोस्मि, आनन्द, निपज्जिस्सामि। – थका हूं आनंद, लेटूंगा।

जरा-जीर्ण रूपकाया सचमुच थकी थी। उसे विश्राम चाहिए था। परंतु धर्मकाया पूर्णतया प्रभास्वर थी, स्वस्थ थी, सबल थी। महापरिनिर्वाण का समय समीप आया देख कर आनंद ने भगवान से पूछा–

कथं मयं, भन्ते, तथागतस्स सरीरे पटिपज्जामाति?

– भंते, हम तथागत के शरीर के प्रति कैसे व्यवहार करें?

भगवान ने उत्तर दिया—

अब्यावटा तुम्हे, आनन्द, होथ तथागतस्स सरीरपूजाय।

– आनंद, तुम तथागत के शरीर-पूजा में मत उलझना।

इङ्घ तुम्हे, आनन्द, सारत्थे घटथ अनुयुञ्जथ; सारत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ।

(दी० नि० २.१९८, २०४, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, अच्छा यहि है कि तुम सब सार प्राप्त करने में लग जाना। अप्रमादी और आत्म-संयमी होकर सार के लिए तप करना। तुम्हारे लिए यही करणीय है।

रूपकाया और स्तूप

तथागत की निष्प्राण रूपकाया की दाहक्रिया करके बचे हुए अस्थि-अवशेष के लिए भगवान का निर्देश था–

चातुमहापथे तथागतस्स थूपो कातब्बो।

– तथागत के (अस्थि-अवशेष की) स्थापना के लिए बड़े चौराहे पर स्तूप बनाना चाहिए।

वहां आकर कृतज्ञ नागरिक पुष्प-माला, गंध आदि चढ़ाते हुए अपने मन में तथागत के प्रति श्रद्धाजनित प्रसन्नता जगायेंगे।

तेसं तं भविस्सति दीघरत्तं हिताय सुखाय। (दी० नि० २.२०५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– वह चिरकाल तक उनके हित, सुख के लिए होगा।

कृतज्ञताभरी श्रद्धा से जब कोई अपने मन में निर्मल प्रसन्नता जगाता है तो उस पुण्यकर्म का फल भी स्वभावतः प्रसन्नता-प्रदायक ही होता है।

तथागत की रूपकाया के अस्थि-अवशेषों को यों स्तूपों में निधान कर सुरक्षित रखने का एक अन्य लाभ यह भी होता है कि उनके एक हाड़-मांस वाले ऐतिहासिक महापुरुष होने की सच्चाई का प्रमाण चिरकाल तक स्वतःसिद्ध रहता है। उन्हें एक काल्पनिक पौराणिक व्यक्ति मानने का भ्रम दूर होता है।

यही नहीं, सहस्रों वर्षों तक जन-साधारण को तथागत के प्रति कृतज्ञता भरे श्रद्धा-सुमन चढ़ाते हुए वंदना करने का पुण्य अवसर मिलता रहता है।

विशिष्ट लाभ

इसके अतिरिक्त गंभीर विपश्यी साधकों को उस अद्भुत रूपकाया के अस्थि-अवशेषों से निरंतर प्रस्फुटित होती हुई निर्मल निःस्पृहता की धर्मतरंगों के सान्निध्य में साधना करने का ठोस लाभ मिलता रहता है। रूपकाया में अंतर्निहित धर्मकाया की पावन तरंगों का लाभ लेना ही बुद्ध-वंदना की सार्थकता है। शरीर-पूजन की तुलना में इसका लाभ अपरिमित है। इसीलिए तथागत ने आनंद को शरीर-पूजन के स्थान पर **अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ** का प्रेरणाजनक उपदेश दिया। वास्तविक बुद्ध-वंदना तो यही है।

एक पूर्व अवसर पर इसे स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा था–

आरद्धवीरिये पहितत्ते, निच्चं दळ्हपरक्कमे।
समग्गे सावके पस्स, एतं बुद्धानवन्दनं॥

(अप० थेरी २.२.१७१, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

– एकत्र हो वीरतापूर्वक नित्य दृढ़ पराक्रम में लगे हुए इन ध्यानी श्रावकों को देखो। (यों निष्ठापूर्वक साधना में जुट जाना) यही सही बुद्ध-वंदना है।

रूपकाया में समायी हुई धर्मकाया ही वास्तविक बुद्ध-काया है। धर्मानुपश्यना द्वारा ही विपश्यी साधक इस धर्मकाया की वंदना करता है। साधकों के लिए यही करणीय है।

आनंद को सांत्वना

महापरिनिर्वाण का समय और समीप आ रहा था। आनंद अभी शैक्ष्य ही थे। अरहंत नहीं हो पाये थे, इस कारण बहुत व्यथित थे। भगवान ने उन्हें समीप बुलाया और ढाढ़स बँधाते हुए कहा –

दीघरत्तं खो ते, आनन्द, तथागतो पच्चुपट्ठितो मेत्तेन कायकम्मेन... मेत्तेन वचीकम्मेन... मेत्तेन मनोकम्मेन हितेन सुखेन अद्वयेन अप्पमाणेन।

– आनंद, तूने दत्तचित्त होकर, चिरकाल तक अकेले, अपरिमित हितसुख के लिए मैत्रीपूर्ण कायिककर्म द्वारा, मैत्रीपूर्ण वाचिककर्म द्वारा, मैत्रीपूर्ण मनोकर्म द्वारा तथागत की सेवा की है।

कतपुञ्ञोसि त्वं, आनन्द – आनंद, तुम कृत-पुण्य हो।

पधानमनुयुञ्ज, खिप्पं होहिसि अनासवोति। (दी० नि० २.२०७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– अब प्रधान (परिश्रम) पराक्रम में लगो। शीघ्र अनास्रव हो जाओ।

रूपकाया की सेवा तो बहुत की। अब विपश्यना द्वारा धर्मकाया की वंदना में लग जाना चाहिए। आनंद को महाकारुणिक भगवान की इस प्रेरणामयी वाणी से बड़ा धैर्य और संबल मिला। आगे जा कर आनंद भी अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

सुभद्र पर करुणा बरसी

उस समय कुशीनारा में रहने वाले सुभद्र नामक परिव्राजक ने सुना कि आज रात के पिछले याम के अंत में भगवान का महापरिनिर्वाण होगा। समय समीप आया देख कर, वह भगवान से धर्म सीखने के लिए चला आया। आनंद ने उसे रोका।

अलं, आवुसो सुभद्द – बस करो, आवुस सुभद्र,

मा तथागतं विहेठेसि – भगवान को कष्ट मत दो।

किलन्तो भगवा – भगवान थके हैं।

– तीन बार सुभद्र ने भगवान से मिलने की याचना की। तीनों बार आनंद ने उसे रोका।

यह कथा-संलाप भगवान के कानों में पड़ा। कोई धर्मगंगा के किनारे अपनी प्यास बुझाने आया है और उसे रोका जा रहा है। करुणा की धर्मगंगा में बाढ़ आ गयी। भगवान ने अपनी रूपकाया की असुविधा की उपेक्षा कर आनंद को आदेश दिया –

अलं, आनन्द, मा सुभद्दं वारेसि – बस करो, आनंद, सुभद्र को मत रोको,

लभतं, आनन्द, सुभद्दो तथागतं दस्सनाय – सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो।

यं किञ्चि मं सुभद्दो पुच्छिस्सति, सब्बं तं अञ्ञापेक्खोव पुच्छिस्सति, नो विहेसापेक्खो।

– सुभद्र मुझसे जो कुछ पूछेगा, परम ज्ञान की अपेक्षा से ही पूछेगा, मुझे कष्ट देने की अपेक्षा से नहीं।

और फिर कहा –

यञ्चस्साहं पुट्ठो ब्याकरिस्सामि, तं खिप्पमेव आजानिस्सति। (दी० नि० २.२१२-२१३, महापरिनिब्बानसुत्त)

– पूछने पर मैं जो अभिव्यक्त करूंगा, उसे वह शीघ्र ही जान लेगा।

और यही हुआ।

भाग्यशाली सुभद्र ने भगवान की रूपकाया का नहीं, धर्मकाया का दर्शन किया। उन महाकारुणिक से धर्म सीखा और उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर कृत-कृत्य हुआ।

महापरिनिर्वाण के समीपवर्ती क्षणों में भी किसी एक मुमुक्षु का भला हो जाय, तथागत की धर्मकाया की यही करुण धर्मचेतना बनी रही।

अंतिम वचन

शरीर छोड़ने के पहले भगवान के अंतिम वचन थे –

हन्द दानि, भिक्खवे, आमन्तयामि वो – भिक्षुओ, तुम्हें आमंत्रित करता हूं। आओ, मेरी बात ध्यान से सुनो।

वयधम्मा सङ्खारा – सारे संस्कार (यानी जो कुछ बनते हैं वे सभी) व्ययधर्मा हैं, विनाशधर्मा हैं,

अप्पमादेन सम्पादेथ। (दी० नि० २.२१८, महापरिनिब्बानसुत्त)

– अप्रमत्त होकर इस सत्य का (भावनामयी प्रज्ञा के द्वारा) संपादन करते रहो यानी इसे अनुभूति पर उतारते रहो।

भावी विपश्यी साधकों के लिए भगवान की यह अनमोल विरासत थी।

इच्छा मृत्यु

भगवान को इच्छा-मृत्यु की शक्ति प्राप्त थी। तभी वैशाली में विहार करते हुए उन्होंने कहा था –

... आकङ्खमानो, आनन्द, तथागतो कप्पं वा तिट्ठेय्य कप्पावसेसं वा। (अ० नि० ३.८.७०, भूमिचालसुत्त)

– आनंद, यदि तथागत चाहें तो (जीवन) कल्प तक अथवा उससे भी अधिक समय तक जीवित रह सकते हैं। (उन दिनों का जीवन कल्प १०० वर्ष का था। कुछ लोग १२० वर्ष तक भी जीवित रहते थे।)

योगियों में चक्रवर्ती तथागत योगबल से कुछ लंबे समय तक भले जी लें, परंतु अंततः देह-च्युति होती ही है। काल के गाल से कोई नहीं बच सकता।

अतः भगवान ने देह-च्युति का संकल्प किया –

इतो तिण्णं मासानं अच्चयेन तथागतो परिनिब्बायिस्सति।

– आज से तीन मास पश्चात तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे।

उम्र पकने पर सबको जाना पड़ता है। यह देह-धर्म अपरिहार्य है।

परिपक्को वयो मय्हं, परित्तं मम जीवितं।

– मेरी आयु पक गयी, मेरा जीवन थोड़ा बचा है।

पहाय वो गमिस्सामि, कतं मे सरणमत्तनो। (दी० नि० २.१८५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– मैं तुम्हें छोड़कर जाऊंगा। मेरे लिए जो आत्मशरण का काम था, सो मैंने कर दिया।

इस प्रकार तीन महीने पूर्व इच्छा-मृत्यु के बल पर देह त्यागने का जो संकल्प लिया था, उसके पूर्ण होने का समय समीप आ गया।

अतः भगवान पहले से आठवें और फिर आठवें से पहले ध्यान की समापत्तियों में से गुजरे। पुनः पहली से चौथी ध्यानसमापत्ति की साधना में समाहित होकर महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। यह ठीक ही कहा गया कि –

सीलं समाधि पञ्ञा च, विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा, गोतमेन यसस्सिना॥

इति बुद्धो अभिञ्ञाय, धम्ममक्खासि भिक्खुनं।
दुक्खस्सन्तकरो सत्था, चक्खुमा परिनिब्बुतो॥ (अ० नि० १.४.१, अनुबुद्धसुत्त)

– यशस्वी गौतम ने शील, समाधि, प्रज्ञा तथा श्रेष्ठतम विमुक्ति का बोध प्राप्त किया। बुद्ध ने यह अभिज्ञान प्राप्त कर भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया और फिर दुःख का अंत करने वाले चक्षुमान शास्ता परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।

सच है –

योपि वस्ससतं जीवे, सोपि मच्चुपरायणो।
न किञ्चि परिवज्जेति, सब्बमेवाभिमद्दति॥ (सं० नि० ३.५.५११, जराधम्मसुत्त)

– चाहे कोई सौ वर्ष जीये तो भी मृत्युपरायण ही होता है। मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती। सबको पीस देती है, सबका मर्दन कर देती है।

और यह भी सच है –

जीरन्ति वे राजरथा सुचित्ता, अथो सरीरम्पि जरं उपेति।
सतञ्च धम्मो न जरं उपेति, सन्तो हवे सब्भि पवेदयन्ति॥

(सं० नि० १.१.११४, जरामरणसुत्त)

– खूब सजे-धजे, सुचित्रित राजरथ भी समय पाकर जर्जरित हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीर भी जीर्णता को प्राप्त होता है। लेकिन संतों का धर्म जर्जरित नहीं होता। संत सज्जनों को यही प्रज्ञप्त करते हैं।

सचमुच संतों द्वारा प्रज्ञापित सार्वजनीन सनातन आर्य धर्म न जर्जरित होता है, न कालकवलित होता है। आर्य-धर्म ही तथागत की धर्मकाया है। तथागत की वाणी अर्थात **परियत्ति** , उसके अनुसार किया गया आचरण यानी **पटिपत्ति** और उस प्रकार जीवन जी कर अविद्या का भेदन कर विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार यानी **पटिवेधन** , यही सत्य-धर्म है, सद्धर्म है, संत-धर्म है, सार्वजनीन सनातन आर्य धर्म है।

यही भगवान की धर्मकाया है।

आओ, भगवान धर्मकाया को देखें, समझें – वह धर्मकाया जो सारे तिपिटक में समायी हुई है, जिससे सारा तिपिटक सराबोर है; सुरभित है; सुवासित है और समृद्ध है।

धर्मकाया

धर्मकाया

बत्तीस महापुरुष लक्षणों वाले किसी व्यक्ति का संसार में आविर्भाव दुर्लभ है। उसका उत्पन्न होना बड़े महत्त्व की बात है। परंतु उससे कहीं अधिक महत्त्व की बात है ऐसे व्यक्ति का धर्मकाया लिए हुए उत्पन्न होना। धर्मकाया ने ही बुद्ध को 'बुद्ध' बनाया, अन्यथा ऐसी रूपकाया वाला व्यक्ति एक चक्रवर्ती सम्राट बन कर रह जाता; एक अद्भुत भौतिक शरीर-सौंदर्य का भव्य प्रदर्शन मात्र बन कर रह जाता। परंतु जब ऐसे व्यक्ति का बुद्ध के रूप में आविर्भाव होता है तो मानो मूर्तिमान धर्म का प्रादुर्भाव होता है, जीवंत धर्म का आविर्भाव होता है। बुद्ध का व्यक्तित्व धर्ममय हो गया तो दूसरे शब्दों में यों कहें – बुद्ध के रूप में धर्म का मानवीकरण हो गया। बुद्ध का व्यक्तित्व बोधिमय हो गया तो दूसरे शब्दों में यों कहें – बुद्ध के रूप में बोधि का मानवीकरण हो गया।

जब कोई व्यक्ति बुद्ध होता है तो वह **धम्मकायो, धम्मभूतो** होता है; **ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** होता है। इसीलिए कहा गया है –

तथागतस्स हेतं, वासेट्ठ, अधिवचनं धम्मकायो इतिपि, ब्रह्मकायो इतिपि, धम्मभूतो इतिपि, ब्रह्मभूतो इतिपि।
(दी० नि० ३.११८, अग्गञ्ञसुत्त)

– हे वासिष्ठ, **धम्मकायो, ब्रह्मकायो, धम्मभूतो, ब्रह्मभूतो** – ये तथागत के ही अधिवचन हैं यानी समानार्थी, पर्यायवाची शब्द हैं।

एक घटना –

भगवान ने कुछ एक भिक्षुओं को संक्षेप में उपदेश दिया, जिसे विस्तार से समझ सकने के लिए वे स्थविर महाकात्यायन के पास गये। उन्होंने कहा कि जिन्हें सार खोजना हो, वे वृक्ष के मूल और तने को छोड़ कर डालियों और पत्तों में क्या ढूंढने आये हैं? भगवान के रहते इस उपदेश का अर्थ मुझसे क्यों पूछने आये हो? इस प्रसंग में उन्होंने भगवान के बारे में कहा –

सो हावुसो, भगवा जानं जानाति, पस्सं पस्सति, चक्खुभूतो ञाणभूतो धम्मभूतो ब्रह्मभूतो वत्ता पवत्ता अत्थस्स निन्नेता अमतस्स दाता धम्मस्सामी तथागतो। (म० नि० ३.२८१, महाकच्चानभद्देकरत्तसुत्त)

– आयुष्मान, यह भगवान जाननहार हैं, जानते हैं, देखनहार हैं, देखते हैं। (भगवान) चक्षुभूत हैं, ज्ञानभूत हैं, धर्मभूत हैं, (अनंत श्रेष्ठता स्वरूप) ब्रह्मभूत हैं; वक्ता हैं, प्रवक्ता हैं, अर्थ के निर्णेता हैं (निर्णायक हैं), अमृत के दाता हैं; धर्मस्वामी तथागत हैं।

महाकात्यायन जैसे भगवान के प्रमुख शिष्य नये-नये भिक्षुओं के आग्रह पर उनके लिए कभी-कभी भगवान की वाणी का स्पष्टीकरण और विशदीकरण कर दिया करते थे। तो भी हम देखते हैं कि अनेक बार भिक्षु भगवान से ही स्पष्टीकरण मांगते हुए कहते थे –

भगवंमूलका नो, भन्ते, धम्मा भगवंनेत्तिका भगवंपटिसरणा। (सं० नि० १.२.१४६, चन्दूपमसुत्त)

– हमारे लिए भगवान धर्मों के मूल हैं, भगवान धर्म के नेता हैं, भगवान प्रतिशरण हैं।

सचमुच भगवान धर्म के मूल हैं, धर्म के सार हैं, क्योंकि वे धर्मभूत हैं यानी साक्षात धर्म ही हैं। सभी बुद्ध धर्मभूत होते हैं, धर्मसमन्वित होते हैं और सत्य धर्म प्रकाशित करते हैं।

येहायं देसितो धम्मो, धम्मभूतेहि तादिभि। (थेरगा० ४९१, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– उन धर्मभूत बुद्धों ने इस धर्म का उपदेश दिया है।

धर्मभूत हैं, तो शुद्ध धर्म का ही उपदेश देंगे। चक्षुभूत हैं, तो धर्मचक्षु ही देंगे। आलोकभूत हैं, तो धर्मालोक ही देंगे।

पञ्ञं इमं पस्स तथागतानं, अग्गि यथा पज्जलितो निसीथे।
आलोकदा चक्खुददा भवन्ति, ये आगतानं विनयन्ति कङ्खन्ति॥

(थेरगा० ३, कङ्खारेवतत्थेरगाथा)

– अँधेरी रात में प्रज्वलित अग्नि के समान तथागतों की इस प्रज्ञा को देखो। वे आलोक देने वाले हैं, ज्ञानचक्षु देने वाले हैं, आने वालों की शंकाओं को दूर करने वाले हैं।

चक्षुभूत हैं, इसलिए चक्षुदाता हैं और अपने धर्मपुत्रों को चक्षुमान बनाते हैं।

यञ्चम्हि पुत्तो बुद्धस्स, यञ्च धम्मेसु चक्खुमा। (थेरगा० २९५, राहुलत्थेरगाथा)

– क्योंकि मैं बुद्ध का पुत्र हूं, धर्म के क्षेत्र में चक्षुमान हूं।

धर्मकाया अपरिमित

भगवान बुद्ध की रूपकाया प्रमाणवाली होती है, परिमित तथा ससीम होती है। परंतु धर्मकाया अप्रमाणवाली होती है, अपरिमित तथा असीम होती है क्योंकि धर्म अप्रमेय होता है, अपरिमित एवं असीम होता है – **अप्पमाणो धम्मो।**

अपरिमित धर्म को धारण करने वाले की धर्मकाया भी अपरिमित होती है और इसीलिए **धम्मभूतो** बुद्ध भी अपरिमित होते हैं – **अप्पमाणो बुद्धो।** (चूळव० २५१, खुद्दकवत्थूनि)

जिस भौतिक रूपस्कंध के कारण बुद्ध 'बुद्ध' के नाम से जाने जाते हैं, जिस वेदनास्कंध अथवा संज्ञास्कंध अथवा संस्कारस्कंध अथवा विज्ञानस्कंध, इन चारों नामस्कंधों के कारण बुद्ध 'बुद्ध' के नाम से जाने जाते हैं, निर्वाणिक अवस्था में उनके ये पांचों स्कंध निरुद्ध हो जाते हैं। इन स्कंधों के –

पहीनं उच्छिन्नमूलं तालावत्थुकतं अनभावङ्कतं आयतिं अनुप्पादधम्मं,

– प्रहीण हो जाने से, जड़ से उखड़ जाने से, सिर कटे ताड़ जैसे हो जाने से, अभाव को प्राप्त हो जाने से, भविष्य में बिल्कुल उत्पन्न न होने लायक हो जाने से –

विमुत्तो खो, वच्छ, तथागतो – हे वत्स, तथागत मुक्त हो गये तथा मुक्त होकर वे –

गम्भीरो अप्पमेय्यो दुप्परियोगाळ्हो – सेय्यथापि महासमुद्दो। (म० नि० २.१९२, अग्गिवच्छसुत्त)

– समुद्र सदृश गंभीर हैं, गहन हैं, अप्रमेय हैं, दुष्पर्यवगाह्य हैं, अगाध हैं।

बुद्ध अप्रमेय और अगाध ही नहीं, अनमोल भी हैं, क्योंकि अनमोल धर्मरत्न में समाहित हैं। ऐसा धर्म जो कि –

खयं विरागं अमतं पणीतं, यदज्झगा सक्यमुनी समाहितो।
न तेन धम्मेन समत्थि किञ्चि, इदम्पि धम्मे रतनं पणीतं॥(सु० नि० २२७, रतनसुत्त)

– समाहित चित्त होकर उन शाक्यमुनि भगवान बुद्ध ने जो आस्रवक्षय, रागविनष्ट, अमृत अवस्था उपलब्ध की, उस लोकोत्तर निर्वाण-धर्म के समान अन्य कुछ भी नहीं है। सचमुच ऐसा श्रेष्ठ रत्न है धर्म में।

धर्म का ऐसा अनमोल रत्न पाकर ही बुद्ध-काया धर्मकाया बनी और स्वयं अनमोल हुई।

यं किञ्चि वित्तं इध वा हुरं वा, सग्गेसु वा यं रतनं पणीतं।
न नो समं अत्थि तथागतेन, इदम्पि बुद्धे रतनं पणीतं।(सु० नि० २२६, रतनसुत्त)

– इस लोक में या परलोक में जो भी धन-संपत्ति है, अथवा स्वर्गों में जो भी अमूल्य रत्न हैं, उनमें से कोई भी तथागत बुद्ध के समान श्रेष्ठ नहीं है। सचमुच ऐसा उत्तम रत्न है बुद्ध में।

इस उत्तम धर्मरत्न के कारण ही बुद्ध 'बुद्ध' हैं, उनकी काया धर्मकाया है जो कि अनमोल है, पूज्य है, प्रणम्य है, वरेण्य है। ऐसा व्यक्ति कोई भी हो –

यो होति भिक्खु अरहं खीणासवो वुसितवा कतकरणीयो ओहितभारो अनुप्पत्तसदत्थो परिक्खीणभवसंयोजनो सम्मदञ्ञाविमुत्तो, सो नेसं अग्गमक्खायति।

– हे भिक्खु, जो अरहंत हैं, क्षीणास्रव हैं, धर्माचरण परिपूर्ण हैं, कृत-कृत्य हैं, भार-मुक्त हैं, सदर्थ-प्राप्त हैं, भव-बंधन परिक्षीण हैं, सम्यक रूप से लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त कर विमुक्त हैं, वे सबसे अग्र कहलाते हैं।

धम्मेनेव नो अधम्मेन। (दी० नि० ३.११६, अग्गञ्ञसुत्त)

– वे धर्म के कारण ही अग्र हैं, न कि अधर्म के कारण।

कोशल-नरेश प्रसेनजित

शाक्य जनपद कोशल-नरेश प्रसेनजित के अधीन था। अतः सभी शाक्य अपने शासक प्रसेनजित को अभिवादन करते थे; हाथ जोड़ कर सम्मान-सत्कार करते थे; प्रणाम करते थे। प्रसेनजित जानता था कि श्रमण गौतम शाक्य-कुल से प्रव्रजित हुए हैं, परंतु फिर भी भगवान उसे नमस्कार नहीं करते थे। वही भगवान को अपूर्व आदरपूर्वक नमस्कार करता था –

भगवतो पादेसु सिरसा निपतित्वा – भगवान के चरणों में सिर झुका कर,

भगवतो पादानि मुखेन च परिचुम्बति – भगवान के चरणों को वह मुँह से चूमने लगा,

पाणीहि च परिसम्बाहति – हाथों से दबाने लगा,

नामञ्च सावेति – राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो। (म० नि० २.३६६, धम्मचेतियसुत्त)

– और अपना नाम सुनाते हुए कहने लगा – भंते, मैं कोशलेश प्रसेनजित हूं।

इस प्रकार का सम्मान कोई शाक्य प्रसेनजित के प्रति भी नहीं प्रकट करता था, जैसा कि प्रसेनजित, शाक्य-श्रमण भगवान बुद्ध के प्रति प्रकट करता था। इस प्रकार सम्मान करते हुए प्रसेनजित से भगवान ने एक बार पूछा –

किं पन त्वं, महाराज, अत्थवसं सम्पस्समानो इमस्मिं सरीरे एवरूपं परमनिपच्चकारं करोसि, मित्तूपहारं उपदंसेसि?

– महाराज, क्या बात देख कर इस शरीर के प्रति इतना गौरव प्रकट कर रहे हो? ऐसा विचित्र सम्मान प्रकट कर रहे हो जो कि मित्रता का प्रतीक है?

इस पर प्रसेनजित ने उत्तर दिया –

अत्थि खो मे, भन्ते, भगवति धम्मन्वयो। (म० नि० २.३६७, धम्मचेतियसुत्त)

– भंते, भगवान में मेरा धर्मअन्वय है। धर्म के कारण में भगवान का अनुगामी हूं।

मुझे भगवान में समन्वित धर्म दीखता है। भगवान से मेरा धर्म का संबंध है।

पूजन धर्म का है, धर्मकाया का है, रूपकाया का नहीं। यह आदर-सत्कार इसलिए नहीं है कि –

पासादिको समणो गोतमो, दुब्बण्णोहमस्मि – श्रमण गौतम की काया सुंदर है और मेरी असुंदर,

इसलिए भी नहीं कि –

सुजातो समणो गोतमो, दुज्जातोहमस्मि – श्रमण गौतम ऊंची जाति के हैं और मैं नीची जाति का,

इसलिए भी नहीं कि –

बलवा समणो गोतमो, दुब्बलोहमस्मि – श्रमण गौतम बलवान है और मैं बलहीन,

इसलिए भी नहीं कि –

महेसक्खो समणो गोतमो, अप्पेसक्खोहमस्मि,

– श्रमण गौतम महाप्रतापी हैं और मैं कम प्रतापी हूं।

अथ खो नं धम्मंयेव सक्करोन्तो – (बल्कि) धर्म का ही सत्कार करते हुए,

धम्मं गरुं करोन्तो – धर्म का गुरुकार करते हुए,

धम्मं मानेन्तो – धर्म का सम्मान करते हुए,

धम्मं पूजेन्तो – धर्म का पूजन करते हुए,

धम्मं अपचायमानो – धर्म का अभिवादन करते हुए,

तथागते निपच्चकारं करोति – (वह) तथागत को नमन करता है।

इसलिए यही समझना चाहिए कि –

धम्मोव सेट्ठो जनेतस्मिं – लोगों में धर्म ही श्रेष्ठ है। (दी० नि० ३.११७, अग्गञ्ञसुत्त)

इसलिए धर्म ही पूज्य है, धर्मकाया ही पूज्य है।

उदायी

एक बार भगवान सुंभ प्रदेश के सेतक नामक निगम में विहार कर रहे थे। वहां आयुष्मान उदायी भगवान के समीप आकर बोला–

अच्छरियं भन्ते, अब्भुतं भन्ते – आश्चर्य है भंते, अद्भुत है भंते,

याव बहुकतञ्च मे, भन्ते, भगवति पेमञ्च गारवो च हिरी च ओत्तप्पञ्च।

– मुझे भगवान के प्रति अत्यंत प्रेम है; गौरव-भाव है; लज्जा है; संकोच है।

अहं हि, भन्ते, पुब्बे अगारिकभूतो समानो अबहुकतो अहोसिं धम्मेन, अबहुकतो सङ्घेन।

(सं० नि० ३.५.२११, उदायिसुत्त)

– भंते, पूर्वकाल में गृहस्थ रहते हुए मुझे धर्म के प्रति बहुत गौरव सम्मान नहीं था, न ही संघ के प्रति।

अवश्य ही उदायी भगवान की रूपकाया से आकर्षित होकर उनके प्रति भक्तिमान हुआ होगा, परंतु जब अनागारिक होकर भगवान के बताये धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो लाभान्वित हुआ, तो धर्म और संघ के प्रति भी श्रद्धावान हुआ। जब कोई स्वयं धर्म धारण करता है, तभी उसके मन में धर्म के प्रति सही गौरव-भाव जागता है, तभी धर्म धारण करने वाले संघ के प्रति श्रद्धाभाव जागता है, तभी **धम्मकायो, धम्मभूतो** बुद्ध के प्रति सही माने में पूज्यभाव जागता है।

इसे समझने के लिए एक प्रसंग और देखें–

बुद्ध की सही पूजा

महापरिनिर्वाण का समय समीप आ रहा था। भगवान के पूजन, सम्मान में सुरभित पुष्पों और चंदनचूर्ण की वर्षा हो रही थी। यह देख कर भगवान ने कहा–

न खो, आनन्द, एत्तावता तथागतो सक्कतो वा होति, गरुकतो वा मानितो वा, पूजितो वा, अपचितो वा।

– आनंद, वस्तुतः तथागत इस प्रकार न सत्कृत होते हैं, न गुरुकृत होते हैं, न मानित होते हैं, न पूजित, न आदृत।

तो तथागत की सही पूजा किस प्रकार होती है, उसे समझाते हुए कहा–

यो खो, आनन्द, भिक्खु वा भिक्खुनी वा उपासको वा उपासिका वा धम्मानुधम्मपटिपन्नो विहरति सामीचिप्पटिपन्नो अनुधम्मचारी, सो तथागतं सक्करोति गरुं करोति मानेति पूजेति अपचियति परमाय पूजाय।... एवञ्हि वो, आनन्द, सिक्खितब्बं। (दी० नि० २.१९९, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, जो भिक्षु या भिक्षुणी, उपासक या उपासिका धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो विहार करता है, सम्यक मार्ग पर आरूढ़ हो विहार करता है; धर्मानुकूल आचरण करता है, यही असली पूजा है और इसी परम पूजा से तथागत सत्कृत, गुरुकृत, मानित, पूजित, आदृत होते हैं।... आनंद, तुम्हें यही सीखना चाहिए।

इसी कारण यह स्वस्थ परंपरा चल पड़ी कि –

इमाय धम्मानुधम्मपटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि।

– यों धर्मानुधर्म का पालन कर मैं बुद्ध की पूजा करता हूं।

कैसे कोई **धम्मानुधम्मपटिपन्नो** होता है?

रूपस्स चे, … वेदनाय चे, … सञ्ञाय चे, … सङ्खारानं चे, … विञ्ञाणस्स चे, भिक्खु, निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होति,

– भिक्षु, जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान – इन पांच स्कंधों के निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है,

धम्मानुधम्मपटिप्पन्नो भिक्खूति अलं वचनाय। (सं० नि० २.३.११५, धम्मकथिकसुत्त)

– वही सही माने में धर्मानुधर्म प्रतिपन्न भिक्षु कहलाने योग्य है।

धर्मानुधर्म प्रतिपन्न वह होता है, जो धर्म की स्थूल अवस्थाओं से सूक्ष्म की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ चरम मुक्त अवस्था तक जा पहुँचता है।

बुद्ध के धर्मकाय की यही सही पूजा है, यही सही वंदना है। इसलिए बुद्ध की शरण ग्रहण करने वाला सही साधक बुद्ध के आदेशानुसार अन्य किसी की शरण ग्रहण नहीं करता। अपने आप की शरण ग्रहण करता है, धर्म की शरण ग्रहण करता है। सही शरण के लिए अपने आपको द्वीप बनाता है, धर्म को द्वीप बनाता है।

तस्मातिहानन्द, अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा।

– इसलिए हे आनंद, आत्मद्वीप होकर विहार करो, आत्मशरण होकर; न कि अन्य किसी की शरण ग्रहण कर।

तूफान में डगमगाती हुई नौका को अपने बचाव के लिए कोई द्वीप चाहिए। भवसागर में डगमगाती हुई जीवन नैया के लिए सुरक्षाप्रदायक द्वीप अपने भीतर है, बाहर नहीं। उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा। (दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– धर्मद्वीप होकर विहार करो, धर्मशरण होकर; न कि अन्य किसी की शरण ग्रहण कर।

वास्तविक शरण तो धर्म की है। धर्म भी वह जो अपने भीतर जागे। अपने भीतर जागा हुआ धर्म हमें सही माने में शरण देता है, संरक्षण देता है। अपने भीतर जागे हुए धर्म का दर्शन, यानी धर्मानुपश्यना ही हमें बुद्ध का दर्शन कराती है, बुद्ध की धर्मकाया का दर्शन कराती है। भगवान की यह वाणी इसी से स्पष्ट समझ में आती है।

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। (सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है।

अपने भीतर धर्म का दर्शन करते हुए साधक जब पंच-स्कंधों के समुदय-धर्म स्वभाव को और व्यय-धर्म स्वभाव को देखता है, यानी अनुभव करता है, तो विपश्यना के ऊंचे धरातल पर धर्म की यह अनित्य-बोधिनी तरंगें भगवान की धर्मतरंगों से समरस हो जाती हैं। अथवा साधक जब पांच स्कंधों के परे इंद्रियातीत अमृत

निर्वाण का साक्षात्कार करता है, तो भगवान की निर्वाण धातु से स्वतः समरस हो जाता है। यों धर्म के दर्शन करते हुए बुद्ध के दर्शन करता है, बुद्ध की धर्मकाया के दर्शन करता है।

इस संदर्भ में एक प्रसंग ध्यान देने योग्य है जो भगवान के किसी पूर्व जीवन का है–

तब वे बोधिसत्त्व के रूप में लोक कल्याण करने में लगे, अपनी पारमिताओं को परिपूर्ण करते हुए शरभंग नाम के बोधिसत्त्व का जीवन जी रहे थे। उस समय उन्होंने अट्ठक, कलिंग नरेश उग्रतेज और भीमरथ को धर्मदेशना दी थी। यह देशना सुनते-सुनते तीनों राजाओं के मन में तीव्र धर्मसंवेग जागा और तीनों के चित्त से काम-भोग के प्रति आसक्ति तत्काल समाप्त हो गयी। यह देख कर परचित्त ज्ञान की सिद्धि प्राप्त बोधिसत्त्व शरभंग ने प्रसन्न होकर कहा–

महत्तियं आगमनं अहोसि, तवमट्ठका भीमरथस्स चापि।
कालिङ्गराजस्स च उग्गतस्स, सब्बेस वो कामरागो पहीनो॥

(जा० २.१७.८६, सरभङ्गजातक)

– बड़ी बात हुई जो तुम्हारी, भीमरथ की और कलिंग नरेश उग्रतेज की, सभी की कामभोगों के प्रति आसक्ति समाप्त हो गयी।

यह सुन कर तीनों राजाओं को आश्चर्य हुआ। बोधिसत्त्व ने तीनों के वर्तमान चित्त की अवस्था कैसे जान ली? उन्होंने प्रार्थना की कि हमें भी अवकाश दें कि हम भी आपकी गति को प्राप्त हों। तब बोधिसत्त्व ने कहा–

करोमि ओकासमनुग्गहाय, तथा हि वो कामरागो पहीनो।
फराथ कायं विपुलाय पीतिया, यथा गतिं मे अभिसम्भवेथ॥

(जा० २.१७.८८, सरभङ्गजातक)

– तुम्हारी कामभोग संबंधी आसक्ति तात्कालिक रूप से छूट गयी है, इसलिए मैं अनुग्रह करके तुम्हें प्रव्रज्या के लिए अवकाश देता हूं। तुम सारे शरीर में विपुल प्रीति स्फुरित करो और उस स्फुरणा से आप्लावित हो जाओ जिससे कि मेरी अवस्था का अनुभव कर सको।

विपश्यना साधना द्वारा ही सारे शरीर में स्फुरणा जागती है, मानो नन्हीं-नन्हीं तरंगों की धारा प्रवाहित हो रही हो। ऐसी अवस्था की स्वयं अनुभूति करने पर ही साधक अपने आचार्य की उस अवस्था में समरस हो सकता है, जिस अवस्था में आचार्य भी ऐसी ही स्फुरणा की अनुभूति कर रहा होता है। यही साधक द्वारा अपने आचार्य का धर्ममय दर्शन है। इसी को लक्ष्य करके भगवान कहते हैं–

यो खो, वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति; यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति।

(सं० नि० २.३.८७, वक्कलिसुत्त)

– वक्कलि, जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।

यह भगवान की धर्मकाया का दर्शन है, जो कि देह-काया के दर्शन से सर्वथा भिन्न है। साधना के ऊंचे धरातल पर धर्मकाया का यह दर्शन ही साधक के लिए कल्याणकारी है। केवल भौतिक काया यानी रूपकाया का दर्शन बाहरी आकर्षण का प्रतीकमात्र है।

रूपकाया और धर्मकाया का भेद

एक घटना –

एक समय भगवान उक्कट्ठा और सेतव्य के बीच चारिका कर रहे थे। सदा की भांति नंगे पांव चल रहे थे। जिस जमीन पर चल रहे थे, वह समतल थी और नरम थी। भगवान की दोनों पगथलियां भी समतल थीं। उन पर नाभि और नेमि सहित सहस्र आरों वाले चक्र अंकित थे। नरम धरती पर उनकी स्पष्ट छाप पड़ रही थी। द्रोण नामक एक ब्राह्मण पदचाप की यह छाप देख कर अत्यंत विस्मय-विभोर हो उठा।

अरे, आश्चर्य है, अद्भुत है! निश्चय ही यह किसी मनुष्य के पांव नहीं हो सकते। देखूं, इन पदचिह्नों वाला व्यक्ति कौन है। इस जिज्ञासा को लिए हुए वह इन चरण-चिह्नों के सहारे वहां तक पहुँच गया, जहां भगवान एक वृक्ष के तले ध्यानमग्न बैठे थे। वह भगवान की ओर निर्निमेष देखने लगा। ऐसे शरीर लक्षणों वाला व्यक्ति उसने पहले कभी नहीं देखा था। सचमुच यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होगा। अतः कौतूहल-वश उसने भगवान से पूछा –

देवो नो भवं भविस्सति – क्या आप देवता तो नहीं हैं?

न खो अहं, ब्राह्मण, देवो भविस्सामि – ब्राह्मण, मैं देवता नहीं हूं।

गन्धब्बो नो भवं भविस्सति – क्या आप गंधर्व तो नहीं हैं?

न खो अहं, ब्राह्मण, गन्धब्बो भविस्सामि – ब्राह्मण, मैं गंधर्व नहीं हूं।

यक्खो नो भवं भविस्सति – क्या आप यक्ष तो नहीं हैं?

न खो अहं, ब्राह्मण, यक्खो भविस्सामि – ब्राह्मण, मैं यक्ष नहीं हूं।

मनुस्सो नो भवं भविस्सति – क्या आप मनुष्य तो नहीं हैं?

न खो अहं, ब्राह्मण, मनुस्सो भविस्सामि – ब्राह्मण, मैं मनुष्य नहीं हूं।

– "देवता भी नहीं, गंधर्व भी नहीं, यक्ष भी नहीं, मनुष्य भी नहीं, तो आप कौन हैं?"

भगवान ने उत्तर दिया –

बुद्धोति मं, ब्राह्मण, धारेहि – ब्राह्मण, मुझे बुद्ध समझ।

भगवान ने ठीक उत्तर दिया। समस्त भव प्रपंच में सबसे अग्र होने के कारण जो भवाग्र कहलाते हैं, उन अरूप ब्रह्मलोकों के ब्रह्माओं से लेकर देव मनुष्य सहित अधोलोक तक के सारे प्राणी मर्त्य हैं, सभी भव-चक्र में पिस रहे हैं, जबकि सम्यक संबुद्ध भव-चक्र से मुक्त हो चुके हैं। यह उनका आखिरी जन्म है।

नत्थिदानि पुनब्भवोति, (सं० नि० ३.५.४९८, सम्बुद्धसुत्त)

– इसके बाद और कोई जन्म नहीं होगा।

ऐसे मुक्त व्यक्ति का अपने आपको इन मरणधर्मा देव, गंधर्व, यक्ष, ब्रह्मा या मनुष्य के नाम से नहीं पुकारना समीचीन ही है। बुद्ध मुक्त हैं, इसलिए अनोखे हैं; औरों से भिन्न हैं। औरों की भांति वे संसार में लिप्त नहीं हैं।

पुण्डरीकं यथा वग्गु, तोयेन नुपलिप्पति।
नुपलिप्पामि लोकेन, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा॥ (अ० नि० १.४.३६, दोणसुत्त)

– जैसे सुंदर कमल जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही मैं भी लोक में लिप्त नहीं होता; इसीलिए, हे ब्राह्मण, मैं बुद्ध हूं।

चक्रवर्ती सम्राट से भिन्न

सहस्र आरों वाले चक्र का चिह्न किसी चक्रवर्ती सम्राट की समतल पगथली पर भी होता है। इस चिह्न का वैसा ही ठप्पा जमीन पर पड़ा देख कर कोई व्यक्ति वैसे ही विस्मय-विभोर होकर उससे पूछ सकता है कि तुम कौन हो। तो वह कैसे कहे कि मैं मनुष्य भी नहीं हूं, क्योंकि वह मर्त्य तो है ही। भव-चक्र में पड़ा हुआ तो है ही।

बुद्ध की यही विशेषता है। बोधिवृक्ष के तले बोधिसत्त्व की रूपकाया में जब बोधि-काया यानी धर्मकाया उद्‌बुद्ध हुई, तब बोधिसत्त्व सम्यक संबुद्ध बन गये। यही उनका धर्मभूत बन जाना है। इसी कारण वे सामान्य प्राणियों से कहीं ऊंचे होते हैं, श्रेष्ठ होते हैं, भिन्न होते हैं। यह सब बुद्ध-गुणों के कारण ही होते हैं। बुद्ध-गुण ही बुद्ध की धर्मकाया है। बुद्धगुणों का दर्शन ही बुद्धदर्शन है। बुद्धदर्शन ही धर्मदर्शन है।

क्या हैं बुद्ध गुण?

बुद्ध गुण अनेक होते हैं, परंतु उनमें से नौ प्रमुख हैं जिनके कारण बुद्ध विश्व-विख्यात हुए। मानव इतिहास में ऐसे लोग गिनती के ही होंगे जो अपने जीवनकाल में इतने जनप्रसिद्ध हुए। भगवान बुद्ध की ख्याति उनके जीवनकाल में ही इस कदर फैली कि उन्हें बिना देखे, मात्र उनकी ख्याति सुन कर ही अनेक लोग उनकी ओर आकर्षित हो गये। यहां तक कि विरोधी भी उनके प्रति आकर्षित हुए और उनमें से अनेक उनके अनुयायी बन गये।

ख्याति तो उन दिनों के अन्य कई आचार्यों की भी फैली थी, परंतु उनकी ख्याति की विरुदावली बुद्ध-ख्याति से भिन्न थी। उन सबकी विख्यात विरुदावली इस प्रकार थी, जैसे कि–

अयं, देव, मक्खलि गोसालो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो। (दी० नि० १.१५२, सामञ्ञफलसुत्त)

– महाराज, यह मक्खलि घोषाल संघपति है, गणपति है, गणाचार्य है, प्रसिद्ध है, यशस्वी है, तीर्थंकर है, बहुत जनों द्वारा भली प्रकार सम्मानित है, चिरकाल का अनुभवी है, चिरकाल से प्रव्रजित है। जीवन-पथ का ऐसा पथिक है जो बहुत चल चुका वयोवृद्ध है।

जिसने भगवान के वास्तविक गुणों के बारे में सही और पूरी जानकारी नहीं प्राप्त की थी, ऐसा कोई इक्का-दुक्का सभिय जैसा परिव्राजक अपनी गलत और अधूरी जानकारी के कारण भगवान के बारे में ऐसा चिंतन भले कर ले कि–

अयम्पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स...।

– यह श्रमण गौतम भी संघपति है, गणपति है, गणाचार्य है, प्रसिद्ध है, यशस्वी है, तीर्थंकर है, बहुजनों द्वारा भली-प्रकार सम्मानित है।

जो जानकार थे वे इन गुणों के आधार पर भगवान बुद्ध का मूल्यांकन नहीं करते थे। परंतु सभिय अनजान है। अतः वह इन-इन बातों में भगवान बुद्ध के गुणों को अन्य आचार्यों की विरुदावली से जोड़ता है, परंतु देखता है कि श्रमण गौतम उनसे उम्र में बहुत छोटे हैं। अन्य आचार्य जीर्ण, वृद्ध, बूढ़े, पकी उम्र के वय:प्राप्त हैं –

जिण्णा वुड्ढा महल्लका अद्धगता वयोअनुप्पत्ता।

जबकि –

समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया, नवो च पब्बज्जाय।

– श्रमण गौतम (उनकी तुलना में) उम्र में छोटे हैं और प्रव्रज्या में नये हैं।

वे मेरे प्रश्नों का उत्तर क्या दे सकेंगे जबकि अन्यान्य वयोवृद्ध, अनुभवी आचार्य न दे सके। लेकिन फिर उसके मन में आता है –

दहरोपि चेस समणो गोतमो महिद्धिको होति महानुभावो। (सु० नि० सभियसुत्त)

– कोई-कोई युवक श्रमण भी बहुत ऋद्धिशाली और महाप्रतापी होते हैं।

अतः क्यों न उनसे प्रश्न पूछकर तो देखूं? परिव्राजक सभिय की नजरों में भगवान बुद्ध का गणी, यशस्वी आदि होना महत्त्वपूर्ण था। परंतु उम्र और अनुभव में छोटा होना, उनकी कमी थी। वह इसी उधेड़बुन में रहा। बुद्ध के वास्तविक गुणों के बारे में उसने कहीं नहीं सुना था। इन गुणों का ज्ञान उसे भगवान से मिलने पर हुआ। भगवान के संपर्क में नहीं आता तो वह इसी भ्रम में रह जाता कि वे भी अन्य आचार्यों की भांति गणी और यशस्वी आदि ही हैं। वह जान ही नहीं पाता कि बुद्ध के वास्तविक गुण इन सामान्य गुणों से कितने महान हैं।

भगवान की उम्र में छोटे होने की कमी कोशल-नरेश प्रसेनजित को भी खटकी थी। अतः भगवान से भेंट होने पर उसने अपनी स्पष्टवादिता का परिचय देते हुए कहा –

ये श्रमण-ब्राह्मण संघी हैं, गणी हैं, गणाचार्य हैं, प्रसिद्ध यशस्वी हैं, तीर्थंकर हैं, बहुतों द्वारा पूज्य हैं, दीर्घायु हैं। परंतु केवल इन विशेषताओं के होने मात्र से कोई सम्यक संबोधि प्राप्त नहीं कर लेता। अतः उनसे –

तेपि मया अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति पटिजानाथाति पुट्ठा समाना।

– यह पूछने पर कि क्या आपको अनुत्तर सम्यक संबोधि का ज्ञान प्राप्त हो गया है तो वे ऐसा उत्तर देते हैं –

अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धोति न पटिजानन्ति।

– अनुत्तर सम्यक संबोधि का ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ –

तो फिर –

किं पन भवं गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जाय। (सं० नि० १.१.११२, दहरसुत्त)

– आप गौतम उम्र में युवा हैं, प्रव्रज्या में नये हैं, आप यह दावा कैसे करते हैं?

अनेक वर्षों के निकट संपर्क के बाद प्रसेनजित का यह संदेह मिटा जब उसने विविध घटनाओं द्वारा भगवान के वास्तविक गुणों को जाना और परखा। तभी अपनी पकी हुई उम्र में भगवान से धर्म संबंध स्थापित कर उनकी वंदना करते हुए बोला –

सम्मासम्बुद्धो भगवा – भगवान सम्यक संबुद्ध हैं,

स्वाक्खातो भगवता धम्मो – सुआख्यात है भगवान का धर्म,

सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो – सुप्रतिपन्न है भगवान का श्रावक संघ।

किसी भी शास्ता को यानी आचार्य को मापने के लिए यही तीन मापदंड हैं –

(१) शास्ता स्वयं कैसा है? जो सिखाता है, क्या उसने उसे स्वयं अनुभव किया है?

(२) उसका सिखाया धर्म कैसा है? क्या वह स्पष्ट है, जिसे कोई भी समझ सके और धारण कर लाभान्वित हो सके अथवा अंधविश्वास जगा कर सांप्रदायिक मत-मतांतरों की काल्पनिक मान्यताओं में उलझा देने वाला है?

(३) उसके शिष्य कैसे हैं? क्या उसकी शिक्षा का यथार्थ पालन करने वाले हैं या सांप्रदायिक ठग-विद्या द्वारा लोगों का शोषण करने वाले हैं?

इन तीनों का उत्तर हमें तिपिटक में विस्तार से मिलेगा। अभी तो उनकी एक-एक झलक मात्र ही देख पायेंगे।

आओ, पहले भगवान के उन नौ गुणों पर एक विहंगम दृष्टि डालें जिनके कारण वे **धम्मकायो, धम्मभूतो, ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** बने; **चक्खुभूतो, ञाणभूतो** बने।

उनके ये नौ प्रमुख गुण उनके जीवनकाल में ही जन-प्रसिद्ध हुए और इन्हीं के कारण भगवान बुद्ध विश्व-विश्रुत हुए। वे नौ गुण थे –

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।

आओ, कल्याणी भगवद्-वाणी के निश्रय-प्रश्रय द्वारा इन बुद्धगुणों की विरुदावली का निरीक्षण-परीक्षण करते हुए इनकी कुछ एक मोनरम झांकियां देखें।

इतिपि सो भगवा अरहं

इतिपि सो भगवा अरहं

वे भगवान ऐसे 'अरहंत' भी हैं।

किस माने में अरहंत हैं?

अरि माने दुश्मन। हंत माने हनन करने वाला। अतः अरहंत या अरिहंत (अर्हत) का अर्थ हुआ – वह जिसने अपने दुश्मनों का हनन कर दिया, यानी उन्हें खत्म कर दिया। दुश्मन कौन? कोई बाहरी व्यक्ति किसी का दुश्मन नहीं हुआ करता। असली दुश्मन तो भीतर छिपे रहते हैं। सही माने में भीतर के मनोविकार ही व्यक्ति के वास्तविक दुश्मन हैं। अतः जिसने अपने भीतर के सारे मनोविकारों को नष्ट कर दिया, वही सचमुच अरहंत है। भगवान बुद्ध ऐसे ही अरहंत थे। सभी विकारों को जन्म और प्रश्रय देने वाला प्रमुख विकार है – मोह। मोह यानी अज्ञान, अविद्या। होश नहीं रहता, तभी अन्य विकार जगते हैं। हर विकार कष्टदायक होता है, क्लेशदायक होता है। होश में हो तो कोई क्यों अपने आप को कष्ट दे? क्यों अपने लिए क्लेश पैदा करे? जब बोधि जागती है, तब होश जागता है – भीतर का होश। तभी अज्ञान का अंधेरा दूर होता है। अंधेरे में जन्मने और पनपने वाले विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। मोह के अंधेरे में जन्मने और पनपने वाले विकारों में प्रमुख हैं – राग और द्वेष। अन्य सारे विकार इन्हीं की संतान हैं। अतः जिसने राग, द्वेष और मोह को नष्ट कर दिया, उन्हें जड़ से उखाड़ दिया, वह सभी विकारों से विमुक्त हो गया। बुद्ध ऐसे ही विकार-विमुक्त अरहंत थे।

यो खो, आवुसो, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – इदं वुच्चति अरहत्तं।

(सं० नि० २.४.३१५, अरहत्तपञ्हासुत्त)

– आयुष्मान, यह जो रागक्षय, द्वेषक्षय, मोहक्षय है इसे ही अरहत्व कहते हैं।

भीतर विकारों की जटाएं उलझी रहती हैं, जिनसे लोग त्रस्त रहते हैं। अविद्या का अंधकार मिटने पर और राग-द्वेष के विकार दूर होने पर अन्य आस्रव यानी मैल भी दूर हो जाते हैं। जब भीतर की सारी जटाएं कट जाती हैं, तब नितांत निर्मल हो जाता है; सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है।

येसं रागो च दोसो च, अविज्जा च विराजिता।
खीणासवा अरहन्तो, तेसं विजटिता जटा॥ (सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– जिसके राग-द्वेष दूर हो गये और अविद्या दूर हो गयी, वह क्षीणास्रव हुआ अरहंत भीतर की जटाओं से मुक्त हो गया।

अविद्या नहीं रहेगी, तो राग नहीं रहेगा। राग नहीं रहेगा, तो द्वेष नहीं रहेगा। अरहंत होगा, तो द्वेष से दूर ही होगा। द्वेष से दूर होगा, तो राग से, अविद्या से और तज्जनित अन्य सभी दोषों से स्वतः दूर रहेगा। तभी कहा गया –

सो ततो आरका नाम, यस्स येनासमङ्गिता।
असमङ्गी च दोसेहि, नाथो तेनारहं मतो॥ (विसुद्धि० १.१२५, बुद्धानुस्सतिकथा)

– (आरका कहते हैं दूर रहने को, अतः) जो दोषों से अर्थात द्वेषों से दूर रहते हैं, वे नाथ यानी भगवान बुद्ध 'अरहंत' कहलाते हैं।

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा, सङ्किलेसिका पोनोब्भविका, सदरा दुक्खविपाका, आयतिं जातिजरामरणिया। एवं खो, भिक्खवे, भिक्खु अरहं होति। (म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

– उसके क्लेशकारी, पुनर्जन्मदायी, भयावह दुःखविपाक वाले, भविष्य में जन्म-जरा-मृत्यु प्रदायक पापमय अकुशल धर्म दूर हो गये हैं। इस प्रकार, भिक्षुओ, भिक्षु अरहंत होता है। ऐसा व्यक्ति निर्मल निर्लिप्त होता है।

अनेजं ते अनुप्पत्ता, चित्तं तेसं अनाविलं।
लोके अनुपलित्ता ते, ब्रह्मभूता अनासवा॥ (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– जिन्होंने अचल निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली, जिनका चित्त नितांत निर्मल हो गया, जो संसार के प्रति सर्वथा निर्लिप्त हैं, जो अनास्रव हैं, वे **ब्रह्मभूत** हैं, **धर्मभूत** हैं, श्रेष्ठताप्राप्त है।

वे ही 'अरहंत' हैं। ऐसे व्यक्तियों ने सचमुच अपने दुश्मनों का नाश कर दिया है। अपने भीतर प्रत्यक्ष ज्ञान वाली प्रज्ञा जगा कर, इसी प्रज्ञा के शस्त्र से रागादि दुश्मनों का हनन कर दिया है।

यस्मा रागादिसङ्खाता, सब्बेपि अरयो हता।
पञ्ञासत्थेन नाथेन, तस्मापि अरहं मतो॥ (विसुद्धि० १.१२६, बुद्धानुस्सतिकथा)

– क्योंकि राग आदि के नाम से ज्ञात सभी वैरी नाथ (बुद्ध) द्वारा प्रज्ञा के शस्त्र से मार दिये गये हैं इसलिए भी वे अरहंत हैं।

ऐसे व्यक्ति के लिए ही यह कहा गया है और ठीक ही कहा गया है कि –

उपधी ते समतिक्कन्ता, आसवा ते पदालिता।
सीहोसि अनुपादानो, पहीनभयभेरवो॥ (सु० नि० ५५१, सभियसुत्त)

– आपने आसक्ति के क्षेत्र का भली प्रकार अतिक्रमण कर दिया है, आपने सभी आस्रवों को चीर फेंका है, आप उपादानरहित, निस्संग भय-भैरव मुक्त सिंह हैं।

ऐसा व्यक्ति ही सही माने में महावीर होता है, अरहंत होता है।

अनुविचरन्ति महावीरा, पहीनभयभेरवा। (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– भय-भैरव से मुक्त हो, महावीर (बुद्ध) विचरण करते हैं।

जिसने अपना सारा वैर खत्म कर दिया, वह निर्वैर हो गया। जो निर्वैर हो गया, वह निर्भय हो गया। जब निर्वैर और निर्भय हो गया, तो सुखी हो गया, पूर्णतया दुःख-विमुक्त हो गया।

वीतराग सुख से सोता है

सुखिनो वत अरहन्तो, तण्हा तेसं न विज्जति॥ (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– सचमुच अरहंत सुखी होते हैं, क्योंकि उनमें तृष्णा यानी राग-द्वेष का नामोनिशान नहीं रहता।

उनमें न प्रिय को प्राप्त करने की रागरूपी तृष्णा रहती है, न अप्रिय को दूर करने की द्वेषरूपी तृष्णा रहती है।

एक बार भगवान आळवी राष्ट्र में गौवों के आवागमन के मार्ग पर पेड़ से गिरे पत्तों का आसन बिछा कर सोये थे। उस समय हत्थक नामक आळवक राजपुत्र घूमने निकला। उसने भगवान को वहां देख कर पूछा –

कच्चि भन्ते, भगवा सुखमसयित्थाति – भंते, भगवान, क्या सुख से सोये?

भगवान ने उत्तर दिया –

एवं कुमार, सुखमसयित्थं – हां कुमार, मैं सुख से सोया।

और कहा –

ये च पन लोके सुखं सेन्ति, अहं तेसं अञ्ञतरोति।

– जो लोग इस संसार में सुख से सोते हैं, मैं उनमें से एक हूं।

इस पर आळवक ने कहा –

हेमंत ऋतु की ठंडी रात है। माघ और फाल्गुन के बीच का आठ दिनों का समय है। हिमपात का मौसम है। गौवों के खुरों से खुरदरी हुई कठोर भूमि है। पत्तों का पतला बिछौना है। पेड़ों पर बहुत कम पत्ते हैं। चारों ओर से ठंडी हवाएं बह रही हैं और आप ने ठंडे काषाय वस्त्र पहने हैं। आप किस प्रकार सुख से सोये?

इस पर भगवान ने कहा –

एक गृही अथवा गृहीपुत्र पक्की बंद हवेली में, मुलायम गद्दे, तकिए और रजाई लेकर सोता है, परंतु हो सकता है, उसमें काम-राग की अग्नि जलती हो।

तस्स गहपतिस्स वा गहपतिपुत्तस्स वा उप्पज्जेय्युं रागजा परिळाहा कायिका वा चेतसिका वा, येहि सो रागजेहि परिळाहेहि परिडय्हमानो दुक्खं सयेय्याति।

– उस गृही अथवा गृही-पुत्र के भीतर रागजन्य दाह उत्पन्न होता है, कायिक अथवा मानसिक; तब वह उस रागजन्य दाह में जलता हुआ दुःख से ही सोता है।

सो रागो तथागतस्स पहीनो उच्छिन्नमूलो तालावत्थुकतो अनभावङ्कतो आयतिं अनुप्पादधम्मो।

(अ० नि० १.३.३५, हत्थकसुत्त)

– तथागत का वह राग प्रहीण हो गया है, नष्ट हो गया है, जड़ से उखड़ गया है। सिर कटे ताड़ वृक्ष जैसा ठूंठ हो गया है, जिसमें अब कुछ नहीं उग सकता। अभाव को प्राप्त हो गया है। भविष्य में उसका उत्पाद हो नहीं सकता।

ऐसा वीतराग अरहंत सुख से ही सोयेगा।

एक अन्य अवसर –

अनाथपिंडिक राजगृह में पहली बार भगवान से मिलने गया। रात बीतने में अभी देर थी। भगवान खुले में चंक्रमण कर रहे थे।

इस पर उसने भगवान से पूछा –

कच्चि, भन्ते, भगवा सुखं सयित्थाति? – भंते, भगवान क्या सुख से सोये?

इसका उत्तर देते हुए भगवान बोले–

सब्बदा वे सुखं सेति, ब्राह्मणो परिनिब्बुतो।
यो न लिम्पति कामेसु, सीतिभूतो निरूपधि॥

– जो अनासक्त हो गया, शीतलीभूत हो गया, कामराग में लिप्त नहीं होता, वह निर्वाण का परिपूर्ण साक्षात्कार करने वाला ब्राह्मण सदा सुख से सोता है।

सब्बा आसत्तियो छेत्वा, विनेय्य हदये दरं।
उपसन्तो सुखं सेति, सन्ति पप्पुय्य चेतसा॥ (चूळव० ३०५, अनाथपिण्डिकवत्थु)

– सारी आसक्तियां नष्ट कर, हृदय से भय दूर कर, चित्त-शांति प्राप्त कर, वह सुख से सोता है।

मुक्त, अनासक्त, अरहंत सुख से ही सोता है।

प्रत्येक धर्मचारी सुख से सोता है– **धम्मचारी सुखं सेति,** (ध० प० १६९, लोकवग्ग)

अरहंत का तो कहना ही क्या?

जिस किसी के निर्मल चित्त में धर्मानंद की तरंगें लहराने लगती हैं, वह सुख से ही सोता है–

धम्मपीति सुखं सेति, विप्पसन्नेन चेतसा। (ध० प० ७९, पण्डितवग्ग)

अरहंत हुए बुद्ध का तो कहना ही क्या? वे तो **धम्मभूतो** हैं, **ब्रह्मभूतो** हैं, **सीतलीभूतो** हैं। वे तो **अप्पमाणो** हैं, अनंत हैं, असीम हैं। अहं के मोहजाल का सीमित क्षेत्र छोड़ चुके हैं–

अस्मिमानो समुच्छिन्नो, मोहजालं पदालितं। (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– उनका अस्मिताभाव अर्थात अहं-भाव, आत्म-भाव पूरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया है, क्योंकि उन्होंने मोह-जाल तोड़-फोड़ डाला है।

यों अहं-मुक्त हुए, तो ही अरहंत हुए।

अहं वदामीतिपि सो वदेय्य, ममं वदन्तीतिपि सो वदेय्य।
लोके समञ्ञं कुसलो विदित्वा, वोहारमत्तेन सो वोहरेय्याति॥

(सं० नि० १.१.२५, अरहन्तसुत्त)

– जो अरहंत हो गए हैं वे 'अहं' और 'ममं' यानी 'मैं' और 'मेरा' जैसे शब्दों का प्रयोग तो करते हैं, परंतु वह केवल लोक-व्यवहार मात्र के लिए होता है।

'अहं, ममं' से उन्हें कोई आसक्ति नहीं रहती। नितांत अनासक्त भाव से रहते हुए लोक में व्यवहार मात्र के लिए वे इन शब्दों का प्रयोग करते हैं, क्योंकि अब वे– **लोके अनुपलित्ता ते** (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त) – संसार से सर्वथा निर्लिप्त हैं, निस्संग हैं, निरासक्त हैं।

ऐसे निर्लिप्त, अरहंत, भगवान बुद्ध से मिल कर परिव्राजक सभिय कह उठा कि जैसे सुंदर, श्वेत पुंडरीक कमल पानी में अलिप्त रहता है,

एवं पुञ्ञे च पापे च, उभये त्वं न लिम्पसि। (सु० नि० ५५२, सभियसुत्त)

– वैसे ही आप पुण्य और पाप दोनों में लिप्त नहीं होते।

तथागत अरहंत हैं। अरहंत हैं इसीलिए–

दसहि खो, वाहन, धम्मेहि तथागतो निस्सटो विसंयुत्तो विप्पमुत्तो विमरियादीकतेन चेतसा विहरति।

– हे वाहन, तथागत दस विषयों में निरासक्त, निस्संग, विमुक्त और निर्बाध चित्त से विहार करते हैं।

कतमेहि दसहि – किन दस विषयों में?

रूपेन खो, वाहन..., वेदनाय... सञ्ञाय... सङ्खारेहि... विञ्ञाणेन... जातिया... जराय... मरणेन... दुक्खेहि... किलेसेहि खो, वाहन, तथागतो निस्सटो विसंयुत्तो विप्पमुत्तो विमरियादीकतेन चेतसा विहरति।

(अ० नि० ३.१०.८१, वाहनसुत्त)

– हे वाहन, तथागत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, जाति, जरा, मरण, दु:ख और क्लेश के प्रति निरासक्त, निस्संग, विमुक्त और निर्बाध चित्त से विहार करते हैं।

ऐसा निर्मल, निस्संग, निर्लिप्त व्यक्ति कोई गोपनीय काम कर ही नहीं सकता। वह चोरी-छुपे कोई पापमय दुष्कर्म कर ही नहीं सकता।

यस्मा नत्थि रहो नाम, पापकम्मेसु तादिनो।
रहाभावेन तेनेस, अरहं इति विस्सुतो॥ (विसुद्धि० १.१३०, बुद्धानुस्सतिकथा)

– ऐसे व्यक्ति को पाप-कर्म करके उसे छिपाने की नौबत नहीं आती। अत: वह रहाभाव यानी अगोपनीय भाव का जीवन जीता है। इस अर्थ में वह अरहं कहलाता है।

जो दुष्कर्म करता ही नहीं, वह छिपायेगा क्या? जिसके मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों में विषमता नहीं है, ऐसा व्यक्ति खुला, स्पष्ट जीवन जीता है। जो सोचता कुछ है, कहता कुछ और है, करता कुछ और ही है, ऐसे सांसारिक व्यक्ति को बाहर-बाहर से धर्मी होने का ढोंग बनाये रखना पड़ता है जबकि गुप्त रूप से वह कुकर्मों में लीन रहता है। पर अरहंत ऐसा क्यों करेगा? वह तो बाहर-भीतर एक सा होता है। उसका जीवन स्वच्छ, स्पष्ट, पारदर्शी होता है। उसकी कथनी और करनी में कोई भेद नहीं होता। उसके जीवन को कोई देखे, कोई परखे, कोई जांचे। उसमें कोई दुराव नहीं होता, कोई छिपाव नहीं होता। इसलिए अरहंत 'अरहंत' होता है। तभी पूज्य होता है।–

पूजाविसेसं सह पच्चयेहि, यस्मा अयं अरहति लोकनाथो।
अत्थानुरूपं अरहन्ति लोके, तस्मा जिनो अरहति नाममेतं॥ (विसुद्धि० १.१२९, बुद्धानुस्सतिकथा)

– क्योंकि वह लोकनाथ भगवान बुद्ध प्रत्ययों के द्वारा विशेष रूप से पूजा करने योग्य हैं, इस अर्थ के अनुकूल भी वह जिन इस लोक में अरहंत कहलाने योग्य हैं।

अरहंत हैं, इसलिए जिन हैं। जिन हैं, इसलिए अरहंत हैं। इसी कारण पूजनीय हैं, वंदनीय हैं।

जिन हैं, माने विजेता हैं। किस माने में जिन हैं?

दन्तभूमिमनुप्पत्ता, ते लोके विजिताविनो। (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– उन्होंने रागादि दमन कर निर्वाणिक अवस्था प्राप्त कर ली है। इसलिए वे संसार में जिन हैं।

उपक ने जब भगवान की उपलब्धि पर शंका प्रकट करते हुए व्यंग्य भरे शब्दों में कहा कि–

यथा खो त्वं, आवुसो, पटिजानासि अरहसि अनन्तजिनो।

– आयुष्मान, तू जैसा दावा करता है, उससे तो मानो तू अनंत जिन है।

उत्तर में भगवान ने कहा –

मादिसा वे जिना होन्ति, ये पत्ता आसवक्खयं।
जिता मे पापका धम्मा, तस्माहमुपक जिनो। (महाव० ११, पञ्चवग्गियकथा)

– मुझ जैसे व्यक्ति ही जिन होते हैं, जिन्होंने आस्रवक्षय अवस्था प्राप्त कर ली है। मैंने पापों को जीत लिया है। इसलिए, हे उपक, मैं जिन हूं।

कैसे जिन हैं?

बोधि-वृक्ष के तले देव-पुत्र मृत्युराज मार को जीत कर भगवान जिन हुए। अतः यह ठीक ही कहा गया –

जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं, मारस्स च पापिमतो पराजयो। (उग्घोसनगाथा)

– यह देखो, श्रीमंत बुद्ध की विजय हो गयी। पापी मार की पराजय हो गयी।

परंतु यह विजय कोई सांसारिक शस्त्र धारण करके नहीं हुई। धर्म के अनुपम शस्त्र से हुई।

दानादि-धम्मविधिना जितवा मुनिन्दो। (धम्मगीतं – जयमङ्गल अट्ठगाथा १)

– मुनींद्र भगवान बुद्ध ने (अपने अनेक पूर्व जन्मों में) दान आदि पारमिताओं का बल संचित किया था, जिससे मार को जीत लिया।

यह धर्ममय जीत अपने भीतर उपलब्ध करनी होती है। बाहर की रणभूमि में जीतने वाला सही माने में जिन नहीं होता है –

यो सहस्सं सहस्सेन, सङ्गामे मानुसे जिने।
एकञ्च जेय्यमत्तानं, स वे सङ्गामजुत्तमो॥ (ध० प० १०३, सहस्सवग्ग)

– जो सहस्र बार सहस्रों को संग्राम में जीत ले, उससे कहीं उत्तम विजयी वह है जो स्वयं अपने को जीत ले।

बुद्ध जिन होते हैं, वे अपने आप को जीतते हैं, अपने मन के विकारों को जीतते हैं। यही जीतना श्रेष्ठ है।

अत्ता हवे जितं सेय्यो, या चायं इतरा पजा।
अत्तदन्तस्स पोसस्स, निच्चं सञ्ञतचारिनो॥
नेव देवो न गन्धब्बो, न मारो सह ब्रह्मुना।
जितं अपजितं कयिरा, तथारूपस्स जन्तुनो॥ (ध० प० १०४-१०५, सहस्सवग्ग)

– इन अन्य प्रजाओं को जीतने की अपेक्षा अपने आप को जीतना श्रेष्ठ है। नित्य, संयत जीवन जीने वाले आत्मदंत व्यक्ति की जीत को न देवता, न गंधर्व, न ब्रह्मा सहित मार ही हार में पलट सकता है।

ऐसे आत्मविजेता ही अरहंत कहलाते हैं।

भवचक्र भंजन

यह ऐसी जीत है, जिसे प्राप्त कर अरहंत मृत्युराज मार के क्षेत्र से बाहर निकल गये है, उनका भव-भ्रमण टूट गया है। उनका,

पहीनजातिमरणं असेसं – निःशेष रूप से जन्म-मरण नष्ट हो गया है।(सु० नि० ३५३, निग्रोधकप्पसुत्त)

अरहंत का यह अंतिम जन्म होता है और इस जन्म की मृत्यु अंतिम मृत्यु होती है। फिर न जन्म होता है, न मृत्यु।

बुद्धो अन्तिमसारीरो – बुद्ध अंतिम शरीर धारण करने वाले होते हैं। (अ० नि० १.४.३५, वस्सकारसुत्त)

अरहंत हुए बुद्ध की यही बोधि होती है कि वे जन्म-मरण के भव-चक्र को अनुभूति के स्तर पर जान लेते हैं। इस भव-चक्र के सही कारण को जान लेते हैं और इस कारण को दूर कर, भव-चक्र का ध्वंस करते हुए मुक्त हो जाते हैं।

गहकारक दिट्ठोसि, पुन गेहं न काहसि। (ध० प० १५४, जरावग्ग)

– हे घर बनाने वाले! तू देख लिया गया। अब वह घर नहीं बना सकेगा।

कौन है यह घर बनाने वाला जिसका दर्शन कर अरहंत हुए बुद्ध मुक्त हो गये हैं?

न हेत्थ देवो ब्रह्मा वा, संसारस्सत्थिकारको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, हेतुसम्भारपच्चयाति॥ (विसुद्धि० २.६८९, पच्चयपरिग्गहकथा)

– संसार का सृजन करने वाला (यानी व्यक्ति के मरने पर उसके लिए नया घर बना देने वाला) न कोई देव है न ब्रह्मा। हेतु-प्रत्यय से यानी कारण-कार्य के नियमों से आबद्ध शुद्ध धर्म स्वतः प्रवर्तित होते रहते हैं।

अर्थात प्रकृति के बँधे-बँधाए नियमों के आधार पर भव-चक्र चलता रहता है। बार-बार जन्मना, बार-बार मरना, बार-बार गर्भ में पड़ना, बार-बार चिता पर चढ़ाया जाना – यह क्रम चलता ही रहता है।

पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो – मूढ़ व्यक्ति बार-बार गर्भ में पड़ता है। (ध० प० ३२५, नागवग्ग)

मूढ़ता के कारण ही यह नियमबद्ध भव-चक्र चलता रहता है।

पुनप्पुनं जायति मीयति च – बार-बार जन्मता है, बार-बार मरता है।

पुनप्पुनं सिवथिकं हरन्ति – बार-बार लोग (उसे) श्मशान ले जाते हैं;

मग्गञ्च लद्धा अपुनब्भवाय – पुनर्भव से छूटने के मार्ग को पाकर,

न पुनप्पुनं जायति भूरिपञ्ञो – भूरिप्रज्ञ (अरहंत बुद्ध) बार-बार जन्म नहीं लेते।

(सं० नि० १.१.१९८, उदयसुत्त)

बुद्ध बनने से पूर्व बोधिसत्त्व अनगिनत जन्मों के संसरण में से गुजरे –

अनेकजातिसंसारं...। (ध० प० १५३, जरावग्ग)

परंतु जन्म-मरण के इस भवचक्र से छूट कर ही बुद्ध बने, अरहंत बने।

भवचक्र से कैसे छूटे?

भवचक्र से छूटने का मार्ग जानने के पहले भवचक्र को जानना आवश्यक होता है; दु:खचक्र को जानना होता है। यह भवचक्र कब से चला आ रहा है, इस निरर्थक खोज में पड़ना आवश्यक नहीं है। भगवान ने बोधि प्राप्त की और भूतकाल की स्मृति जगने पर कहा – मुझे इस भवचक्र का आदि नहीं दीखता।

ततो बहुतरा खो, ब्राह्मण, कप्पा अब्भतीता अतिक्कन्ता, ते न सुकरा सङ्खातुं।

(सं० नि० १.२.१३१, गङ्गासुत्त)

– ब्राह्मण, बहुत अधिक कल्प बीत चुके हैं उनकी गिनती की जानी संभव नहीं है।

जीते-मरते प्राणियों की पूर्व-कोटि नहीं जानी जाती यानी उनका आरंभ निश्चित नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण, इतने चिरकाल से दु:ख, पीड़ा और विपत्ति भोगी जा रही है, श्मशान भरते जा रहे हैं।

अनमतग्गोयं, भिक्खवे, संसारो, पुब्बा कोटि न पञ्ञायति। (सं० नि० १.२.१३४, दुग्गतसुत्त)

– भिक्षुओ, इस संसार के आदि का पता नहीं लगता है।

अतः समझदार व्यक्ति होगा, तो इस निरर्थक ऊहापोह में नहीं पड़ेगा कि भवचक्र का आरंभ कब हुआ। भवचक्र तो आज भी चल रहा है। घूमते हुए चक्र के कौन से बिंदु को आदि कहें भला!

बुद्ध बनने के पूर्व हर बोधिसत्त्व के सामने यही प्रश्न उभरता है।

किच्छं वतायं लोको आपन्नो – अहो, संसार कष्ट में पड़ा है,

जायति च जीयति च मीयति च चवति च उपपज्जति च;

– जन्मता है, जीर्ण होता है, मरता है, च्युत होता है, और फिर उत्पन्न होता है;

अथ च पनिमस्स दुक्खस्स निस्सरणं नप्पजानाति जरामरणस्स। (सं० नि० १.२.४, विपस्सीसुत्त)

– इस (बार बार के) जरा-मरण के दु:ख से निकलना नहीं जानता।

इसे जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह भवचक्र चलता कैसे है?

किसी बुद्ध की बोधि जागती है, तो अज्ञान का अंधेरा दूर होता है। तभी यह स्पष्ट अनुभव होता है कि भवचक्र की नाभि सदृश यह अविद्या है, जिसकी धुरी पर यह चक्र चलता रहता है। इस अविद्या के कारण ही कर्म संस्कार बनते हैं। वे कर्म संस्कार जो नया जन्म देने में समर्थ होते हैं, उनसे नये जन्म का विज्ञान यानी चित्त उत्पन्न होता है। इसे ही प्रतिसंधि विज्ञान कहते हैं। इस विज्ञान के कारण नाम-रूप का यानी चित्त और शरीर का प्रपंच चल पड़ता है। नाम-रूप के कारण छः आयतन यानी पांच शारीरिक (आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा) तथा एक मन – यों छः इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इन छः इंद्रियों के कारण रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य पदार्थ और धर्म (यानी चित्त जिसे धारण करे) इन छः लौकिक विषयों से इनका स्पर्श होता है। स्पर्श के कारण वेदना होती है। वेदना के कारण तृष्णा होती है। सुखद को प्राप्त करने अथवा रोके रखने की तृष्णा, दु:खद को दूर रखने अथवा दूर करने की तृष्णा। तृष्णा के कारण उपादान यानी आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति के कारण भव बनाने वाले गहरे कर्म-संस्कार बनते हैं। ऐसे भव-संस्कार के कारण ही

पुनः जन्म होता है। जन्म होता है तो जरा, मरण शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दुःखों का समूह उत्पन्न हो जाता है।

जब बोधि जागती है, तब यह दुःखमय भव-चक्र खूब समझ में आता है–

अविज्जापच्चया सङ्खारा,
सङ्खारपच्चया विञ्ञाणं,
विञ्ञाणपच्चया नामरूपं,
नामरूपपच्चया सळायतनं,
सळायतनपच्चया फस्सो,
फस्सपच्चया वेदना,
वेदनापच्चया तण्हा,
तण्हापच्चया उपादानं,
उपादानपच्चया भवो,
भवपच्चया जाति,
जातिपच्चया जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति।

इस प्रकार संपूर्ण दुःख-स्कंध का समुदय हो उठता है।

प्रत्यय होता है, तो उत्पाद होता है। कारण होता है, तो परिणाम उत्पन्न होता है। बीज होता है, तो फल उत्पन्न होता है। निसर्ग का यह सर्वव्यापी धर्म है। यही सार्वजनीन, सार्वकालिक, सार्वदेशिक धर्म है, जो सब पर, सब समय, सब स्थानों पर एक जैसा लागू होता है। किसी का पक्षपात नहीं करता। किसी पर कृपा या कोप नहीं करता।

इमस्मिं सति इदं होति – इसके होने से यह होता है।

इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति – इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है।

शुद्ध वैज्ञानिक बात है। इसमें निकम्मी, निरर्थक, दार्शनिक मान्यताओं के लिए भला कहां अवकाश है!

बोधि जागी, तो प्रत्यय के आधार पर उत्पाद होने की यह नैसर्गिक सच्चाई खूब समझ में आ गयी। दुःख समझ में आ गया। दुःख का मूल कारण समझ में आ गया। भवचक्र समझ में आ गया। भवचक्र को बनाने और चलाने वाली ऊर्जा का रहस्य समझ में आ गया। जब-जब कोई प्राणी अविद्या के अंधकार का जीवन जीता है, तब रागमयी या द्वेषमयी तृष्णा जगाता रहता है और भवचक्र को यानी अपने दुःखचक्र को चलायमान रखता है, रुकने ही नहीं देता। प्राणी अच्छे बुरे कर्मों के आधार पर स्वयं अपना संसार-कारक है, गृहकारक है। किसी बाहरी सृजक व्यक्ति के लिए यहां कोई अवकाश ही नहीं है।

दुःख और दुःख के कारण की सच्चाई सर्वव्यापी और सार्वजनीन है। नैसर्गिक नियमानुकूल **सुद्धधम्मा पवत्तन्ति** शुद्ध धर्म प्रवर्तित होते रहते हैं। ठीक वैसे ही दुःख के कारण का निवारण और उस निवारण के उपाय की सच्चाई भी शुद्ध वैज्ञानिक है, सर्वव्यापी और सार्वजनीन है।

इमस्मिं असति इदं न होति – इसके न होने से यह नहीं होता है।

इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति – इसके निरोध हो जाने से यह भी निरुद्ध हो जाता है।

स्पष्ट है कि दु:ख के कारण का निरोध होगा तो दु:ख का निरोध स्वतः हो जायेगा। बीज ही नहीं रहेगा, तो फल कहां से आयेगा? प्रत्यय ही नहीं रहेगा, तो समुत्पाद कैसे होगा?

यानी भीतर का होश जागे और बेहोशी दूर हो। यों अविद्या का निरोध हो तो कर्म-संस्कारों का निरोध अपने आप हो जाता है। कर्म-संस्कारों का निरोध हो तो नये जन्म के प्रतिसंधि विज्ञान का निरोध अपने आप हो जाता है। विज्ञान का निरोध हो तो नाम-रूप का; नाम-रूप का निरोध हो तो छः इंद्रियों का; छः इंद्रियों का निरोध हो तो स्पर्श का; स्पर्श का निरोध हो तो वेदना का; वेदना का निरोध हो तो तृष्णा का; तृष्णा का निरोध हो तो उपादान (आसक्ति) का; उपादान (आसक्ति) का निरोध हो तो भव का; भव का निरोध हो तो जन्म का; जन्म का निरोध हो तो जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य और उपायास का अपने आप निरोध हो जाता है। इस प्रकार दु:खों का कितना ही बड़ा समूह क्यों न हो; सारा का सारा निरुद्ध हो जाता है, जड़ से उखड़ जाता है, फिर सिर उठाने लायक नहीं रहता। सीधी सी बात है– पहले अविद्या को जड़ से उखाड़ें।

अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा सङ्खारनिरोधो,
सङ्खारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो,
विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो,
नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो,
सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो,
फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो,
वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो,
तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो,
उपादाननिरोधा भवनिरोधो,
भवनिरोधा जातिनिरोधो,
जातिनिरोधा जरामरणं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होतीति।

(उदा० १-३, पठमबोधिसुत्त, दुतियबोधिसुत्त, ततियबोधिसुत्त)

निसर्ग के सार्वजनीन नियमों के अनुसार शुद्ध धर्म की यह बात स्पष्टतया समझ में आती है कि जिन कारणों से दु:ख की उत्पत्ति होती है, उनको जड़ से उखाड़ दिये जाने पर दु:ख अपने आप जड़ से उखड़ जाता है। इस निरंतर चलते हुए दु:खचक्र को ध्यान से देखने पर उसके कारणों को उखाड़ने का मार्ग भी स्पष्ट दीखने लगता है। अविद्या के अंधकार में पड़े हैं, तृष्णा के बंधन में बँधे हैं, इसीलिए आवागमन के भवचक्र में पिसे जा रहे हैं।

अविद्या है यानी भीतरी ज्ञान नहीं है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। सुने-सुनाये परोक्ष ज्ञान से बुद्धि के स्तर पर इस आवागमन के चक्र को हजार समझ लें, परंतु अपनी प्रज्ञा जागे बिना निस्तार नहीं होता। मोह का

अंधकार बना रहता है। रूप, शब्द, गंध, रस, और स्प्रष्टव्य पदार्थ से अथवा इनके न होने पर प्रिय-अप्रिय के चिंतन के स्पर्श से भीतर ही भीतर सुखद या दुःखद वेदना निरंतर जागती रहती है। वेदना जागती है, परंतु इसका होश नहीं रहता। इसी कारण राग (लोभ) या द्वेष की तृष्णा जगाये जाते हैं, परंतु जब इसका भी होश नहीं रहता तो दुःख-चक्र टूटेगा कैसे? अविद्या टूटेगी यानी भीतर बेहोशी वाला मोह टूटेगा, तो सुखद दुःखद वेदनाओं के प्रति लोभमयी, द्वेषमयी तृष्णा की प्रतिक्रिया बंद होगी। इस प्रकार भवचक्र दुर्बल होते-होते टूटता चला जायेगा। इसके लिए शील, समाधि और प्रज्ञा का अनवरत अभ्यास करते रहना होगा। इस अभ्यास से भवचक्र की अविद्या रूपी नाभि दुर्बल होती जायेगी। लोभ, द्वेष की प्रतिक्रियाओं की ऊर्जा कमजोर होती जायेगी। अतः भवचक्र की नेमि दुर्बल होती जायेगी। इन दोनों के दुर्बल होने पर चक्र के सभी आरे लड़खड़ा उठेंगे। उन्हें ठोस आधार नहीं मिलेगा और परिणामतः पूरा का पूरा दुःखचक्र धराशायी हो जायेगा, धूल-धूसरित हो जायेगा।

इसी विद्या द्वारा बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गोतम सम्यक संबुद्ध बने। उन्होंने भवचक्र के आरे नष्ट कर दिये। इसी माने में अरहंत बने।

अरा संसारचक्कस्स, हता ञाणासिना यतो।
लोकनाथेन तेनेस, अरहन्ति पवुच्चति॥ (विसुद्धि० १.१२८, बुद्धानुस्सतिकथा)

– क्योंकि लोकनाथ भगवान बुद्ध द्वारा संसारचक्र के आरे ज्ञान की तलवार द्वारा काट दिये गये, इसलिए वे अरहंत कहलाते हैं।

भवचक्र के आरे कैसे काटते हैं?

दुःख और दुःख के कारण स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुलोम सत्य को जान लेते हैं। दुःखनिरोध और दुःखनिरोध के मार्ग स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिलोम सत्य को जान लेते हैं। जीवन-जगत की इन चार सच्चाईयों को अनुभूति के स्तर पर प्रतिपत्ति और प्रतिवेधन द्वारा साक्षात्कार कर लेने से ही कोई व्यक्ति अविद्या से विमुक्त होता है, तो ही भवचक्र काटता है, तो ही अरहंत होता है, सम्यक संबुद्ध होता है।

ये हि केचि, भिक्खवे, अतीतमद्धानं अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झिंसु, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झिंसु।

– भिक्षुओ, अतीतकाल में जिन-जिन अरहंत सम्यक संबुद्धों ने यथाभूत सत्य का अभिसंबोध किया, उन सभी ने इन चार आर्य सत्यों का यथाभूत अभिसंबोध किया।

ये हि केचि, भिक्खवे, अनागतमद्धानं अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झिस्सन्ति, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झिस्सन्ति।

– भिक्षुओ, अनागत काल में यानी भविष्य में जो जो अरहंत सम्यक संबुद्ध होंगे और यथाभूत सत्य का अभिसंबोध करेंगे, वे सभी इन चार आर्य सत्यों का यथाभूत अभिसंबोध करेंगे।

ये हि केचि, भिक्खवे, एतरहि अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा यथाभूतं अभिसम्बुज्झन्ति, सब्बे ते चत्तारि अरियसच्चानि यथाभूतं अभिसम्बुज्झन्ति।

(सं० नि० ३.५.१०९४, अरहन्तसुत्त)

– भिक्षुओ, वर्तमान काल में भी जो अरहंत सम्यक संबुद्ध हुए हैं और जिन्होंने यथाभूत सत्य का अभिसंबोध किया है, उन सभी ने इन चार आर्य सत्यों का यथाभूत अभिसंबोध किया है।

चार आर्य सत्यों का अभिसंबोध करके ही भगवान बुद्ध अरहंत हुए।

अरहंत हुए तो ही बुद्ध हुए। अरहंत हुए तो ही पूज्य हुए।

दक्खिणं पटिग्गहितुं अरहतीति अरहं – जो दक्षिणा ग्रहण करने योग्य हैं, पूज्य हैं, वे ही अरहंत हैं।

भगवान बुद्ध पूज्य हुए, वरेण्य हुए, प्रणम्य हुए, नमन्य हुए, वंद्य हुए; क्योंकि भगवान बुद्ध अरहंत हुए।

इतिपि सो भगवा अरहं।

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो

वे भगवान सम्यक संबुद्ध भी हैं।

किस माने में सम्यक संबुद्ध हैं? इसे समझें।

– "आयुष्मान गोतम, जब तुम उस दुष्कर तपश्चर्या द्वारा उत्तम आर्यदर्शन यानी परममुक्त अवस्था को नहीं प्राप्त कर सके, तो अब पथ-भ्रांत होकर, भोग-बहुलता का जीवन जीते हुए उसे कैसे प्राप्त कर पाये हो?"

पंचवर्गीय भिक्षुओं द्वारा इस प्रकार संदेह प्रकट किये जाने पर भगवान ने कहा –

न, भिक्खवे, तथागतो बाहुल्लिको, न पधानविब्भन्तो, न आवत्तो बाहुल्लाय।

– भिक्षुओ, तथागत न जोड़ने-बटोरने में लगे हैं, न साधना-भ्रष्ट हैं, न भोग-बहुलता में पड़ गये हैं।

अरहं, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो। (महाव० १२, पञ्चवग्गियकथा)

– भिक्षुओ, तथागत अरहंत हैं, सम्यक संबुद्ध हैं।

इसके पूर्व उरुवेल के बोधिमंड से ऋषिपत्तन मृगदाय आते हुए राह में मिले परिव्राजक उपक के द्वारा पूछे जाने पर कि उनका आचार्य कौन है तथागत ने यही घोषणा की थी –

अहं हि अरहा लोके, अहं सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो, सीतिभूतोस्मि निब्बुतो॥

– मैं विश्व में अरहंत हूं, सर्वोत्तम शास्ता हूं। मैं शीतलता और निर्वाण प्राप्त किया हुआ सम्यक संबुद्ध हूं।

न मे आचरियो अत्थि – मेरा कोई आचार्य नहीं है।

सब्बञ्जहो तण्हाक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं। (महाव० ११, पञ्चवग्गियकथा)

– मैं सर्वस्व त्यागी, तृष्णा-क्षय, विमुक्त हूं। स्वयं अनुभूत अभिज्ञान को किससे प्राप्त हुआ बताऊं?

सचमुच संबुद्ध वही होते हैं, जिनका कोई आचार्य नहीं होता। जो स्वयंभू यानी अपने अभिज्ञान से स्वयं बुद्ध हुए है, वे संबुद्ध हैं। यानी जो सत्य है, सही है, उसे स्वयं अपनी अपरोक्ष अनुभूति द्वारा भली-भांति जान लेते हैं, वे सम्यक संबुद्ध हैं। ऐसे महानुभव स्वयं अपनी अनुभूति द्वारा जाना हुआ सद्ज्ञान ही लोगों को बांटते हैं।

उन्होंने कहा –

तं खो पनाहं, भिक्खवे, नाञ्ञस्स समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सुत्वा वदामि; अपि च, भिक्खवे, यदेव मे सामं ञातं सामं दिट्ठं सामं विदितं, तमेवाहं वदामि। (इतिवु० ८१, सक्कारसुत्त)

– भिक्षुओ, इसे मैं किसी अन्य श्रमण या ब्राह्मण से सुन कर नहीं कहता। भिक्षुओ, जिसे मैंने स्वयं जाना है, स्वयं देखा है, स्वयं विदित किया है, उसे ही कहता हूं।

इसी लिए वे लोगों को पहले जाने और .... वाली प्रारंभिक विपश्यना साधना ...... के तदनन्तर ही मुक्त होने की अंतिम विद्या सिखाते थे।

तभी उन्होंने कहा –

जानतो अहं, भिक्खवे, पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो।

(सं० नि० १.२.२३, उपनिससुत्त)

– भिक्षुओ, मैं जानने और देखने वालों को ही आस्रवों का क्षय होना बताता हूं; बिना जानने, बिना देखेने वालों को नहीं।

इसी कारण वे औरों को भी स्वयं जानने और देखने की ही विद्या सिखाते रहे।

... सुखं वा, दुक्खं वा, अदुक्खमसुखं वा, तम्पि अनिच्चतो जानतो पस्सतो भिक्खुनो अविज्जा पहीयति, विज्जा उप्पज्जति। (सं० नि० २.४.७९, पठमअविज्जापहानसुत्त)

– (छहो इंद्रियों के क्षेत्र में) जो सुख, दुःख अथवा असुख-अदुःख अनुभव होते हैं, वे सभी अनित्य हैं। इन्हें जानते, देखते अविद्या नष्ट होती है; विद्या उपजती है।

यहां देखने का अर्थ आंखों से रंग, रूप, रोशनी आदि देखना नहीं है। यहां देखने का अर्थ अपरोक्ष अनुभूति है यानी स्वयं अनुभव करना है। आज की हिंदी भाषा में भी इस शब्द का उस पुराने अर्थ में कभी-कभी प्रयोग होता रहता है। जैसे कोई कहे – "यह रसगुल्ला मीठा है, तू खाकर तो देख"। यहां रसगुल्ला खा कर उसका रंग-रूप देखने का अभिप्राय कदापि नहीं है, बल्कि स्वयं चख कर उसके मीठे स्वाद का अनुभव करने का ही अभिप्राय है।

बुद्ध-वाणी में हम **'जान', 'पस्स'** इन दो शब्दों का स्थान स्थान पर बार-बार प्रयोग हुआ पाते हैं। इसे सर्वत्र "स्वयं अनुभूति करके जान" इस सही अर्थ में ही समझना चाहिए। अब भी और इसी प्रकार तब भी सुनी-सुनायी सच्चाई को श्रद्धा के बल पर अथवा बहुत हुआ तो तर्क-बुद्धि के बल पर प्रत्यय कर लेने की लोगों की आदत थी। उनकी क्षमता भी इतनी ही थी। भगवान ने प्रत्यक्ष सत्य को स्वानुभूति से जाना और इससे अपने आस्रवों का क्षय होते देखा; अपनी अविद्या को दूर होते देखा; अपनी विद्या को प्रकट होते देखा; अपने बंधन को टूटते देखा और अपनी मुक्ति को प्रकट होते देखा। आस्रवक्षय की इस अवस्था को स्वयं देख कर याने अपनी अनुभूति पर उतार कर बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गोतम मुक्त हुए, अरहंत हुए।

परंतु इससे भी बड़ी बात यह हुई कि वे स्वयं बुद्ध हुए यानी संबुद्ध हुए। साधारण अरहंत भी सच्चाई को प्रत्यक्ष जान कर ही मुक्त अवस्था तक पहुँच पाते हैं। बिना विपश्यना ज्ञान के, बिना सत्य को स्वयं देखे जाने कोई मुक्त नहीं होता। परंतु कोई व्यक्ति किसी के द्वारा बताये जाने पर अथवा कहीं पढ़-सुन लेने पर सच्चाई को स्वयं देखते-जानते हुए मुक्त होने का काम पूरा कर सकता है, जबकि सम्यक संबुद्ध को कोई मार्ग बताने वाला नहीं होता। वे लोक में खोया हुआ मुक्ति का मार्ग स्वयं खोजते हैं; इसलिए **मग्ग-गवेसी** कहलाते हैं। स्वयं खोजे हुए मार्ग को अच्छी प्रकार जान लेते हैं; अतः **मग्गञ्ञू** कहलाते हैं। जान कर उस मार्ग पर स्वयं चलते हैं और मुक्त हो जाते हैं; इसीलिए **मग्गकोविद** कहलाते हैं। करुण चित्त से वही मार्ग लोगों को आख्यात करते हैं; अतः **मग्गाक्खायी** कहलाते हैं। इसीलिए कहा गया –

तथागतो, भिक्खवे, अरहं सम्मासम्बुद्धो अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता, असञ्जातस्स मग्गस्स सञ्जनेता, अनक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता मग्गञ्ञू, मग्गविदू, मग्गकोविदो...।

– भिक्षुओ, तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध अनुत्पन्न मार्ग को उत्पन्न करने वाले होते हैं; अनजाने मार्ग को जनाने वाले होते हैं; अनाख्यात मार्ग को आख्यात करने वाले होते हैं; मार्गज्ञाता होते हैं, मार्गविदू होते हैं, मार्गकोविद... होते हैं।

...मग्गानुगा च, भिक्खवे, एतरहि सावका विहरन्ति पच्छासमन्नागता।

– ...भिक्षुओ, जो अब के श्रावक हैं, वे उनके पीछे-पीछे मार्ग का अनुगमन करने वाले हैं।

श्रावक उनको कहते हैं, जो भगवान से धर्म का उपदेश श्रवण कर उस पर चलते हैं।

अयं खो, भिक्खवे, विसेसो, अयं अधिप्पयासो, इदं नानाकरणं तथागतस्स अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स पञ्ञाविमुत्तेन भिक्खुनाति। (सं० नि० २.३.५८, सम्मासम्बुद्धसुत्त)

– भिक्षुओ, किसी प्रज्ञा-विमुक्त भिक्षु की तुलना में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध की यही विशेषता है, यही अधिकता है, यही विभिन्नता है।

किसी बुद्ध से सीख कर अपनी प्रज्ञा जगाने वाला व्यक्ति जब उस प्रज्ञा के बल पर भवबंधन से विमुक्त होता है, तब उसकी और सम्यक संबुद्ध की मुक्ति में कोई अंतर नहीं होता। दोनों ही अरहंत होते हैं। यह उनका आखिरी जन्म होता है और इस जीवन की मृत्यु उनकी आखिरी मृत्यु होती है, परंतु सम्यक संबुद्ध को कोई अन्य व्यक्ति या कोई ग्रंथ मुक्ति का मार्ग नहीं दिखाता। मुक्ति का मार्ग उस समय सर्वथा लुप्त हो चुका होता है। सम्यक संबुद्ध उसको स्वयं खोज निकालते हैं। यही उनकी विशेषता है।

प्रत्येक बुद्ध

जो प्रत्येक बुद्ध होते हैं वे भी किसी से सुन कर नहीं, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम द्वारा उस समय विलुप्त हुए मुक्ति के मार्ग को खोज कर भवमुक्त होते हैं। परंतु वे सम्यक संबुद्ध नहीं कहलाते। स्वयं बुद्ध माने संबुद्ध होते हुए भी उनमें कुछ कमी रह जाती है। वे अनेक जन्मों में केवल अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अन्य प्राणियों के लिए वे प्रयत्न प्रयास नहीं करते। इसलिए मार्ग खोज कर स्वयं तो मुक्त हो जाते हैं, संबुद्ध हो जाते हैं परंतु औरों को मुक्ति का मार्ग आख्यात नहीं कर सकते। इसीलिए प्रत्येक बुद्ध याने एकाकी बुद्ध कहलाते हैं।

प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा एक सम्यक संबुद्ध की संबोधि सम्यकरूपेन परिपूर्ण होती है। वे अनगिनत जन्मों में अपनी मुक्ति के साथ-साथ औरों को भी धर्मपथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। अतः सम्यक संबोधि प्राप्त होने पर वे अकेले ही मुक्त नहीं होते, बल्कि अनेकों की मुक्ति में सहायक होते हैं। यह उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है, जिसके कारण वे प्रत्येक बुद्ध न कहला कर सम्यक संबुद्ध कहलाते हैं।

तापस सुमेध

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए तापस सुमेध को बहुत बड़ा त्याग और कष्ट उठाना पड़ा। असंख्य कल्पों पूर्व इस समय का अंतिम जीवन जीने वाले सिद्धार्थ गोतम उस समय के ब्राह्मण सुमेध तापस थे और उस समय के सम्यक संबुद्ध भगवान दीपंकर के संपर्क में आये थे। उस समय उनके पास जितनी भी पूर्व पारमिताओं का संग्रह था, उससे वे भगवान दीपंकर द्वारा विपश्यना सीख कर तत्काल प्रज्ञा-विमुक्त अरहंत हो सकते थे और सदा के लिए भव-बंधन से विमुक्त हो सकते थे। परंतु उनके मन में करुणा का ऐसा संवेग जागा कि मेरी अकेले की विमुक्ति से कहीं अच्छी बात यह होगी कि भगवान दीपंकर की भांति मैं भी सम्यक संबुद्ध बनूं और अनेकों की मुक्ति में सहायक होऊं। सचमुच कोई सम्यक संबुद्ध होता है, तो सभी प्राणियों के भले के लिए ही होता है– **बुद्धो लोके समुप्पन्नो, हिताय सब्बपाणिनं।**

सामान्य अरहंत अवस्था प्राप्त करने के लिए दस पारमी (पारमिताएं) पूरी करनी आवश्यक होती हैं। पारमी याने पारमिता कहते हैं उन सद्गुणों की परिपूर्णता को जो किसी को इस पार के भव-संसार से उप पार के निर्वाण तक पहुँचने में सहायक होती हैं।

दस पारमिताएं ये हैं–

१. दान, २. शील, ३. निष्क्रमण, ४. प्रज्ञा, ५. वीर्य, ६. क्षांति, ७. सत्य, ८. अधिष्ठान, ९. मैत्री और १०. उपेक्षा।

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए इन्हीं पारमिताओं को अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में तथा अधिक सघनता के साथ परिपूर्ण करना होता है। इन दस पारमिताओं को पूर्ण करने के लिए जब अपनी समस्त सांसारिक धन-संपदा, वैभव-ऐश्वर्य, प्रभुत्व-सत्ता ही नहीं, बल्कि अपने शरीर के किन्हीं-किन्हीं अंगों का भी परित्याग किया जाता है, तो ये दस उपपारमिताएं कहलाती हैं।

यदि इन्हें पूर्ण करने के लिए अपने जीवन का भी परित्याग किया जाता है तो ये दस परमत्थ (परमार्थ) पारमिताएं कहलाती हैं।

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए यों तीस पारमिताएं पूरी करनी होती हैं।

इसके लिए बोधिसत्त्व को असंख्य कल्पों के अगणित जन्मों में भव-भ्रमण करना होता है। तपस्वी सुमेध इसके लिए तत्पर हुए। उन्होंने सोचा कि मैं अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व के रूप में तीसों पारमिताओं को पूरा करते हुए हर जीवन में स्वयं तो धर्म पालन कर अपना कल्याण साधूंगा ही, साथ-साथ अन्य अनेक व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लगा कर उनके कल्याण का भी कारण बनूंगा। अहो, इस बोधिसत्त्वचर्या में तो आत्महित के साथ-साथ परहित समाया हुआ है, सर्वहित समाया हुआ है। इस असीम मैत्री-चित्त के कारण उन्होंने एक ओर तत्काल मुक्त हो सकने के लिए उपलब्ध अवसर को त्यागा, दूसरी ओर सामान्य दस की जगह विशिष्ट तीस पारमिताओं को कहीं अधिक परिमाण में अर्जित करने के लिए लंबे समय तक भव-भ्रमण करते रहने का कष्ट उठाना स्वीकार किया। ब्राह्मण तापस सुमेध भगवान दीपंकर से आशीर्वाद प्राप्त कर, सम्यक संबोधि को लक्ष्य बना कर लोक हित करते हुए भव-संसरण में लग गये। वही बोधिसत्त्व अपनी सभी पारमिताएं परिपूर्ण कर सिद्धार्थ गोतम के नाम से जन्मे और इस अंतिम जीवन में उन्होंने सम्यक संबोधि प्राप्त की।

राह चलते परिव्राजक उपक के समक्ष उन्होंने इसी उपलब्धि की घोषणा की। यही घोषणा उन्होंने अपने छः वर्षों के संगी-साथी पंचवर्गीय भिक्षुओं के समक्ष ऋषिपत्तन मृगदाय में की और कहा – **अरहं, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो।**

कैसे प्राप्त हुई यह सम्यक संबोधि?

आचार्य आलारकालाम से सातवां और उद्दक रामपुत्र से आठवां ध्यान सीख कर जब केवल समाधि ही पुष्ट हुई, प्रज्ञा-विमुक्ति नहीं प्राप्त हुई, सम्यक संबोधि नहीं उपलब्ध हुई, तो उन्होंने लगभग छः वर्षों तक उन दिनों की बहुप्रचलित काय-दंडन की दुष्करचर्या बड़ी कठोरता के साथ निभायी, परंतु वह नितांत निकम्मी और निरर्थक साबित हुई। अतः उसे त्याग दिया। यह देख कर उनके पांचों साथी बोधिसत्त्व को **पधानविब्भन्त** यानी तपभ्रष्ट मान छोड़ कर चले गये। तदनंतर युक्ताहार-विहार द्वारा आवश्यक शरीर-बल प्राप्त कर उन्होंने नयी राह खोज निकाली, जो परम फलप्रदायक हुई। इसी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया और पंचवर्गीय भिक्षुओं को समझाया –

द्वेमे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा।

– भिक्षुओ, ये दो अंत हैं, जिनका सेवन किसी भी गृहत्यागी प्रव्रजित को नहीं करना चाहिए।

कतमे द्वे – कौन से दो?

एक तो –

यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो।

– यह जो काम भोग में लीन रहना है, जो हीन है, गँवारू (ग्राम्य) है, पृथग्जन अर्थात अनार्यों द्वारा सेवित है, अनर्थकारी है।

और दूसरा –

यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो।

– यह जो आत्मप्रपीड़न का मार्ग है, जो दुःखदायी है, अनार्यों द्वारा सेवित है और अनर्थकारी है।

अतियों वाले इन दोनों अंतों को त्याग कर –

... मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति। (सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

– यह जो मध्यमा प्रतिपदा है, जिसका कि तथागत ने अभिसंबोध किया, वह चक्षुकरणी है; ज्ञानकरणी है; उपशमन, अभिज्ञान, संबोधि और निर्वाण तक ले जाने वाली है।

संबोधि कैसे जागी?

ये जो चार आर्य सत्य हैं –

१- **इदं दुक्खं अरियसच्चं** – यह दुःख आर्य सत्य है।

२- **इदं दुक्खसमुदयं अरियसच्चं** – यह दुःख समुदय आर्य सत्य है।

३- **इदं दुक्खनिरोधं अरियसच्चं** – यह दुःख निरोध आर्य सत्य है।

४- **इदं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं** – यह दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य है।

इन चार आर्यसत्यों की प्रज्ञापना ही अपने आपमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। दुःख की सच्चाई, दुःख के सही कारण की सच्चाई, दुःख के निवारण की सच्चाई और दुःख निवारण के उपाय की सच्चाई; जीवन-जगत की इन चार महत्त्वपूर्ण सच्चाइयों को महत्त्व न देकर, धर्म के नाम पर चलने वाले सांप्रदायिक कर्मकांडों और दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में पड़ा हुआ व्यक्ति कितना उलझा रहता है? ये चार सत्य समझ में आ जायँ, तो काम की बात समझ में आ गयी; मानव-जीवन सार्थक कर लेने की बात समझ में आ गयी। जैसे मृत-मांस और चमड़ी, छिलके आदि का सारा मैल छील कर, खराद कर साफ किया गया शंख स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही इन चार सच्चाइयों को अन्य निरर्थक कर्मकांडों और दार्शनिक जंजालों से दूर कर लेने पर इनकी स्वच्छता प्रकट होने लगती है। ये चार सच्चाइयां और इनकी यह निर्मल स्वच्छता इस प्रकार, इस रूप में, पहले कभी सुनी ही नहीं गयी थी; इन्हें समझ सकना तो दूर रहा। इसलिए कहा –

पुब्बे अननुस्सुतेसु – पहले कभी न सुनी गयी, (महाव० १५, पञ्चवग्गियकथा)

इन चार सच्चाईयों के बारे में विवरण सहित सुन भी ले और उन्हें श्रद्धा के स्तर पर अथवा बुद्धि के स्तर पर स्वीकार भी कर ले, तो यह भी किसी एक संप्रदाय की दार्शनिक मान्यता ही बन कर रह जाती है। इन्हें मानने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता; सम्यक संबोधि का जागना तो बहुत दूर की बात है।

तिपरिवट्टं द्वादसाकारं –

इन चारों में से एक-एक को तीन-तीन परिवर्त में यानी तिहरी आवृत्तियों में, यों बारह प्रकार से साध लेने पर ही कोई व्यक्ति सम्यक संबोधि प्राप्त करता है। आओ, एक दृष्टि डालें एक एक आर्यसत्य के इन तिहरे परिवर्तों पर।

१. दुःख आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) दुःख की सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **परिञ्ञेयं** - बुद्धि द्वारा समझना कि यह सच्चाई परिज्ञेय है।

(ग) **परिञ्ञातं** – अनुभूति द्वारा जानना कि यह सच्चाई परिज्ञात हो गयी।

२. दुःख समुदय आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) तृष्णा ही दुःख का कारण है इस सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **पहातब्बं** – बुद्धि द्वारा समझना कि तृष्णा का प्रहाण करना चाहिए।

(ग) **पहीनं** – अनुभूति द्वारा जानना कि तृष्णा का प्रहाण कर लिया।

३. दुःख निरोध आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) दुःख का नितांत निरोध हो सकता है इस सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **सच्छिकातब्बं** – बुद्धि द्वारा समझना कि इस सच्चाई का साक्षात्कार करना चाहिए।

(ग) **सच्छिकतं** – अनुभूति द्वारा जानना कि निरोध अवस्था का साक्षात्कार कर लिया गया।

४. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) शील, समाधि और प्रज्ञा की आठ अंग वाली दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है, इस सच्चाई को स्वीकार करना।

(ख) **भावेतब्बं** – इसे बुद्धि द्वारा समझना कि इस प्रतिपदा अर्थात मार्ग की भावना करनी चाहिए, यानी इसे बार-बार अनुभूति पर उतारना चाहिए।

(ग) **भावितं** – पर्याप्त अनुभूति द्वारा जानना कि इसे भावित कर लिया।

आओ, इन सच्चाईयों को जरा और विवरण के साथ समझें।

चारों आर्यसत्यों के प्रथम-प्रथम परिवर्त को श्रुत-ज्ञान, द्वितीय-द्वितीय को चिंतन-ज्ञान और तृतीय-तृतीय को प्रत्यक्ष-ज्ञान कहना उचित होगा।

पहले प्रथम आर्यसत्य की तीन आवृत्तियों को भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है।

१- (क) प्रथम आर्यसत्य की पहली आवृत्ति है दुःख की सच्चाई को स्वीकारना। जरा, व्याधि और मरण के दुःख को स्वीकारना कठिन नहीं होता। इसी प्रकार अप्रियसंयोग और प्रियवियोग के दुःख को स्वीकारना भी सरल है। जिसकी कामना करें, उसके प्राप्त न होने का दुःख भी सरलता से स्वीकारा जा सकता है। परंतु मनुष्य लोक में किसी धनीमानी, समृद्धिशाली, शक्तिशाली परिवार में जन्म लेने का सुख अथवा देवलोकों तथा रूप-अरूप ब्रह्मलोकों में जन्म लेने का सुख भी वस्तुतः दुःख ही है – इसे स्वीकारना अनेक लोगों के लिए कठिन होता है। इन लौकिक सुखों को ही सुख मानने वालों के लिए यह सुख अनित्यधर्मा होने के कारण दुःख ही है – यह स्वीकारना आसान नहीं होता। परंतु इन लौकिक सुखों को अनित्य मानते हुए भी उनमें रमण करने वाले लोगों से ज्यादा बड़ी कठिनाई उनकी है जो अपनी दार्शनिक मान्यताओं के चिपकाव के कारण नाम और रूप के पांचों स्कंधों में से किसी एक को नित्य, ध्रुव, कूटस्थ आत्मा मान कर उसे शाश्वत सुख का केंद्र माने हुए हैं, अथवा किसी देवलोक या ब्रह्मलोक को और वहां के निवासी देव-ब्रह्माओं को अमर माने हुए हैं, वे इनमें समाये हुए अनित्यधर्मा दुःख को कैसे स्वीकारे भला? अपनी सांप्रदायिक मान्यता में जकड़ा हुआ व्यक्ति जीवन भर प्रथम आर्यसत्य का विरोध यह कह कर करता रहेगा कि मानवी धन-संपदा ऐश्वर्य-वैभव के प्रत्यक्ष सुख को और शाश्वत दिव्य तथा ब्राह्मी आनंद को दुःख कहना घोर निराशावादी विचारधारा है। यह हमे मान्य नहीं है। वह कभी यह समझने की कोशिश नहीं करेगा कि इसी जीवन के नहीं बल्कि भवसंसार में बार-बार जन्मने और मरने के सभी दुःखों से मुक्ति दिलाने का मार्ग परम आशावादी मार्ग है। उसमें निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, परंतु दुर्भाग्यवश वह अपनी नासमझी में ही उलझा रहेगा।

ऐसी नासमझी और मिथ्या दृष्टियों से छुटकारा पाकर और धर्म-वाणी पर श्रद्धा जगा कर कोई यह स्वीकार कर भी ले कि उपादान यानी आसक्ति के कारणभूत इन रूप और नाम के यानी शरीर और चित्त के पंचस्कंधों की उत्पत्ति ही दुःख है, चाहे वह किसी लोक में क्यों न हो, तो भी उसके लिए यह पहले आर्यसत्य का इकहरा रूप ही प्रकट हुआ। इसके द्वारा शंकाओं से भले मुक्ति मिल जाय, किंतु अंतःशायी यानी भीतर की गहराइयों में सोये हुए भव-संसरण के संस्कार नहीं मिट पाते। अतः दुःख सत्य को मात्र श्रद्धा के स्तर पर स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाता, बोधि प्राप्त नहीं कर पाता।

१- (ख) मुक्ति के लिए इस प्रथम आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति को समझना आवश्यक है कि दुःख **परिञ्ञेय्यं** यानी परिज्ञेय है। यानी स्वानुभूति द्वारा दुःख के क्षेत्र की संपूर्ण परिधि का परिपूर्ण ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए। इसके बिना पंचस्कंध का सारा क्षेत्र दुःख का ही क्षेत्र है – इसे जान नहीं पायेगा। बुद्धि द्वारा केवल मान कर ही रह जायेगा। परिणामतः मुक्ति से दूर रह जायेगा।

१- (ग) बोधि प्राप्त करने के लिए इस प्रथम आर्यसत्य की तीसरी आवृत्ति को अनुभूति द्वारा जानना आवश्यक है। उस अवस्था तक पहुँचना आवश्यक है, जहां पहुँच कर विश्वासपूर्वक कहा जा सके कि – **परिञ्ञातं** यानी परिज्ञात हो गया। दुःख की अंतिम परिधि तक का परिपूर्ण ज्ञान अनुभूति के स्तर पर प्राप्त कर लिया।

इसके लिए नाम और रूप के अर्थात चित्त और शरीर के संपूर्ण उदय-व्ययधर्मा क्षेत्र का स्वयं अवगाहन करना होता है, अनुसंधान करना होता है। संपूर्ण क्षेत्र का परिपूर्ण अनुभव हुआ या नहीं, यह कैसे जाने? यह तभी जान पाता है, जबकि इस अनित्य क्षेत्र की परिधि का अतिक्रमण कर के रूपातीत, नामातीत, इंद्रियातीत, अमृत निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है। अन्यथा इस अनित्य-धर्मा ऐन्द्रिय क्षेत्र की किसी भी सुखद, सूक्ष्म अवस्था की अनुभूति हो जाने पर इस भ्रम में पड़ सकता है कि मैंने दुःख आर्यसत्य का परिज्ञान पूरा कर लिया। मैंने सारे दुःखों के परे का सुख अनुभव कर लिया। इस भ्रांति से बचने के लिए इंन्द्रियातीत **निब्बानं परमं सुखं** को स्वानुभूति पर उतारना आवश्यक है। इसके बिना दुःख का परिज्ञान नहीं होता। पूर्ण परिज्ञात तक पहुँचने की सारी भूमियां अनुभूति पर उतार लेने पर ही प्रथम आर्यसत्य के तिहरी आवृत्ति यानी **तिपरिवट्टं** का सही ज्ञान होता है।

इसी प्रकार दूसरे आर्यसत्य यानी दुःख समुदय की तीनों आवृत्तियों को भी भली प्रकार समझना आवश्यक है।

२- (क) पहली आवृत्ति में यह स्वीकारना होता है कि तृष्णा का उदय ही दुःख का समुदय है। परंतु काम-भोग को सुखद मानने वाला व्यक्ति काम-भोग के प्रति उदय होने वाली तृष्णा को दुःख-समुदय नहीं स्वीकारता? इसी प्रकार अनित्यधर्मा पांच स्कंधों में से किसी एक को अमर आत्मा मान लेने वाला व्यक्ति अथवा किसी भी लोक को और उस लोक के निवासियों को अमर मान लेने वाला व्यक्ति उस लोक में उत्पन्न होने की भव-तृष्णा को दुःख-समुदय नहीं स्वीकारता। इसी प्रकार अपने दुष्कर्मों का दुष्फल भावी जन्मों में भोगना होगा इससे घबराकर सभी भवों के नष्ट हो जाने की तृष्णा रखने वाला व्यक्ति इस विभव-तृष्णा को दुःख-समुदय नहीं स्वीकारता। कोई व्यक्ति इन तीनों मिथ्या भ्रांतियों में से निकलता है और यह स्वीकार कर लेता है कि तृष्णा 'तृष्णा' है, चाहे काम-तृष्णा हो या भव-तृष्णा या विभव-तृष्णा। वह यहां वहां, जहां कहीं भी अभिनंदन करती हुई उत्पन्न होती है वहीं दुःख-समुदय होता है। श्रद्धाजन्य श्रुतज्ञान द्वारा इस सच्चाई को स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति अन्य भ्रांत व्यक्तियों से अच्छा है। परंतु दूसरे आर्यसत्य की इस स्वीकृति मात्र से वह मुक्त नहीं होता।

२- (ख) वस्तुतः दुःख-विमुक्त होने के लिए दूसरे आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति है **पहातब्बं** यानी उसका पूर्णतया प्रहाण करना चाहिए – इस तथ्य को बुद्धि के स्तर पर स्वीकारना आवश्यक है।

२- (ग) परंतु इस तथ्य को महज स्वीकार लेने मात्र से मुक्ति नहीं मिलती। वस्तुतः प्रहाण करके **पहीनं** की अवस्था यानी तीसरी आवृत्ति को पूरा कर लेना अनिवार्य है। दुःखद अनुभूति के प्रति द्वेष की तृष्णा से छुटकारा पाना सरल हो, तो भी सुखद अनुभूति के प्रति राग की तृष्णा से मुक्त होना कठिन है। विपश्यना के गहरे अभ्यास द्वारा सामिष सुखद संवेदना से मुक्ति प्राप्त करने के बाद रूप-अरूप के सूक्ष्मतर सुख की तृष्णा भी छूटती है। अंततः निर्वाण के परम सुख के प्रति भी तृष्णा का नामोनिशान नहीं रहता, तभी तृष्णा का सचमुच क्षय होता है; तभी भवातीत निर्वाण का साक्षात्कार होता है; तभी दूसरे आर्यसत्य की **तिपरिवट्टं** यानी तीनों आवृत्तियों का सम्यक रूप से संबोध होता है।

इसी प्रकार तीसरे आर्यसत्य दुःखनिरोध की भी तीनों आवृत्तियों को भली प्रकार समझना आवश्यक है –

३- (क) जो व्यक्ति तृष्णा को दुःख का कारण ही नहीं स्वीकारेगा, वह तृष्णा के निवारण से दुःख-निवारण हो जाने की सच्चाई को कैसे स्वीकारेगा? वह अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर किसी तारक ब्रह्म यानी तारक ईश्वर की कृपा से उसके लोक में जन्म लेने को मुक्ति समझता रहता है। शुद्ध धर्म की वाणी सुन कर कोई इस भ्रम के बाहर निकले और इस तथ्य को स्वीकार भी कर ले कि जिन कारणों से दुःख का समुदय होता है, उन कारणों को दूर करने पर ही दुःख-निरोध होगा, तो इस आर्यसत्य को उसने सही तो समझा, पर यह उसका इकहरा ज्ञान ही हुआ। तीसरे आर्यसत्य की प्रथम आवृत्ति ही हुई। मात्र इतने से वह दुःख-मुक्त नहीं होता। उसे इस सत्य की दूसरी आवृत्ति को भी समझना है।

३- (ख) इस दुःखनिरोध आर्यसत्य का – **सच्छिकातब्बं** – साक्षात्कार करना चाहिए, इसे समझना और स्वीकारना इस आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति है। परंतु इसे भी मात्र बुद्धि के स्तर पर स्वीकार कर लेने मात्र से कोई वस्तुतः दुःख-मुक्त नहीं होता।

३- (ग) इस विमुक्ति के लिए आवश्यक है, तीसरी आवृत्ति – **सच्छिकतं** यानी साक्षात्कार कर लिया। इसकी स्वानुभूति अनिवार्य है। इस नित्य, शाश्वत, निर्वाणिक अवस्था के साक्षात्कार की जब पहली बार अनुभूति होती है, तब साधक वस्तुतः जान लेता है कि –

यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मन्ति। (महाव० १५,१६, पञ्चवग्गियकथा)

– जो कुछ उत्पन्न होने के स्वभाववाला है, वह निरुद्ध होने के स्वभाववाला भी है।

इस सच्चाई को अनुभव कर सकने के लिए विरज, विमल, धर्मचक्षु उत्पन्न होने आवश्यक हैं, यानी नाम-रूप प्रपंच के शुद्ध धर्म-स्वभाव को अनुभव कर सकने की क्षमता प्राप्त होनी आवश्यक है जो विपश्यना के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। इस अभ्यास से पहले नाम-रूप के उत्पाद और व्यय होने की सच्चाई अनुभव होती है। इसे तटस्थ भाव से देखते-देखते जब चार अपाय गतियों की ओर ले जाने वाले सारे भवदायी अनुशय संस्कार सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, तब नाम-रूप के परे, यानी छहों इंद्रियों के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमृत का पहला-पहला अनुभव होता है। यह अवस्था **सोतापन्न** की अवस्था कहलाती है, यानी साधक ने भविष्य में नितांत मुक्त हो जाने की क्षमता प्राप्त कर ली। वह मुक्ति के स्रोत में पड़ गया। इस अवस्था पर पहुँच कर वह अधो गतियों से तो मुक्त हो ही गया; आगे की मुक्ति के लिए भी प्रयत्नशील होने लगता है। ऐसा व्यक्ति अधिक से अधिक सात बार जन्म ले कर सारी गतियों से नितांत विमुक्त हो जाता है।

सारी भव गतियों से नितांत विमुक्त होने के लिए दस संयोजनों यानी बंधनों को नष्ट करना आवश्यक होता है। स्रोतापन्न की अवस्था प्राप्त होने पर तीन संयोजन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। ये संयोजन हैं –

(१) सत्काय-दृष्टि अर्थात नाम और रूप से संबंधित किसी भी अवस्था को 'मैं', 'मेरा' अथवा "मेरी आत्मा" स्वीकार कर उसे नित्य, शाश्वत, ध्रुव मान लेने की आत्मदृष्टि, अहंदृष्टि।

(२) विचिकित्सा यानी यानी मार्ग और मार्ग के फल के प्रति संशय संदेह।

(३) शील-व्रत-परामर्श अर्थात किसी भी शील या व्रत को मुक्ति-प्रदायक मान कर उसे अतियों तक खींचना और उसके प्रति गहन आसक्ति जगा लेना।

स्रोतापन्न हुआ साधक जब विपश्यना के मार्ग पर आगे बढ़ता है, तब वह अन्य दो संयोजनों का सामना करता है –

(४) काम-छंद यानी प्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति आदि को प्राप्त करने की तीव्र कामना भरा राग। इसमें काम-वासना से संबंधित राग प्रमुख होता है।

(५) प्रतिघ यानी प्रतिघात – अप्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति आदि को दूर करने एवं दूर रखने के लिए प्रतिघात करना यानी उसके प्रति उत्पन्न हुआ तीव्र द्वेष।

तीव्र राग और तीव्र द्वेष की जड़ें भीतर तक बहुत गहरी समायी हैं। इन्हें सहसा निकाल पाना सरल नहीं होता। स्रोतापन्न साधक विपश्यना का अभ्यास करते हुए नाम और रूप के अनित्य स्वभाव का गहराइयों से अनुभव करते-करते इन दोनों संयोजनों को दुर्बल बना कर जब इंद्रियातीत निर्वाण की अनुभूति करता है, तब वह **सकृदागामी** यानी एक बार जन्म लेने वाला बन जाता है। अभी काम-राग की जड़ें नहीं निकल पायी हैं, अतः ऐसा व्यक्ति मरने पर कामलोक में यानी मनुष्य या देवलोक में केवल एक बार जन्म लेता है।

सकृदागामी हुआ साधक विपश्यना के मार्ग पर प्रगति करते हुए अंततः इन दोनों संयोजनों की जड़ें उखाड़ लेता है। यों इन पांचों **ओरम्भागीय** यानी अधोभागीय संयोजनों से मुक्त होकर जब निर्वाणिक अनुभूति करता है, तो **अनागामी** अवस्था को प्राप्त कर लेता है। स्रोतापन्न होने पर चार अपाय गतिय से, यानी अधोगतियों से मुक्त हो जाता है और अनागामी होने पर मनुष्य और देवों के कामलोकों की गतियों से भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि उसमें लेशमात्र भी कामराग शेष नहीं रह पाता। अनागामी जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब शुद्धावास नामक पांच रूप ब्रह्मलोकों में से किसी एक में जन्म लेता है। पांचों अधोभागीय संयोजनों के नष्ट हो जाने के कारण वह ब्रह्मलोक से नीचे के लोकों में जन्म लेने से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

अनागामी हुआ साधक ब्रह्मलोक में जन्म लेकर अथवा यहीं इसी लोक में विपश्यना करता हुआ पांच अन्य संयोजनों को भी नष्ट कर लेता है। ये ऊर्ध्वलोकों से संबंधित हैं, अतः **उद्धंभागीय** यानी ऊर्ध्वभागीय संयोजन कहलाते हैं। इन संयोजनों के कारण साधक –

(६) रूप-राग – रूप ब्रह्मलोकों के प्रति आसक्त रहता है।

(७) अरूप-राग – अरूप ब्रह्मलोकों के प्रति आसक्त रहता है।

(८) उसमें मान यानी अस्मिताभाव, अहंभाव बना रहता है। इस सूक्ष्म अहंभाव के कारण रूप और अरूप ब्रह्मलोकों की भव-तृष्णा बनी रहती है।

(९) औद्धत्य यानी बेचैनी – भव-तृष्णा के कारण सूक्ष्म अवस्था में बेचैनी कायम रहती है।

(१०) अविद्या – भव-तृष्णा के कारण ही अविद्या की झीनी परतें कायम रहती हैं, जो मुक्ति में बाधक बनती हैं।

अनागामी साधक विपश्यना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ, नाम और रूप का विभाजन, विघटन करता हुआ इन पांचों ऊर्ध्वभागीय संयोजनों को भी नष्ट कर देता है और अरहंत अवस्था को प्राप्त करते हुए जिस निरोध यानी निर्वाणिक अवस्था की अनुभूति करता है, उससे सभी लोकों के जन्मों से मुक्त हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह इस सच्चाई को अनुभूति के स्तर पर जान लेता है कि किसी भी लोक में नये जन्म देने वाले सारे भवसंस्कार उसने नष्ट कर लिये हैं। यही दुःखनिरोध है। इसका स्वयं साक्षात्कार करना है। यही बोधिसत्त्व की तीसरे आर्यसत्य का **तिपरिवट्टं** ज्ञान है। यही बोधिसत्त्व की सम्यक बोधि है।

इसी प्रकार चौथे आर्यसत्य **दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा** को भी तिहरे रूप में जानना आवश्यक है –

४- (क) चौथा आर्यसत्य है – सभी दुःखों का निरोधक आठ अंग वाला आर्यमार्ग **अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो**। इसकी तीनों आवृत्तियों को भी विवरण सहित समझेंगे –

१. **सम्मादिट्ठि** – सम्यक दर्शन, सही यथाभूत दर्शन।

२. **सम्मासङ्कप्पो** – सम्यक संकल्प, सही चिंतन।

३. **सम्मावाचा** – सम्यक वचन, सही सत्य वाणी।

४. **सम्माकम्मन्तो** – सम्यक कर्मांत, सही शारीरिक कर्म।

५. **सम्माआजीवो** – सम्यक आजीविका, सही आजीविका।

६. **सम्मावायामो** – सम्यक व्यायाम, सही प्रयत्न (परिश्रम)।

७. **सम्मासति** – सम्यक स्मृति, सही जागरूकता।

८. **सम्मासमाधि** – सम्यक समाधि, सही समाधि। (सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

इस आठ अंग वाले आर्यमार्ग के तीन विभाग हैं –

(क) तीसरा, चौथा और पांचवां शील-सदाचार का विभाग;

(ख) छठा, सातवां और आठवां समाधि का विभाग और,

(ग) पहला और दूसरा प्रज्ञा का विभाग।

इसकी पहली आवृत्ति है इसे शील, समाधि, प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग को दुःख निरोधक है। मुक्ति प्रदायक स्वीकार करना।

जब कोई व्यक्ति मिथ्या मान्यताओं में उलझा होता है, तब इस चौथे आर्यसत्य को सिद्धांत रूप में भी स्वीकार नहीं करता।

वह सत्कर्म के सत्फल और दुष्कर्म के दुष्फल प्राप्त होने के सिद्धांत को ही नहीं स्वीकारता न वह कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होने को स्वीकारता है। वह दुराचारों में दोष नही देखता, वह व्यक्ति शील पर आधारित इस अष्टांगिक मार्ग को क्यो स्वीकार करेगा।

कोई व्यक्ति ऐसी किसी मिथ्या मान्यता में उलझा होता है कि हर व्यक्ति के भीतर एक ऐसी आत्मा निवास करती है, जो अजर है, अमर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, कूटस्थ है। वह इस मान्यता के बहकावे

में आकर चाहे जितनी हत्याएं करे, खून-खराबा करे, फिर भी यह मानता रहेगा कि जिनको मार रहा हूं, वे आत्मा के स्तर पर अमर हैं। अतः उनकी हत्या करने में कोई दोष नहीं है। ऐसा व्यक्ति मुक्तिमार्ग पर शील सदाचार का पहला कदम ही नहीं उठा पाता; समाधि और प्रज्ञा के दूसरे और तीसरे कदम की लच्छेदार बातें भले कर ले, पर धारण करना आवश्यक नहीं समझता।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या दृष्टि में उलझा होता है कि अपने भीतर जो नित्य, शाश्वत, ध्रुव आत्मा है, उसका दर्शन होते ही वह स्वतः भवमुक्त हो जायेगा। वह भी शील, समाधि, प्रज्ञा की प्रशंसा तो खूब करेगा, पर पालन करना कतई आवश्यक नहीं समझेगा। वह बार-बार अपने भीतर एक आत्मा की कल्पना करेगा। जितना बड़ा शरीर उतनी बड़ी आत्मा या अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा, या तिल के जितनी बड़ी या बाल की नोक के जितनी बड़ी आत्मा की कल्पना करेगा और उसका दर्शन कर पाने के मिथ्या उपक्रम में अपने जीवन का सारा श्रम लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या मान्यता में उलझा होता है कि ऐसा एक ईश्वर या ब्रह्म है जो मुझ पर दया करके, मेरे अनेक पाप कर्मों के रहते हुए भी मुझे माफ कर देगा और भवसागर से तार देगा। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि, प्रज्ञा को अच्छा तो जरूर कहेगा, पर उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। वह यही प्रयत्न करता रहेगा कि उस तारक ईश्वर का नाम जप कर अथवा उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, प्रशस्ति करके, उसे खुश कर लूं, ताकि वह मुझे तार दे। ऐसा व्यक्ति इसी धोखे में अपना सारा पुरुषार्थ लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या दृष्टि में उलझा होता है कि उस तारक ईश्वर का रूप दर्शन हो जाय, तो स्वतः तर जाऊंगा। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि, प्रज्ञा की प्रशंसा खूब करेगा, परंतु उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। अपने प्रियतम ईश्वर के रूपकाय के दर्शन के लिए छटपटायेगा; उसके विरह में क्रंदन-रुदन करेगा; दर्शन देने के लिए उससे अनुनय-विनय करेगा और इसी में अपना सारा श्रम लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति पांच शीलों में से किसी एक शील के प्रति अथवा उपवास आदि किसी एक व्रत के प्रति आसक्त होकर, उसे ही मुक्ति का उपाय मान लेता है। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि और प्रज्ञा की प्रशंसा खूब करेगा, परंतु उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। वह अपने जीवन का सारा श्रम, सारी ऊर्जा, उस-उस शील को, उस-उस व्रत को अतियों तक धारण करने में ही लगा देगा और इसी में संतोष मान लेगा।

धर्म-वाणी सुन कर जो इन मिथ्या जंजालों से सर्वथा मुक्त होता है, वह इस बात को स्वीकार कर लेता है कि शील, समाधि, प्रज्ञा का अष्टांगिक मार्ग ही भवमुक्ति का एकमात्र मार्ग है – **एकायनो मग्गो** है, परंतु श्रद्धा के स्तर पर यह स्वीकार करना अच्छा होते हुए भी चौथे आर्यसत्य की पहली आवृत्ति मात्र ही है। इससे बोधि नहीं जाग सकती, भव-विमुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

४- (ख) इस आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति **भावितब्बो** यानी यह मार्ग प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा भावित करने योग्य है, बहुलीकृत करने योग्य है। परंतु बुद्धि के स्तर पर स्वीकृत इस दूसरी आवृत्ति से भी न बोधि मिलती है और न भव-विमुक्ति।

४- (ग) इसके लिए तीसरी इस सत्य की तीसरी आवृत्ति को क्रियान्वित करना अनिवार्य है। इसे पूरा करके ही कोई कह सकता है – **भावितं** यानी मैंने इस चौथे आर्यसत्य को भावित कर लिया यानी उसके आठ अंगों में से प्रत्येक को बार बार अनुभूति पर उतार कर परिपक्व कर लिया। यों शील, समाधि और प्रज्ञा में पुष्ट हुआ व्यक्ति बोधि के बल पर **सोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी** और अंततः **अरहंत** की फल अवस्था उपलब्ध कर भव-विमुक्त होता है।

इन चारों आर्यसत्यों की पहली-पहली आवृत्ति यानी **एकपरिवट्टं** को श्रद्धा के स्तर पर स्वीकारने से लाभ अवश्य होता है, क्योंकि अगली कड़ी इसके बिना पूरी नहीं हो सकती। पहली आवृत्ति द्वारा कम से कम **योनिसोमनसिकार** तो होता है, सम्यक संकल्प तो होता है यानी व्यक्ति सही दिशा में सोचना तो शुरू करता है। इसी प्रकार दूसरी-दूसरी आवृत्ति यानी **द्विपरिवट्टं** से लाभ अवश्य होता है, क्योंकि इसके बिना इससे अगली कड़ी पूरी नहीं हो सकती। इसके द्वारा बुद्धि के स्तर पर स्वीकार किया जाता है कि सच्चाई को अनुभव पर उतारना आवश्यक है, परंतु सही लाभ तो सचमुच अनुभूति पर उतार लेने से ही यानी इन आर्यसत्यों की तीसरी-तीसरी आवृत्ति यानी **तिपरिवट्टं** पूरी कर लेने से ही होता है ये चारों आर्यसत्य **तिपरिवट्टं, द्वादसाकारं** पूरा कर लेने पर ही तथागत सम्यक संबुद्ध बने।

किसी सामान्य श्रावक को चारों आर्यसत्यों की प्रथम आवृत्ति श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त होती है, परंतु सम्यक संबुद्ध की संबोधि का आधार श्रुत नहीं होता। उनके लिए पहली और दूसरी दोनों आवृत्तियां चिंतन के आधार पर होती हैं और तीसरी अनुभूति के आधार पर। इसी से वे सम्यक संबुद्ध बनते हैं। उन्होंने दुःख आर्यसत्य का परिज्ञान प्राप्त कर लिया, समुदय आर्यसत्य का प्रहाण कर लिया, निरोध आर्यसत्य का साक्षात्कार कर लिया और मार्ग आर्यसत्य को भावित कर लिया। यह कर लेने पर ही उनका ज्ञान सम्यक ज्ञान हुआ। उनका दर्शन सम्यक दर्शन हुआ। उनका ज्ञान, दर्शन यथाभूत यानी यथार्थतः सुविशुद्ध हुआ। तभी उनकी विमुक्ति सम्यक विमुक्ति हुई। ऐसा होने पर ही पूर्ण आश्वस्त हो कर उन्होंने सम्यक संबुद्ध होने का दावा किया और इसकी घोषणा की।

यतो च खो मे, भिक्खवे, इमेसु चतूसु अरियसच्चेसु एवं तिपरिवट्टं द्वादसाकारं यथाभूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि।

– भिक्षुओ, जब इस प्रकार तीन-तीन आवृत्तियां वाले इन चारों आर्यसत्यों के बारह प्रकार से यथाभूत ज्ञानदर्शन सुविशुद्ध हुए –

अथाहं, भिक्खवे, सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय "अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धो"ति पच्चञ्ञासिं।

– भिक्षुओ, तब मुझे देव, मार, ब्रह्मा, श्रमण, ब्राह्मण तथा देव, मनुष्यों सहित इस इहलोक में यह क्रमिक अभिज्ञान हुआ कि मैं ने अनुत्तर सम्यक संबोधि का अभिसंबोध कर लिया है।

ञाणञ्च पन मे दस्सनं उदपादि – "अकुप्पा मे विमुत्ति, अयमन्तिमा जाति, नत्थिदानि पुनब्भवो"ति।

(सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

– मुझमें इस तथ्य का ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो गया है कि यह मेरी अकंप विमुक्ति है; यह मेरा अंतिम जन्म है; इसके बाद पुनर्जन्म नहीं है।

ये चारों आर्यसत्य किसी संप्रदाय-विशेष की फिलॉसफी नहीं है, कोरी दार्शनिक मान्यता नहीं है। ये जीवन-जगत की सच्चाइयां हैं, जिन्हें भली-भांति समझने, स्वीकारने से और जिनका जीवन में परिपूर्णतया अनुभव कर लेने से कोई भी व्यक्ति भव-विमुक्त यानी दुःख-विमुक्त हो सकता है, चाहे वह सम्यक संबुद्ध हो या कोई अन्य।

हां, सम्यक संबुद्ध की विशेषता यह होती है कि असंख्य कल्पों के अनगिनत जन्मों में बृहद परिमाण में पारमिताएं पूरी कर लेने के कारण वे ऐसे युग में जन्म लेते हैं जबकि ये सच्चाइयां सर्वथा विलुप्त हो चुकी होती हैं। वह उन्हें इस प्रकार **तिपरिवट्टं, द्वादसाकारं** अनुभूत कर खोज निकालते हैं। एक-एक आर्यसत्य की एक-एक आवृत्ति उनके लिए स्पष्ट होती जाती है। वे देखते हैं कि –

पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि,

– पहले कभी न सुने गये धर्मों में धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया,

ञाणं उदपादि – ज्ञान उत्पन्न हो गया,

पञ्ञा उदपादि – प्रज्ञा उत्पन्न हो गयी,

विज्जा उदपादि – विद्या उत्पन्न हो गयी,

आलोको उदपादि – आलोक उत्पन्न हो गया। (सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

सारा अंधकार दूर हो गया, अविद्या दूर हो गयी, दुष्प्रज्ञता दूर हो गयी, अज्ञान दूर हो गया, अंधापन दूर हो गया।

ऐसा धर्म-चक्षु प्राप्त हुआ कि तथागत चक्षुमान ही नहीं, स्वयं चक्षु हो गये – **चक्खुभूतो** ।

चक्खुं हि एतं परमं नरानं – (तथागत) मनुष्यों के उत्तम चक्षु ही हैं।

(थेरगा० १२७६, वङ्गीसत्थेरगाथा)

चक्खुं लोके समुप्पन्नं – (तथागत) संसार में चक्षु के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

(सु० नि० ६०४, वासेट्ठसुत्त)

ऐसा ज्ञान जागा कि तथागत ज्ञानी ही नहीं, स्वयं ज्ञान हो गये – **ञाणभूतो** ।

ऐसा आलोक जागा कि तथागत आलोकित ही नहीं, स्वयं आलोक हो गये – **आलोकभूतो।** तथागत आलोकदाता हो गये।

धीरा च पज्जोतकरा भवन्ति – धीर प्रकाश देने वाले होते हैं। (थेरगा० १२७८, वङ्गीसत्थेरगाथा)

तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध हो गये, भव-विमुक्त हो गये, सही माने में महापुरुष हो गये।

विमुत्तचित्तत्ता ख्वाहं, सारिपुत्त, 'महापुरिसो'ति वदामि।

– हे सारिपुत्त, जो विमुक्त-चित्त हो, उसे ही मैं 'महापुरुष' कहता हूं।

अविमुत्तचित्तत्ता 'नो महापुरिसो'ति वदामि। (सं० नि० ३.५.३७७, महापुरिससुत्त)

– जो विमुक्त-चित्त नहीं है, उसे मैं 'महापुरुष' नहीं कहता।

चारों आर्यसत्यों की अनुभूति बिना मुक्ति संभव नहीं।

तथागत विमुक्तचित्त हो गये। भवभ्रमण से नितांत विमुक्त हो गये। स्वयं विमुक्त होकर लोगों को विमुक्ति का सही मार्ग सिखाने लगे। भवबंधन और भवविमुक्ति की इन अनुभवजन्य सच्चाइयों को जान कर ही उन्होंने यह घोषणा की –

यो, भिक्खवे, एवं वदेय्य – भिक्षुओ, कोई ऐसा कहे कि –

अहं, दुक्खं अरियसच्चं... दुक्खसमुदयं अरियसच्चं... दुक्खनिरोधं अरियसच्चं... दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदं अरियसच्चं यथाभूतं अनभिसमेच्च।

– दुःख आर्यसत्य, दुःख-समुदय आर्यसत्य, दुःख-निरोध आर्यसत्य और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य का यथाभूत अनुभूतिजन्य ज्ञान उपलब्ध किये बिना ही मैं –

सम्मा दुक्खस्सन्तं करिस्सामि – सम्यक रूप से यानी सही माने में दुःखों का अंत कर लूंगा,

नेतं ठानं विज्जति – तो इसकी कोई संभावना विद्यमान नहीं। यह असंभव है,

(सं० नि० ३.५.११०२, खदिरपत्तसुत्त) क्योंकि –

यं खो, आवुसो, दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं – अयं वुच्चतावुसो, 'अविज्जा'।

(म० नि० १.१०३, सम्मादिट्ठिसुत्त)

– आवुसो, यह जो दुःख का अज्ञान है, दुःख-समुदय का अज्ञान है, दुःख-निरोध का अज्ञान है, दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा का अज्ञान है – यही अविद्या है।

और जब तक अविद्या है, तब तक भवविमुक्ति का दरवाजा बंद है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति कभी जान नहीं पाता कि सभी सांसारिक सुखों में दुःख समाया हुआ है। वह कभी जान नहीं पाता कि सभी दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। वह कभी जान नहीं पाता कि तृष्णा को जड़ से खोद कर ही दुःख-निरोध की अवस्था प्राप्त हो सकती है। वह कभी जान नहीं पाता कि दुःख-निरोध के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलना अनिवार्य है। जो यह नहीं जान पाता वह मुक्ति के मार्ग पर कैसे चलेगा? चलेगा नहीं तो मुक्त कैसे होगा? उसके जीवन में अंधकार ही अंधकार समाया रहेगा।

यतो च खो, भिक्खवे, चन्दिमसूरिया लोके उप्पज्जन्ति, अथ महतो आलोकस्स पातुभावो होति महतो ओभासस्स।

– भिक्षुओ, संसार में जब चांद या सूरज उगा रहता है, तो महान आलोक-अवभास का प्रादुर्भाव होता है, प्रभूत प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है।

एवमेव खो, भिक्खवे – इसी प्रकार, भिक्षुओ –

यावकीवञ्च तथागतो लोके नुप्पज्जति अरहं सम्मासम्बुद्धो,

– जब तक तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध संसार में उत्पन्न नहीं होते,

नेव ताव महतो आलोकस्स पातुभावो होति महतो ओभासस्स,

– तब तक प्रभूत प्रकाश एवं आलोक का प्रादुर्भाव नहीं होता,

अन्धतमं तदा होति अन्धकारतिमिसा।

– तब तक अँधेरी तमिस्रा(रात) का अँधियारा छाया रहता है।

नेव ताव चतुन्नं अरियसच्चानं आचिक्खणा होति देसना पञ्ञापना पट्ठपना विवरणा विभजना उत्तानीकम्मं।
(सं० नि० ३.५.११०८, दुतियसूरियसुत्त)

– तब तक न चार आर्यसत्यों की चर्चा होती है, न देशना, न प्रज्ञापना, न प्रस्थापना, न विवरणा (अनावरण करना), न विभाजन करना और न ही स्पष्ट करना।

आर्य अष्टांगिक मार्ग

संसार में सम्यक संबुद्ध का प्रादुर्भाव होता है तभी इन चारों आर्यसत्यों का प्रकाशन होता है और शील, समाधि तथा प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर सफलतापूर्वक चलने की विधि प्रकाश में आती है।

कोई भी व्यक्ति सच्चाई को समझते हुए शील, समाधि तथा प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलता है, तो निश्चित रूप से निर्वाण की ओर बढ़ता चला जाता है। उसे कोई नहीं रोक पाता।

सेय्यथापि, भिक्खवे, गङ्गा नदी पाचीननिन्ना पाचीनपोणा पाचीनपब्भारा;

– जिस प्रकार, भिक्षुओ, गंगा नदी पूर्व दिशा की ओर झुकती है, पूर्व दिशा की ओर आमुख होती है, पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होती है;

एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं भावेन्तो अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति निब्बानपोणो निब्बानपब्भारो। (सं० नि० ३.५.९१, पठमपाचीननिन्नसुत्त)

– उसी प्रकार, भिक्षुओ, जो भिक्षु आर्य अष्टांगिक मार्ग को भावित करता है, बहुलीकृत करता है, वह निर्वाण की ओर झुकता है, निर्वाणाभिमुख होता है, निर्वाण की ओर बढ़ता है।

एक आर्यसत्य में चारों समाये हैं

चारों आर्यसत्यों में आर्य अष्टांगिक मार्ग प्रयोगात्मक होने के कारण प्रमुख है। चारों आर्यसत्यों के **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** का अनुभव करने के लिए अष्टांगिक आर्यमार्ग अनिवार्य है। वैसे इन चार आर्यसत्यों को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लेना एक बात है। परंतु तिहरा करके बारह प्रकार से अनुभव करना हो, तो किसी भी एक का साक्षात्कार करने पर शेष तीन का साक्षात्कार स्वतः हो जाता है।

यो, भिक्खवे, दुक्खं पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– भिक्षुओ, जो दुःख का दर्शन करता है, वह दुःख-समुदय का भी, दुःख-निरोध का भी, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का भी दर्शन करता है।

दुःख की सारी परिधि को पार कर के दुःख निरोध को देख लेना ही दुःख का परिज्ञान है। इस उपक्रम में दुःख-समुदय यानी तृष्णा (राग-द्वेष) का दर्शन स्वतः बार-बार होते रहता है और दुःख के क्षेत्र को पार करने के लिए शील, समाधि, प्रज्ञारूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग के एक-एक अंग का दर्शन अनुभूति पर उतरता है। यों पहले आर्यसत्य के दर्शन से दूसरे, तीसरे और चौथे का दर्शन अनायास हो जाता है। इसी प्रकार –

यो दुक्खसमुदयं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– जो दुःख-समुदय रूपी तृष्णा का दर्शन करता है, वह दुःख का, दुःख-निरोध का, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का स्वतः दर्शन कर लेता है।

इसी प्रकार –

यो दुक्खनिरोधं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– जो दुःख-निरोध का दर्शन करता है, वह दुःख का भी, दुःख-समुदय का भी और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का भी दर्शन कर लेता है।

इसी प्रकार –

यो दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति। (सं० नि० ३.५.११००, गवम्पतिसुत्त)

– जो दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का दर्शन करता है, वह दुःख का, दुःख-समुदय का और दुःख-निरोध का भी दर्शन कर लेता है।

साधक जब दर्शन यानी अनुभूति के क्षेत्र में उतरता है तो देखता है कि एक आर्यसत्य में चारों समाये हुए हैं। एक का दर्शन पूरा करते हुए बाकी तीनों का दर्शन स्वतः हो जाता है।

चारों आर्यसत्यों के दर्शन में महामंगल समाया हुआ है –

अरियसच्चान दस्सनं... एतं मङ्गलमुत्तमं। (सु० नि० २७०, मङ्गलसुत्त)

यो अरियसच्चानि अवेच्च पस्सति। (सु० नि० २३१, रतनसुत्त)

– जो आर्यसत्यों को गहराई से देखता है।

वह उन्हें भावित कर लेता है और –

ये अरियसच्चानि विभावयन्ति। (सु० नि० २३२, रतनसुत्त)

– जो आर्यसत्यों को विशेष रूप से भावित कर लेते हैं,

वे अनार्य आर्य बन जाते हैं। इसीलिए इन आर्यसत्यों के दर्शन में उत्तम मंगल समाया हुआ है।

आर्यसत्य सत्य हैं

इमानि खो, भिक्खवे, चत्तारि अरियसच्चानि, तथानि, अवितथानि, अनञ्ञथानि, तस्मा 'अरियसच्चानी'ति वुच्चन्ति। (सं० नि० ३.५.१०९७, तथसुत्त)

– भिक्षुओ, ये चारों आर्यसत्य तथ्य हैं, वितथ नहीं हैं, अन्यथा नहीं हैं; तभी आर्यसत्य कहलाते हैं।

ये सत्य से परे नहीं हैं। कोरी कल्पनाएं नहीं हैं। किसी संप्रदाय-विशेष की अंधविश्वास-भरी दार्शनिक मान्यताएं नहीं हैं। जीवन-जगत की ऐसी सच्चाइयां हैं, जिनका साक्षात्कार किसी भी संप्रदाय का कोई भी व्यक्ति कर सकता है और परिणामतः भवविमुक्त हो सकता है। इन चारों आर्यसत्यों के साक्षात्कार की अंतिम उपलब्धि दुःखनिरोध आर्यसत्य है। यही इंद्रियातीत निर्वाण है जिसका प्रथम साक्षात्कार होते ही स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है और साधक अनार्य से आर्य बन जाता है; भले वह किसी भी जाति, वर्ण, गोत्र और संप्रदाय का क्यों न हो। जिनके साक्षात्कार से कोई भी व्यक्ति आर्य बन जाय, उनका आर्यसत्य कहलाना उचित ही है।

लोके ... तथागतो अरियो, तस्मा 'अरियसच्चानी'ति वुच्चन्ति। (सं० नि० ३.५.१०९८, लोकसुत्त)

– लोक में तथागत आर्य हैं। इसलिए भी इन्हें 'आर्यसत्य' कहते हैं।

जो स्वयं आर्य होगा वह जिन अनुभूतिजन्य सत्यों का प्रकाशन करेगा, वे आर्यसत्य ही कहलायेंगे।

इस युग में, मिथ्या मान्यताजन्य कल्पनाओं को छोड़ कर तथता के मार्ग पर चलते हुए तथागत ही पहले व्यक्ति थे जो आर्य बने। औरों ने इसी तथता का दर्शन करते हुए उनका अनुगमन किया, तो ही वे भी आर्य बने।

इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो 'अरहं सम्मासम्बुद्धो'ति वुच्चति।
(सं० नि० ३.५.१०९३, सम्मासम्बुद्धसुत्त)

इन चार आर्यसत्यों का यथाभूत दर्शन करके ही तथागत सम्यक संबुद्ध कहलाते हैं। उन्हीं का अनुकरण कर अन्य अनेक भी आर्य बने।

चार आर्यसत्य वास्तविक दर्शन है – दार्शनिक मान्यता नहीं

जीवन जगत की ये चारों महत्त्वपूर्ण सच्चाइयां जब केवल दार्शनिक मान्यता बन कर रह जाती हैं, तब अन्य सभी दार्शनिक मान्यताओं की भांति निष्फल होती हैं; निरर्थक होती हैं और केवल सांप्रदायिक वाद-विवाद का कारण बनती हैं। परंतु इन्हीं का जब यथार्थ दर्शन होता है, तब ये मुक्तिदायिनी हो जाती हैं; सफल, सार्थक हो जाती हैं।

चार आर्यसत्य ही नहीं, उनका **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** यानी तिहरा और बारह प्रकार का स्वरूप भी केवल पाठ बन कर रह जाय, अथवा किसी संप्रदाय की मात्र मान्यता बन कर रह जाय, तो सचमुच बड़ा दुर्भाग्य होता है। किसी भी सांप्रदायिक दृष्टि का बंधन बड़ा दृढ़ होता है। उससे छूट पाना कठिन होता है। जब इन चारों आर्यसत्यों का वास्तविक दर्शन होता है यानी जब वे अनुभूति पर उतर जाते हैं, तब सभी

थोथी मान्यताएं स्वतः छूट जाती हैं। जब यथाभूत दर्शन हो जाता है; सत्य का अभिसंबोध हो जाता है; तब वह महज चिंतन का विषय नहीं रहता; विवाद का विषय नहीं रहता।

चारों आर्यसत्यों का यथाभूत दर्शन होने का अर्थ हुआ – इंद्रियातीत निर्वाण का यथाभूत दर्शन होना। सारी दार्शनिक मान्यताएं ऐंद्रिय क्षेत्र तक ही सीमित रहती हैं। इंद्रियातीत बोध होने पर ऐसी कोई मान्यता टिक नहीं सकती।

यं, भिक्खवे, सदेवकस्स लोकस्स समारकस्स सब्रह्मकस्स सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय दिट्ठं सुतं मुतं विञ्ञातं पत्तं परियेसितं अनुविचरितं मनसा।

– भिक्षुओ, संसार में देवताओं सहित मार, ब्रह्मा, श्रमण, ब्राह्मण तथा अन्य देव मनुष्यों द्वारा इंद्रियों के क्षेत्र में जो कुछ आंखों से देखा गया, कानों से सुना गया; नाक, जीभ, त्वचा से सूंघा, चखा और छूआ गया; मानस द्वारा मनन किया गया; उनके द्वारा इसी ऐंद्रिय क्षेत्र में अंतिम अवस्था की प्राप्ति मान ली गयी, क्योंकि (अंतिम सत्य) इसी क्षेत्र में खोजा गया; इसी का चिंतन मनन किया गया; इसी ऐंद्रिय क्षेत्र में उनका मानसिक विचरण होता रहा, जबकि तथागत ने इस ऐंद्रिय जगत की अनित्यधर्मा तथता यानी सच्चाई का साक्षात्कार करके इसके परे नित्यधर्मा इंद्रियातीत निर्वाणिक तथता का भी साक्षात्कार कर लिया।

यस्मा तं तथागतेन अभिसम्बुद्धं, तस्मा 'तथागतो'ति वुच्चति। (इतिवु० ११२, लोकसुत्त)

– वह (परम सत्य) तथागत द्वारा अभिसंबोध कर लिया गया, इसीलिए तथागत को 'तथागत' कहते हैं।

जब ऐंद्रिय जगत में ही **परियेसितं** यानी खोज होती है और इसी क्षेत्र की किसी अवस्था को **पत्तं** यानी प्राप्त हुआ मान लिया जाता है, तब भिन्न-भिन्न मील के पत्थरों की उपलब्धियां भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं बन जाती हैं। तथागत ऐंद्रिय क्षेत्र के इन सारे मील के पत्थरों को पार कर इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेते हैं। अतः सभी दार्शनिक मान्यताओं से उपर उठ जाते है, उनसे मुक्त हो जाते हैं। उनकी अपनी भी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं होती, क्योंकि तथागत द्वारा दार्शनिक मान्यताओं का क्षेत्र ही छोड़ दिया जाता है। नाम और रूप का ऐंद्रिय क्षेत्र ही दार्शनिक मान्यताओं का क्षेत्र है।

जब कोई व्यक्ति नाम और रूप के अथवा यों कहें, छः इंद्रियों और उनके विषयों के संपूर्ण क्षेत्र को अनुभूति से जान लेता है, तब खूब समझ लेता है कि यह समुदयधर्मा है, व्ययधर्मा है, यानी अनित्य है, नश्वर है, भंगुर है। चाहे नीचे अधोलोक का कोई क्षेत्र हो अथवा ऊपर भवाग्र अरूप ब्रह्मलोक तक का कोई क्षेत्र हो, सभी लौकिक क्षेत्र अनित्य हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, विपरिणामधर्मा हैं, परिवर्तनशील हैं। यह अनित्यबोध अंधश्रद्धा द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता, न ही बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा, न ऊहापोह द्वारा, बल्कि प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अनुभव किया जाता है।–

सब्बे सङ्खारा अनिच्चाति, यदा पञ्ञाय पस्सति। (ध० प० २७७, मग्गवग्ग)

– सारे संस्कृत पदार्थ व अवस्थाएं अनित्य हैं, जब यह प्रज्ञा के चक्षु से देख लेता है,

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे मानवलोक की सुख सुविधाएं हों, अथवा देवलोक के दिव्य सुखभोग हों, अथवा रूप और अरूप ब्रह्मलोक के दीर्घजीवी ब्राह्मी सुख हों, सारे सुख देरसवेर नष्ट हो जाने वाले हैं क्योंकि अनित्यधर्मा हैं और प्रत्येक सुख नष्ट होकर दुःख में ही बदलता है। अतः सभी लौकिक सुख अंततः दुःखदायी हैं। सारे लौकिक सुखों के भीतर बीज रूप में दुःख समाया हुआ है, सभी सुख दुक्खगर्भा है।

निर्वाण का साक्षात्कार हो जाने पर ही साधक यह जान पाता है कि नित्य, शाश्वत, ध्रुव होने के कारण वस्तुतः निर्वाण ही परम सुख है।

निब्बानं परमं सुखं। (ध० प० २०४, सुखवग्ग)

निर्वाण का परम सुख अनुभूत हो जाने पर इसकी तुलना में सारे लौकिक सुख, दुःख सदृश ही लगने लगते हैं। तब यह स्पष्ट होता है–

यं परे सुखतो आहु, तदरिया आहु दुक्खतो।
यं परे दुक्खतो आहु, तदरिया सुखतो विदू॥ (सं० नि० २.४.१३६, पठमरूपारामसुत्त)

– जिसे अन्य लोग सुख कहते हैं, उसे आर्य दुःख कहते हैं। जिसे अन्य दुःख कहते हैं, उसे आर्य सुख के रूप में जान लेते हैं।

आर्य है इसलिए इस सच्चाई को प्रज्ञाचक्षु द्वारा जान लेता है।

सब्बे सङ्खारा दुक्खाति, यदा पञ्ञाय पस्सति। (ध० प० २७८, मग्गवग्ग)

– सारे संस्कृत पदार्थ व अवस्थाएं दुःख ही हैं जब इसे प्रज्ञा के चक्षु से देख लेता है,

तब इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते स्पष्ट हो जाता है कि जो अनित्य है, विपरिणामधर्मा है, वह इस कारण दुःख ही है–

यदनिच्चं तं दुक्खं।

– जो अनित्य है सो दुःख है।

और तब यह भी जानना आसान हो जाता है कि–

यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता तं 'नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता'ति।(सं० नि० २.३.१५, यदनिच्चसुत्त)

– जो दुःख है, वह अनात्म है। जो अनात्म है, 'वह न मेरा है, न मैं हूं, न मेरी आत्मा' है।

और इसे प्रज्ञा से देख भी लेता है।

सब्बे धम्मा अनत्ताति, यदा पञ्ञाय पस्सति।

– सारे धर्म अनात्म हैं, जब यह प्रज्ञाचक्षु से देख लेता है तो–

अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ (ध० प० २७९, मग्गवग्ग)

– वह सभी दुःखों में निर्वेद प्राप्त कर लेता है। यह है विशुद्धि का मार्ग, विमुक्ति का मार्ग।

जैसे सारी अनित्य लौकिक अवस्थाएं, वैसे ही लोकोत्तर निर्वाण की नित्य अवस्था भी **मैं, मेरी,** अथवा **मेरी आत्मा** नहीं हैं। उस अनंत असीम अवस्था में किसी ससीम व्यक्ति का व्यक्तित्व टिक नहीं पाता। इस इंद्रियातीत अनिर्वचनीय अवस्था को 'मैं', 'मेरी' और 'मेरी आत्मा' किस बलबूते पर कहें? अनिर्वचनीय को किन शब्दों में वचनीय करें? यह सत्य निर्वाण के साक्षात्कार से स्पष्ट हो जाता है।

इस अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति अहंकार, ममंकार से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। भले व्यवहार के लिए अनासक्त भाव से **मैं-मेरे** जैसे शब्दों का प्रयोग करता रहे, परंतु उसका अभिमानरूपी अंतःशायी क्लेश पूर्णतया समाप्त हो गया होता है। इसलिए उसकी सारी दार्शनिक मान्यताएं अपने आप समाप्त हो जाती हैं।

सारे चित्त-मंथन और निरर्थक थूक-बिलोवन स्वतः दूर हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति सहज ही समझ जाता है कि यह जो भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं, उनमें से प्रत्येक –

सदुक्खं सविघातं सउपायासं सपरिळाहं;

– दुःखमय है, आघातमय है, क्लेशमय है, प्रज्वलनमय है;

न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति।

– न निर्वेद, न वीतरागता, न निरोध, न उपशमन, न अभिज्ञान, न संबोधि और न ही निर्वाण की ओर ले जाती है।

विभिन्न मत-मतांतरों की ऐसी निरर्थक दार्शनिक मान्यताएं उसके लिए सर्वथा त्याज्य होती हैं।

इमं खो अहं, वच्छ, आदीनवं सम्पस्समानो एवं इमानि सब्बसो दिट्ठिगतानि अनुपगतो।

(म० नि० २.१८९, अग्गिवच्छसुत्त)

– हे वत्स, मैं इन सभी मत-मतांतरों की दार्शनिक मान्यताओं में खतरे और दुष्परिणाम को भली प्रकार देखकर इनमें नहीं पड़ता।

सारी सच्चाइयों को जाने-समझे हुए सम्यक संबुद्ध की अपनी अलग दार्शनिक मान्यता क्या होगी भला? उनका तो अनुभूतिपरक दर्शन ही होगा, यथाभूत प्रत्यक्ष दर्शन, अपरोक्ष दर्शन, सम्यक दर्शन; कल्पनाओं और कोरी मान्यताओं से सर्वथा दूर, सर्वथा अनावृत।

इसी कारण उनके लिए सारी दार्शनिक मान्यताएं त्याज्य हैं। उन्हें त्याग कर वे परम शांत अवस्था का जीवन जीते हैं। तभी उन्होंने कहा –

सब्बमञ्ञितानंत्वेव, भिक्खु, समतिक्कमा मुनि, 'सन्तो'ति वुच्चति। (म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

– हे भिक्षु, सभी दार्शनिक मान्यताओं के क्षेत्र का भली प्रकार अतिक्रमण कर देने वाला मुनि ही 'संत' कहा जाता है, शांत कहा जाता है।

ऐसे ही शांत मुनि विशुद्धि के मार्ग पर चल कर विशुद्ध, विमुक्त हो बुद्ध कहे जाते हैं।

कप्पानि विचेय्य केवलानि, संसारं दुभयं चुतूपपातं।
विगतरजमनङ्गणं विसुद्धं, पत्तं जातिखयं तमाहु बुद्धन्ति॥

(सु० नि० ५२२, सभियसुत्त)

– जो समस्त कल्पों के जानकार हैं, जो जन्म-मृत्यु रूपी संसार के जानकार हैं, जो मन के मैल और रज से विमुक्त, विशुद्ध, जन्म-क्षय की अवस्था को प्राप्त हैं, वे बुद्ध कहलाते हैं।

तभी तथागत सिंह-गर्जना जैसी यह धर्म-घोषणा करते हैं –

मुत्ताहं सब्बपासेहि, ये दिब्बा ये च मानुसा। (महाव० ३३, मारकथा)

– मैं देव और मनुष्यों के सभी बंधनों से मुक्त हूं।

इस मुक्त अवस्था पर किसी एक सिद्धार्थ गोतम का एकाधिकार नहीं है। सिद्धार्थ गोतम जैसे पूर्व काल में अनेक सम्यक संबुद्ध हुए और भविष्य में भी अनेक होते रहेंगे। जिस राह पर चल कर पूर्व काल के ऋषि सम्यक संबुद्ध बने, उसी पर चल कर सिद्धार्थ गोतम भी बने।

येनेव मग्गेन गतो विपस्सी, येनेव मग्गेन सिखी च वेस्सभू।
ककुसन्धकोणागमनो च कस्सपो, तेनञ्जसेन अगमासि गोतमो॥

(थेरगा० ४९०, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– जिस मार्ग पर (पूर्व काल के) सम्यक संबुद्ध भगवान विपस्सी चले, जिस पर सिखी और वेस्सभू चले और जिस पर ककुसंध, कोणागमन और कश्यप चले, उसी पर अब गोतम चले।

शील, समाधि और प्रज्ञा के इस एक ही आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चल कर ये सप्त ऋषि सम्यक संबुद्ध बने।

सीलं समाधि पञ्ञा च, विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा, गोतमेन यसस्सिना॥ (दी० नि० २.१८६, महापरिनिब्बानसुत्त)

– यशस्वी गोतम ने शील, समाधि, प्रज्ञा और श्रेष्ठतम विमुक्ति का बोध प्राप्त किया, ठीक वैसे ही किया जैसे कि पूर्व काल के बुद्धों ने किया और भविष्य के बुद्ध करेंगे। अन्य बुद्धों की भांति गोतम बुद्ध ने भी –

सीलं समाधि पञ्ञा च, यस्स एते सुभाविता।
अतिक्कम्म मारधेय्यं, आदिच्चोव विरोचति॥ (इतिवु० ५९, मारधेय्यसुत्त)

– शील, समाधि और प्रज्ञा को भली प्रकार भावित कर मृत्युराज के क्षेत्र का अतिक्रमण कर दिया यानी उसके परे चले गये और इस कारण वे सूर्य की भांति प्रकाशमान हैं।

सम्यक संबोधि प्राप्त कर बुद्ध ब्राह्मण हो गये।

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा, यतो खयं पच्चयानं अवेदीति॥ (उदा० २, दुतियबोधिसुत्त)

– तपस्वी, ध्यानी ब्राह्मण (अरहंत) को जब धर्म प्रादुर्भूत हुआ, तब उनकी सारी शंकाएं दूर हो गयीं, (क्योंकि उन्होंने धर्म के हेतुओं को जाना) उन्होंने उनके क्षय हो जाने को जाना और परिणामतः –

विधूपयं तिट्ठति मारसेनं, सुरियोव ओभासयमन्तलिक्खं। (उदा० ३, ततियबोधिसुत्त)

– मारसेना को पराजित कर वे उसी प्रकार प्रकाशमान हो स्थित हुए जैसे कि सूर्य अंतरिक्ष में प्रकाशमान होता है।

लेकिन जब यह उपमा पूरी तरह संगत नहीं लगी, तो कहा गया –

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सम्बुद्धो तपतं सेट्ठो, एसा आभा अनुत्तरा॥ (सं० नि० १.१.२६, पज्जोतसुत्त)

– सूर्य दिन में तपता है, चंद्रमा रात में आभास्वर होता है, परंतु तपने वालों में संबुद्ध श्रेष्ठ हैं, उनकी आभा अनुत्तर है, अप्रतिम (अतुलनीय) है।

और कहा –

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा॥ (सं० नि० १.२.२४५, महाकप्पिनसुत्त)

– सूर्य केवल दिन में तपता है, चंद्रमा रात में आभासित होता है। क्षत्रिय जब शस्त्र सन्नद्ध हो, तब तपता है, ब्राह्मण जब ध्यानी हो, तब तपता है। परंतु बुद्ध अपने तेज से रात-दिन सभी समय तपते हैं।

यह बुद्धत्व का तेज केवल सिद्धार्थ गोतम का ही नहीं, सभी संबुद्धों का है।

जो सद्गुण भगवान गोतम बुद्ध में थे वे सभी बुद्धों में थे। भगवान कश्यप बुद्ध के लिए भी यही कहा गया–

समचित्तो समसमो, असहायो दयालयो। (अप० थेर २.५३.१०२, सुगन्धत्थेर अपदान)

वे समताभरे चित्त के धनी हैं, वे सम असम हैं यानी अन्य प्राणियों की तुलना में असम हैं परंतु सभी बुद्धों की तुलना में सम हैं, यानी सभी बुद्ध परस्पर सम हैं। वे किसी पर आश्रित नहीं हैं, दयालय हैं। सभी बुद्ध **धम्मभूत** हैं।

वीततण्हा अनादाना, सत्त बुद्धा खयोगधा।
येहायं देसितो धम्मो, धम्मभूतेहि तादिहि॥ (थेरगा० ४९१, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– तृष्णारहित, आसक्तिरहित सातों बुद्ध आस्रवक्षय की निर्वाणिक अवस्था को प्राप्त हुए। उन धर्मभूत बुद्धों ने इसी धर्म का उपदेश दिया।

चत्तारि अरियसच्चानि, अनुकम्पाय पाणिनं।
दुक्खं समुदयो मग्गो, निरोधो दुक्खसङ्खयो॥ (थेरगा० ४९२, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– दुःख, दुःख का समुदय, दुःख का निरोध, दुःख-निरोध का मार्ग– इन चार आर्यसत्यों का ही प्राणियों पर अनुकंपा करते हुए उन्होंने उपदेश दिया।

आरंभ में यह शिक्षा लोगों को बांटने में भगवान गौतम बुद्ध को जरा हिचक हुई, क्योंकि उन्होंने सोचा कि–

अधिगतो खो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो, दुरनुबोधो, सन्तो, पागीतो, अतक्का, वचरो, निपुणो पण्डितवेदनीयो।

(महाव० ७, ब्रह्मयाचनकथा)

– सचमुच यह धर्म जो मैंने अधिगत किया है, वह गंभीर है... दुर्दर्शनीय है, दुर्ज्ञेय हैं, शांत है, प्रणीत है, तर्कों द्वारा अगम्य है लोगों द्वारा ही अनुभव से जान सकने योग्य है।

दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयतापटिच्चसमुप्पादो।

– यह जो कारणों पर आधारित प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम हैं, ये दुर्दर्शनीय हैं।

अर्थात इन्हें अनुभूती कर उतारना दुष्कर है। जो लौकिक आलंबनों में उलझी हुई है, उनमें निमग्न है, उनसे आनंदित है इस जनता के लिए यह गंभीर सूक्ष्म धर्म दुर्दर्शनीय है अनुभव योग्य नहीं है। यह जो उन्होंने चिंतन किया–

सब्बसङ्खारसमथो – सभी संस्कारों का उपशमन है,

सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो – सभी उपधियों से निकल जाना है,

तण्हाक्खयो, विरागो, निरोधो, निब्बानं,

– तृष्णा का क्षय है, वीतरागता है, निरोध है, निर्वाण है,

रागदोसपरेतेहि, नायं धम्मो सुसम्बुधो।

– इस धर्म का संबोध राग-द्वेषलिप्त इस जनता के लिए सुकर नहीं है।

भव-स्रोत के प्रतिकूल इस सूक्ष्म, गंभीर धर्म को –

रागरत्ता न दक्खन्ति, तमोखन्धेन आवुटा।

– घने अंधकार से आच्छादित, राग-रंजित लोग देख नहीं पायेंगे।

परंतु फिर समंतचक्षु बुद्ध ने देखा कि –

सन्ति सत्ता अप्परजक्खजातिका। (महाव० ८, ब्रह्मयाचनकथा)

– ऐसे लोग भी हैं, जिनकी आंखों पर मैल का बहुत झीना पर्दा पड़ा है।

वे अवश्य इसका लाभ ले सकेंगे। उनके हित, सुख, कल्याण के लिए भगवान ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और अपने प्रथम उपदेश में यही **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** चार आर्यसत्य समझाये; क्योंकि इन आर्यसत्यों का साक्षात्कार किये बिना भव-संसरण से मुक्ति नहीं होती।

चतुन्नं, भिक्खवे, अरियसच्चानं अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमिदं दीघमद्धानं सन्धावितं संसरितं ममञ्चेव तुम्हाकञ्च। (महाव० २८७, कोटिगामेसच्चकथा)

– भिक्षुओ, इन चारों आर्यसत्यों का इस प्रकार अनुबोध किये बिना, प्रतिवेधन किये बिना मैं लंबे समय तक इस संसार में दौड़ लगाता रहा हूं, संसरण करता रहा हूं, और तुम भी।

भगवान स्वयं इन चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार करके ही भव-विमुक्त हुए, सम्यक सम्बुद्ध हुए।

अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं, भावेतब्बञ्च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण॥ (सु० नि० ५६३, सेलसुत्त)

– जो दुःख-सत्य और निरोध-सत्य अभिज्ञात करने योग्य थे, उनको मैंने अभिज्ञात कर लिया। जो मार्ग-सत्य भावित करने योग्य था, उसको मैंने भावित कर लिया। जो समुदय-सत्य प्रहाण करने योग्य था, उसका मैंने प्रहाण कर लिया। हे ब्राह्मण, मैं इसीलिए बुद्ध हूं।

उनकी इसी शिक्षा का अनुगमन कर उनके अनेकानेक शिष्य विमुक्त हुए, शिष्याएं विमुक्त हुयीं। एक उदाहरण –

माता महाप्रजापती गोतमी अपने धर्म-पिता तथागत की वंदना करती हुई कहती है –

सब्बदुक्खं परिञ्ञातं, हेतुतण्हा विसोसिता।
भावितो अट्ठङ्गिको मग्गो, निरोधो फुसितो मया॥ (थेरीगा० १५८, महापजापतिगोतमीथेरीगाथा)

– मैंने सारे दुःखों का परिज्ञान कर लिया है। दुःख की हेतु तृष्णा की सुखा दिया है। दुःख-निरोधगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को भावित कर लिया है और दुःख-निरोध की अवस्था का स्पर्श कर लिया है यानी उसका साक्षात्कार कर लिया है, अनुभव कर लिया है।

भगवान के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त को अरहंत अश्वजित से और मोग्गल्लान को सारिपुत्त से कारण और निवारण की इन सच्चाइयों की ही प्रथम झलक मिली, जिसने उन्हें निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार कराया।

अश्वजित ने भगवान की शिक्षा को संक्षेप में समझाते हुए कहा –

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो, एवंवादी महासमणो॥ (महाव० ६०, सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)

– जिन धर्मों (अवस्थाओं) का उद्भव कारणों से होता है, उन कारणों को तथागत ने बताया है और उनके निरोध को भी। ऐसी शिक्षा देने वाले हैं महाश्रमण।

कार्य-कारण, कारण-कार्य की प्रतीत्य-समुत्पादीय शिक्षा को अनुभव पर उतारते-उतारते चार आर्यसत्यों का प्रकाशन स्वतः होने लगता है। दुःख और समुदय का प्रकाशन अनुलोम की अनुभूति से और निरोध और मार्ग का प्रकाशन प्रतिलोम की अनुभूति से। जब आठ अंग वाला आर्यमार्ग भावित होता है, तो **सति, धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि** और **उपेक्खा** – ये सातों **बोज्झङ्ग** भावित हो जाते हैं; **सद्धा, वीरिय, सति, समाधि** तथा **पञ्ञा** ये पांच बल और पांच इंद्रियां भावित हो जाती हैं; **कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना** और **धम्मानुपस्सना** – ये चार **सतिपट्ठान** भावित हो जाते हैं; **संवर, पहान, भावना** और **अनुरक्खण** – ये चार **सम्माप्पधान** भावित हो जाते हैं; और तभी **छन्द, वीरिय, चित्त** और **वीमंसा** – ये चार **इद्धिपाद** भावित हो जाते हैं।

इन्हें ही भावित करके कोई बोधिसत्त्व बुद्ध बनता है। इन्हें ही भावित करके कोई बुद्ध-श्रावक अरहंत बनता है।

इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं इद्धिपादानं भावितत्ता बहुलीकतत्ता तथागतो 'अरहं सम्मासम्बुद्धो'ति वुच्चति।
(सं० नि० ३.५.८२०, बुद्धसुत्त)

इन चार इद्धिपादों को भावित करके, बहुलीकृत करके तथागत 'अरहंत सम्यक संबुद्ध' कहलाते हैं।

यह सम्यक संबुद्ध की महान ऋद्धि है, सिद्धि है।

एवं महिद्धिको खो, भिक्खवे, तथागतो सदेवकस्स लोकस्स, एवं महेसक्खो, एवं महानुभावो।
(सं० नि० २.३.७८, सीहसुत्त)

भिक्षुओ, देवताओं सहित सारे संसार में, तथागत इस प्रकार महाऋद्धिवान, महाप्रतापवान और महानुभाव हैं।

यही उनकी सम्यक संबोधि है।

इसी कारण भगवान सम्यक संबुद्ध हैं।

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो।

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो

वह भगवान विद्याचरण संपन्न भी हैं।

जब कोई बोधिसत्त्व अनेक जन्मों में संचय-संग्रह करते-करते अपनी तीस पारमिताओं को आवश्यक मात्रा में पूरी कर लेता है, तब अपने अंतिम जीवन में सम्यक संबुद्ध बनता है। इसके पूर्व वह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों को परिपुष्ट करता है। इन सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का सार चार आर्य-सत्य है। इन चार आर्य-सत्यों का सार आठ अंग वाला आर्य-मार्ग है। इस आठ अंगवाले आर्य-मार्ग का संक्षेप शील, समाधि और प्रज्ञा के तीन महत्वपूर्ण शिक्षापदों में निहित है। शील और समाधि आचरण से संबंधित हैं तथा प्रज्ञाजन्य 'विपश्यना' विद्या से।

कोई व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, विपश्यना में पारंगत हो जाता है, तो ही विद्याचरणसंपन्न कहलाता है। विद्याचरण में भी विद्या यानी प्रज्ञामयी विपश्यना प्रमुख प्रधान है क्योंकि कोई व्यक्ति शील और समाधि संपन्न हो जाय परन्तु प्रज्ञा-विपश्यना संपन्न न हो, तो भवमुक्त अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। वैसे तीनों का अपना अपना महत्व है। ये तीनों शुद्धधर्मरूपी तिपाई के तीन पाये हैं। तीनों एक दूसरे को सहारा देते हैं। एक दूसरे के उपकारक हैं, पूरक हैं।

शील पालन किए बिना सम्यक समाधि का अभ्यास नहीं हो सकता। सम्यक समाधि सदा स्वानुभूतिजन्य सत्य पर आधारित होती है, समता पर अवलंबित होती है। जिसे किसी प्रकार की मिथ्या समाधि का अभ्यास करना हो यानी रागजन्य, द्वेषजन्य अथवा मोहजन्य काल्पनिक मान्यताओं के किसी आलंबन पर चित्त एकाग्र करना हो, उसके लिए शील की भूमिका अनिवार्य नहीं होती। सम्यक समाधि महज चित्त की एकाग्रता नहीं है, अपितु **कुसलचित्तस्स एकग्गता** है। शील, सदाचार का आधार होगा, तो ही चित्त कुशल होगा और ऐसे कुशल चित्त की एकाग्रता ही सम्यक समाधि होगी। समाधि सम्यक न हो, बल्कि अविद्या के घने अंधकार से आच्छादित हो, तो प्रज्ञा जगाने का काम आरंभ ही नहीं किया जा सकता, उसे परिपुष्ट करना तो बहुत दूर की बात है। जब शील शुद्ध हो, समाधि सम्यक हो, तब प्रज्ञा सरलता से जाग उठती है और निरंतर अभ्यास द्वारा परिपुष्ट हो जाती है। प्रज्ञा जैसे जैसे पुष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे शील का पालन सरल होता जाता है, वैसे-वैसे समाधि गहन होती जाती है। जैसे-जैसे शील और समाधि पुष्ट होते हैं, वैसे-वैसे प्रज्ञा अधिक बलवती होती जाती है। इस तरह तीनों एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। प्रज्ञा में अचल हुआ स्थितप्रज्ञ शील और समाधि में भी अनायास ही अचल हो जाता है।

विपश्यना-प्रज्ञा जगने पर अपने भीतर उत्पन्न होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाओं का यथाभूत निरीक्षण करता हुआ साधक यह खूब जान लेता है कि–

पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे। (थेरगा० १३९, वसभत्थेरगाथा)

– हत्यारा पहले अपना हनन करता है, तत्पश्चात किसी अन्य का हनन करता है।

विपश्यना के अभ्यास से जब प्रज्ञा जग जाती है तब अपने भीतर संवेदनाओं को देखते-देखते साधक यह भली भांती समझ जाता है कि हत्या करने के पहले मन में क्रोध उत्पन्न करना होता है। क्रोध के उत्पन्न होते ही प्रकृति दंड देने लगती है और बेचैनी बढ़ती है। इस बेचैनी के कारण अविद्या के अंधकार में क्रोध और बढ़ता है, तो बेचैनी और भी बढ़ती है। इस प्रकार वह अपनी सुख-शांति का हनन करना शुरू कर देता है। किसी की हत्या तो पीछे करता है, पहले अपनी सुख-शांति की हत्या कर लेता है।

किसी भी शील को भंग करने के पहले यही क्रम आरंभ हो जाता है; मन में लोभ, वासना, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार अथवा अन्य कोई न कोई विकार उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न होते ही पहले अपनी सुख-शांति भंग होने लगती है। किसी अन्य की सुख-शांति तो इसके पश्चात ही भंग होती है। विपश्यना द्वारा इस सच्चाई को अनुभव के स्तर पर बार बार देखते-देखते ऐसी अवस्था पर पहुँच जाता है, जहां पहुँच कर कोई शील भंग कर ही नहीं पाता। शील तोड़ने के पूर्व भीतर कोई न कोई विकारजन्य संवेदना उत्पन्न होती है। उत्पन्न होते ही तत्काल होश जागता है कि कहीं मेरा शील खंडित न हो जाय। यों अपने शील की शुद्धि को देखते-देखते और अपने भीतर उठी हुई संवेदना को देखते-देखते उस संवेदना को शांत कर लेता है। शील भंग नहीं हो पाता। एक उदाहरण से समझें। जैसे ही मन में क्रोध जगता है उसके साथ-साथ शरीर में एक दुःखद संवेदना जगती है। विपश्यना द्वारा प्रज्ञा में स्थित हुआ साधक उस संवेदना को तटस्थ भाव से देखते-देखते जागे हुए क्रोध का शमन कर लेता है। इस प्रकार क्रोधजन्य वाचिक और कायिक दुष्कर्म करने से बच जाता है।

इसी सच्चाई को व्यक्त करते हुए कहा गया---

यों यह प्रज्ञाजन्य सम्यक अनुपश्यना शील को अखंडित रखने में मदद करती है।

शुद्ध धर्मपथ के पथिक को पहले सामान्य शील का ही आधार लेना होता है, क्योंकि शील धर्म की नींव है, बुनियाद है। आगे चल कर शील के बल पर समाधि और समाधि के बल पर शील पुष्ट होते हैं। शील के बल पर प्रज्ञा और प्रज्ञा के बल पर शील पुष्ट होते हैं। अपने भीतर की सच्चाई को प्रज्ञा द्वारा पुनः पुनः देखते-देखते शील स्वभावतः संपुष्ट होता जाता है।

अरियकन्तेहि सीलेहि समन्नागतो होति, अखण्डेहि अच्छिद्देहि असबलेहि अकम्मासेहि भुजिस्सेहि विञ्ञुप्पसत्थेहि अपरामट्ठेहि समाधिसंवत्तनिकेहि। (सं० नि० ३.५.९९७, चक्कवत्तिराजसुत्त)

– वह ऐसे शील-सदाचार से संपन्न हो जाता है, जो **अरियकन्त** हैं यानी आर्यों को प्रिय हैं, जो अखंड हैं, अछिद्र हैं, बेदाग हैं, निष्कलुष हैं, सेवनीय हैं, विज्ञों द्वारा प्रशंसित हैं, जिनके प्रति परामर्श याने आसक्ति नहीं होती और जो समाधि की ओर ले जाने वाले हैं।

किसी भी शील के प्रति आसक्ति जग जाय, तो साधक केवल उसे ही अतियों की ओर खैंचने में अपना श्रेय समझने लगता है। धर्म के अन्य अंगों की साधना छूट जाती है। इसी माने में शुद्ध शील को **अपरामट्ठेहि** कहा है।

अखंडित शील पालन करता है, तो चित्त की बेचैनियां दूर होती हैं। चित्त स्वभावतः प्रमुदित होता है। और –

पमुदितस्स पीति जायति – प्रमुदित होने से प्रीति यानी प्रसन्नता जागती है,

पीतिमनस्स कायो पस्सम्भति – प्रसन्नमन होने से काया प्रश्रब्ध यानी शांत-स्थिर होती है,

पस्सद्धकायो सुखं विहरति – शांत-स्थिर काया का धनी सुख से विहार करता है,

सुखिनो चित्तं समाधियति – सुखी का चित्त समाधिस्थ होता है। (सं० नि० २.४.९७, पमादविहारीसुत्त)

शील और समाधि में पुष्ट हुआ व्यक्ति बड़ा संयत जीवन जीता है। वह खूब समझ जाता है कि सारे काम सजग होकर करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कायेन कम्मं कत्तब्बं।

– देखते-समझते, देखते-समझते काया के कर्म करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कत्तब्बं।

– देखते-समझते, देखते-समझते वाणी के कर्म करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कत्तब्बं। (म० नि० २.१०९, अम्बलट्ठिकराहुलोवादसुत्त)

– देखते-समझते, देखते-समझते मन के कर्म करने चाहिए।

वह यह भी भली-भांति समझ जाता है कि –

चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।

– संयम आंख का भला है, भला है कान का संयम।

घानेन संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो॥

– संयम नाक का भला है, भला है जीभ का संयम।

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।

– संयम काया का भला है, भला है वाणी का संयम।

मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो। (ध० प० ३६०-३६१, भिक्खुवग्ग)

– संयम मन का भला है, भला है सर्वत्र संयम।

उसके लिये यह भी स्पष्ट हो जाता है –

यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये,

– संयत होकर चले, संयत खड़ा हो, संयत बैठे और संयत लेटे,

यतं समिञ्जये भिक्खु, यतमेनं पसारये। (इतिवु० १११, सम्पन्नसीलसुत्त)

– भिक्षु (अपने अंगों को) संयत हो कर सिकोड़े और संयत हो कर पसारे।

इस प्रकार अपने कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के प्रति सजग रहने वाला संयत व्यक्ति संयत चित्त प्रज्ञा के क्षेत्र में कदम रखने लगता है। जब चित्त समाहित होता है, तब –

समाहिते चित्ते धम्मा पातुभवन्ति। (सं० नि० २.४.९७, पमादविहारीसुत्त)

– समाहित चित्त में धर्मों का प्रादुर्भाव होता है यानी धर्म संबंधी सारी बातें स्पष्टतया प्रकट होती हैं।

आंख, कान, नाक, जीभ, काया, वाणी और मन पर –

सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति, (ध० प० ३६१, भिक्खुवग्ग)

– सर्वत्र संयम रखने वाला भिक्षु सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है,

क्योंकि उसके लिए शील और समाधि के संपुष्ट आधार पर प्रज्ञाजन्य विपश्यना का अभ्यास आरंभ कर देने का ही शुभ आदेश है।

उद्धं तिरियं अपाचीनं, यावता जगतो गति।

– ऊपर, (नीचे), आड़े (तिरछे), (सामने), पीछे जहां तक संसार की गति है, (वहां तक) –

समवेक्खिता च धम्मानं, खन्धानं उदयब्बयं॥ (इतिवु० १११, सम्पन्नसीलसुत्त)

– वह (पंच) स्कंधों और उनके उदय-व्यय (धर्म) की संपश्यना करता है यानी पांचों स्कंधों के उदय-व्यय स्वभाव को यथाभूत जानने लगता है।

यह तभी होता है जबकि साधक शील के आधार पर ध्यानस्थ होता है, समाधिस्थ होता है।

पटिसल्लीनो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति। (सं० नि० ३.५.१०७२, पटिसल्लानसुत्त)

– भिक्षुओ, भिक्षु ध्यानस्थ होकर जो जैसा है, उसे ठीक वैसे ही यथाभूत जान लेता है।

इसीलिए कहा गया है –

पटिसल्लानारामा, भिक्खवे, विहरथ पटिसल्लानरता, अज्झत्तं चेतोसमथमनुयुत्ता, अनिराकतज्झाना, विपस्सनाय समन्नागता, ब्रूहेता सुञ्ञागारानं। (इतिवु० ४५, पटिसल्लानसुत्त)

– भिक्षुओ, एकांत ध्यान में प्रीति उत्पन्न करते हुए, एकांत ध्यान में रत रहते हुए विहार करो। अपने भीतर चित्त को शमन करने में लगे रहो। निरंतर ध्यानयुक्त रहो, विपश्यनायुक्त रहो, एकांत शून्यागार के निवासों को बढ़ाओ।

एकांत ध्यान की निरंतरता जितनी बढ़ती है, विपश्यना उतनी ही पुष्ट होती है। यथाभूत ज्ञान वाली प्रज्ञा की निरंतरता जितनी पुष्ट होती है, साधक उतना ही स्थितप्रज्ञ होता है।

समाधिं, भिक्खवे, भावेथ। समाहितो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

– भिक्षुओ, समाधि का अभ्यास करो। समाधिस्थ भिक्षु (प्रज्ञापूर्वक) यथाभूत जानने लगता है।

किञ्च यथाभूतं पजानाति – (प्रज्ञापूर्वक) यथाभूत क्या जानने लगता है?

रूपस्स समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, वेदनाय समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, सञ्ञाय समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, सङ्खारानं समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, विञ्ञाणस्स समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च। (सं० नि० २.३.५, समाधिसुत्त)

– रूप के उदय और अस्त होने को, वेदना के उदय और अस्त होने को, संज्ञा के उदय और अस्त होने को, संस्कारों के उदय और अस्त होने को तथा विज्ञान के उदय और अस्त होने को।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शील और समाधि का, समाधि और प्रज्ञा का परस्पर गहरा संबंध है।

भगवान इस तथ्य को बार बार समझाते थे –

इति सीलं, इति समाधि, इति पञ्ञा।

– यह शील है, यह समाधि है, यह प्रज्ञा है।

सीलपरिभावितो समाधि महप्फलो होति महानिसंसो।

– शील परिभावित हुए की समाधि महान फलदायिनी होती है, महान लाभदायिनी होती है।

समाधिपरिभाविता पञ्ञा महप्फला होति महानिसंसा।

– समाधि परिभावित हुए की प्रज्ञा महान फलदायिनी होती है, महान लाभदायिनी होती है।

पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति। (दी० नि० २.१५९, महापरिनिब्बानसुत्त)

– प्रज्ञा परिभावित हुए का चित्त आस्रवों से भली भांति विमुक्त हो जाता है।

यों प्रज्ञाजन्य विद्या से मुक्ति की उपलब्धि होती है। इसी कारण प्रज्ञा की महानता है। विद्या प्रज्ञा से ही प्राप्त होती है।

पञ्ञा सुतविनिच्छिनी, पञ्ञा कित्तिसिलोकवद्धनी।

– प्रज्ञा श्रुतज्ञान की संशोधिका है, प्रज्ञा कीर्तिवर्द्धनी है, यशवर्द्धनी है।

पञ्ञासहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति॥ (थेरगा० ५५१, महाकप्पिनत्थेरगाथा)

– यहां जो व्यक्ति प्रज्ञावान है, वह दुःख में भी सुख अनुभव करता है।

इसीलिए कहा गया है –

तस्मा हि पञ्ञाव धनेन सेय्या। (थेरगा० ७८४, रट्ठपालत्थेरगाथा)

– इसलिए धन की अपेक्षा प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है।

सीलमेव इध अग्गं, पञ्ञवा पन उत्तमो।

– यहां (इस धर्म मार्ग पर) शील ही अग्र है यद्यपि प्रज्ञावान उत्तम है।

मनुस्सेसु च देवेसु, सीलपञ्ञाणतो जयन्ति। (थेरगा० ६१९, सीलवत्थेरगाथा)

– वास्वविकता यह है कि मनुष्यों और देवताओं में शील और प्रज्ञा से ही (वास्तविक) विजय होती है।

शील और प्रज्ञा एक दूसरे के उपकारक हैं।

सेय्यथापि ब्राह्मण, हत्थेन वा हत्थं धोवेय्य, पादेन वा पादं धोवेय्य।

– जैसे कि हे ब्राह्मण, हाथ से रगड़ कर हाथ धोये, पांव से रगड़ कर पांव धोए –

सीलपरिधोता हि, ब्राह्मण, पञ्ञा, पञ्ञापरिधोतं सीलं।

– ऐसे ही ब्राह्मण, शील से धोयी गयी प्रज्ञा है, प्रज्ञा से धोया गया शील है।

यत्थ सीलं तत्थ पञ्ञा, यत्थ पञ्ञा तत्थ सीलं।

– जहां शील है, वहां प्रज्ञा है; जहां प्रज्ञा है, वहां शील है।

सीलवतो पञ्ञा, पञ्ञावतो सीलं।

– शीलवान को प्रज्ञा प्राप्त होती है और प्रज्ञावान को शील।

लेकिन फिर भी –

सीलपञ्ञाणञ्च पन लोकस्मिं अग्गमक्खायति, (दी० नि० १.३१७, सोणदण्डसुत्त)

– संसार में शील प्रज्ञा का अगुआ कहलाता है,

क्योंकि पहले शीलधारण करना होता है और फिर प्रज्ञा।

जैसे शील और प्रज्ञा एक दूसरे के उपकारक हैं, वैसे ही समाधि और प्रज्ञा भी।

एक ओर तो यह सत्य है कि

समाहितो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति। (सं० नि० २.३.५, समाधिसुत्त)

– भिक्षुओ, समाधिस्थ भिक्षु यथाभूत को प्रज्ञापूर्वक जानता है।

दूसरी ओर यह भी कि

जैसे आंधी से उठी हुई धूल वर्षा से शांत हो जाती है –

एवं सम्मन्ति सङ्कप्पा, यदा पञ्ञाय पस्सति। (थेरगा० ६७५, अञ्ञासिकोण्डञ्ञत्थेरगाथा)

– वैसे ही प्रज्ञा से देखने पर मन के संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं।

यों एक दूसरे के उपकारक शील, समाधि और प्रज्ञा साधक को मुक्त अवस्था तक पहुँचा देते हैं। इसी सत्य को व्यक्त करता हुआ एक विमुक्त साधक कहता है –

सीलक्खन्धे पतिट्ठाय, सतिं पञ्ञञ्च भावयं।
पापुणिं अनुपुब्बेन, सब्बसंयोजनक्खयं॥ (थेरगा० ८६५, कालिगोधापुत्तभद्दियत्थेरगाथा)

– शील-स्कंध में प्रतिष्ठित हो, स्मृति (सजगता) और प्रज्ञा की भावना करके मैं क्रमशः सभी बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर ली।

इसीलिए कहा गया –

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं॥ (सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– शील पर प्रतिष्ठित सप्रज्ञ व्यक्ति समाधि और प्रज्ञा को बढ़ाता हुआ, परिपक्व तपस्वी भिक्षु इस जटा को सुलझा लेता है।

यों भगवान बुद्ध के अनेकानेक अनुगामी शील, समाधि और प्रज्ञा में पुष्ट होकर भवबंधन की जटाओं से सर्वथा विमुक्त हो गये। भगवान स्वयं भी इसी प्रकार विमुक्त हुए।

मनुस्सभूतं सम्बुद्धं, अत्तदन्तं समाहितं।

– मनुष्य के रूप में सम्यक संबुद्ध आत्म-दमन से युक्त हैं, समाहित हैं।

इरियमानं ब्रह्मपथे, चित्तस्सुपसमे रतं॥

– वे शुद्ध, श्रेष्ठ धर्म-पथ पर आरूढ़ हैं, चित्त की शांति में निरत हैं।

यं मनुस्सा नमस्सन्ति, सब्बधम्मान पारगुं।

– वे सब धर्मों में पारंगत हैं, (इसलिए) मनुष्य उनको नमन करते हैं।

मनुष्य ही नहीं,

देवापि तं नमस्सन्ति – देवता भी उन्हें नमन करते हैं।

वे सभी प्राणियों में उसी प्रकार महान हैं, जैसे सभी पर्वतों में हिमालय, सभी चौपायों में हस्तिनाग। इसीलिए वे मनुष्यों में नाग यानी हस्ति माने जाते हैं। भगवान सचमुच नर-नाग हैं।

सब्बेसं नागनामानं, सच्चनामो अनुत्तरो।

– नाग के नाम से प्रसिद्ध सभी प्राणियों में अनुत्तर (बुद्ध) ही यथार्थ नामधारी हैं।

भगवान के शिष्य उदायी उन नर-नाग भगवान का गुणगान गाते हुए कहते हैं –

वे नाग निष्पाप हैं। शील और अहिंसा उनके दो पांव हैं। स्मृति और जागरूकता उनके अन्य दो पांव हैं। प्रज्ञा उनका सिर है। वे ध्यान और निर्वाण में रत हैं। अपने भीतर सुसमाहित हैं। इसी कारण –

गच्छं समाहितो नागो, ठितो नागो समाहितो,

– नाग चलते हुए समाहित हैं, नाग खड़े हुए भी समाहित हैं,

सयं समाहितो नागो, निसिन्नोपि समाहितो,

– नाग लेटे हुए समाहित हैं, नाग बैठे भी समाहित हैं,

सब्बत्थ संवुतो नागो, एसा नागस्स सम्पदा। (थेरगा० ६८९-६९०,६९२,६९६,६९७, उदायित्थेरगाथा)

– नाग सर्वत्र संयमित हैं, यही नाग की (धर्म) संपदा है।

शील, समाधि, प्रज्ञा ही नाग की अनमोल संपदा है। विद्या और चरण ही सम्यक संबुद्ध की अनमोल सम्यक संबोधि है। प्रज्ञा-संपन्न ही विद्या-संपन्न है। शील, समाधिसंपन्न ही चरण-संपन्न है।

विद्या-संपन्न

विद्या का एक अर्थ **इद्धि** यानी ऋद्धि यानी सिद्धि भी है, जिसे प्राप्त कर बुद्ध सही माने में सिद्ध पुरुष होते हैं।

ये आठ विद्याएं अर्थात सिद्धियां हैं; –

(१) विपश्यना ज्ञान विद्या –

विपश्यना यानी विशेष रूप से देखने की विद्या। इससे नाम और रूप को अलग अलग करके देख-जान लिया जाता है, एक दूसरे का पारस्परिक संबंध पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, जिससे कि ज्ञान-दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

(२) मनोमय ऋद्धि ज्ञान विद्या –

इससे अपने इस शरीर से भिन्न, सभी अंग-प्रत्यंग और इंद्रियों से सर्वांग संपूर्ण एक अन्य मनोमय भौतिक शरीर का निर्माण किया जा सकता है।

(३) विविध ऋद्धि ज्ञान की विद्या –

एक से अनेक हो जाना, अनेक से फिर एक हो जाना; अंतर्धान होना, प्रकट होना; दीवार-प्राकार, पर्वत आदि को बिना छुए उनके आर-पार निकल जाना, जैसे शून्य में से निकल गया हो; पृथ्वी में ऐसे गोते लगाना, जैसे जल में लगा रहा हो; जल की सतह पर ऐसे चलना, जैसे ठोस धरती पर चल रहा हो; आकाश में पालथी मार कर ऐसे उड़ना, जैसे कोई पक्षी उड़ रहा हो; सूर्य और चांद को अपने हाथ से छूना, थपथपाना; सशरीर ब्रह्मलोक की यात्रा करना; आदि-आदि। अनेक ऋद्धियां सिद्ध होती है।

(४) दिव्य-श्रोत ज्ञान विद्या –

मनुष्यों और देवों के, समीप और दूर के बोल सुने जा सकते हैं।

(५) पर-चित्त ज्ञान विद्या –

अन्य प्राणियों के चित्त और चैतसिक अवस्थाओं को अपने चित्त से जाना जा सकता है।

(६) पूर्व-जाति-स्मरण ज्ञान विद्या –

पचास, सौ, हजार, लाख ही नहीं प्रत्युत अनेक कल्पों के अनगिनत जन्मों की घटनाओं का स्मरण किया जा सकता है।

(७) दिव्य-चक्षु ज्ञान की विद्या –

यह देखा जा सकता है कि पूर्व काल के किन कर्मों के कारण कौन प्राणी कैसी सुगति या दुर्गति को प्राप्त हुआ है, कोई व्यक्ति किन कर्मों के कारण कहां, कैसी स्थिति में जन्म ले रहा है?

(८) आस्रवक्षय ज्ञान विद्या –

यह ज्ञान दर्शन हो जाता है कि –

(क) यह आस्रव है यानी चित्त का मैल है,

(ख) यह इसकी उत्पत्ति है,

(ग) यह इसका निवारण है, और

(घ) यह इसके निवारण का उपाय है।

इसे देखते-देखते चित्त की नितांत आस्रव-विमुक्त अवस्था साक्षात कर ली जाती है।

इन आठों ऋद्धि विद्याओं में पहली अर्थात विपश्यना-ज्ञान-विद्या और आठवीं अर्थात आस्रवक्षय-ज्ञान-विद्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहली के अभ्यास द्वारा आठवीं विद्या सिद्ध होती है, तभी कोई व्यक्ति भव-संसरण से सर्वथा मुक्त होता है। शेष सारे अभिज्ञान, सारी ऋद्धियां समाधिजन्य हैं। अतः बिना विमुक्त हुए व्यक्तियों को भी उपलब्ध हो सकती हैं, भले कुछ कम मात्रा में उपलब्ध हों। किसी सम्यक संबुद्ध का यह अभिज्ञान बल औरों की तुलना में कहीं अधिक होता है। सम्यक संबुद्ध की पारमी संख्या में तिगुनी और परिमाण में कई गुना अधिक होती है। इसी कारण उनकी ये अभिज्ञान विद्याएं भी बृहत्तम होती हैं।

ये आठों अभिज्ञान किसी सम्यक संबुद्ध को विद्या-संपन्न बनाते हैं।

चरणसंपन्न

चरण पंद्रह हैं –

(१) शील में पूर्णतया प्रतिष्ठित होना,

(२) इंद्रियों को संयमित करना,

(३) भोजन में मात्रज्ञ होना,

(४) जागरणशील होना,

(५) से (११) श्रद्धा, ह्री, अपत्रप से युक्त होना, बहुश्रुत, वीर्यवान, स्मृतिवान, प्रज्ञावान होना,

(१२) से (१५) चारों रूपावचर ध्यानों में परिपक्व होना।

इन पंद्रह धर्मों को धारण करने वाला व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा के क्षेत्र में कदम-कदम विचरण करता हुआ निर्वाण की ओर बढ़ता है। इसलिए ये चरण कहलाते हैं। इनमें पुष्ट होने वाला व्यक्ति चरण-संपन्न कहलाता है।

चरण वस्तुतः मुक्ति-पथ के पथिक के चरण हैं और विद्या है उसकी आँखें। दोनों की संपन्नता उसकी सम्यक संबोधि को परिपूर्णता तक पहुँचाती है, उसे सभी दुःखों से विमुक्त कराती है।

यं वत्तं परिपूरेन्तो, सीलम्पि परिपूरति।

– जो व्रत को परिपूर्ण करता हुआ शील को परिपूर्ण करता है।

विसुद्धसीलो सपञ्ञो, चित्तेकग्गम्पि विन्दति॥

– (वह) विशुद्ध शीलवान, सप्रज्ञ व्यक्ति चित्त-एकाग्रता अनुभव करता है।

अविक्खित्तचित्तो एकग्गो, सम्मा धम्मं विपस्सति।

– अविक्षिप्त, एकाग्रचित्त हुआ व्यक्ति सम्यक प्रकार से धर्म की विपश्यना करता है।

सम्पस्समानो सद्धम्मं, दुक्खा सो परिमुच्चति॥ (चूळव० ३८२, अन्तेवासिकवत्तकथा, तस्सुद्दानं)

– सम्यक रूप से सद्धर्म की विपश्यना करता हुआ वह दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

दुःखों से नितांत विमुक्त हुए तथागत की विद्यासंपदा उन्हें सर्वज्ञता से परिपूर्ण करती है और चरणसंपदा महाकारुणिकता से। सर्वज्ञ होने के कारण तथागत लोगों की वास्तविक स्थिति को, उनके गुण दोषों को भली-भांति जान लेते हैं और महाकारुणिक होने के कारण उन्हें दोषों से दूर होने और गुणों में परिपुष्ट होकर मुक्त होने का मार्ग ज्ञापित करते हैं।

भगवान की महती करुणा

भगवान दीपंकर के चरणों में बैठ कर सम्यक संबुद्ध बनने का शिव संकल्प करते हुए, भव-भ्रमण में पड़े हुए दुखियारे प्राणियों के प्रति तपस्वी सुमेध के मन में जो करुणा की गंगोत्री जागी, वह अनेकानेक जन्मों में संवर्द्धित होती हुई अब बोधिसत्त्व के अंतिम जीवन में उनके विद्याचरणसंपन्न सम्यक संबुद्ध हो जाने पर त्रिलोक-ताप-हारिणी विशाल धर्म-गंगा बन कर बह चली जो कि धर्मविरोधी अंधमान्यताओं में जकड़े हुए अनेक लोगों को उबारने का और उनके दुःखमुक्त हो सकने का कारण बनी।

चातुर्वर्णी शुद्धि

भगवान बुद्ध को लोक कल्याण के लिए शील, समाधि और प्रज्ञाजन्य परिशुद्ध, परिपूर्ण, सर्वहितकारी धर्म के व्यावहारिक पक्ष की पुनर्स्थापना करनी थी क्योंकि वह विकृत होते होते प्रायः विलुप्त हो चुका था। विकृतियों के अनेक कारणों में से एक बड़ा कारण था जन्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था, जिसकी विषैली जकड़न ने समाज को धर्म से च्युत कर दिया था। लोग जाति और वर्ण को महत्त्व देने लगे थे न कि कर्म और धर्म को। अतः चातुर्वर्णी विशुद्धि आवश्यक थी ताकि व्यष्ठि का भी कल्याण हो और समीष्ठ का भी। अनेक

भूले-भटके लोग अंधी मान्यताओं के कारण, अज्ञानताभरी मोह-मूढ़ता के कारण अपनी ही घोर हानि कर रहे थे।

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।

– जाति, धन या गोत्र के नशे में धुत्त हुआ व्यक्ति –

सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥ (सु० नि० १०४, पराभवसुत्त)

– अभिमानवश अपनी ही मनुष्य जाति के अन्य लोगों को अपमानित करता है। इस प्रकार वह स्वयं अपने अधःपतन का कारण बनता है।

ऐसी मोह-मूढ़ता आज भी है और उस समय के भारत में भी बहुत प्रबल थी। ऐसे अनेक लोग थे जो जाति, गोत्र और धन के नशे में धुत्त रहते थे। ऐसे व्यक्ति अपने ही अहंकारजन्य अज्ञान के कारण विद्या और आचरणरूपी सद्धर्म को समझ ही नहीं पाते थे, उसे धारण करना तो बहुत दूर की बात रही। ऐसे व्यक्ति सद्धर्म के सत्फलों से वंचित रह कर अपनी हानि तो करते ही थे, समाज और राष्ट्र की भी बड़ी हानि करते थे। समाज के किसी एक विशाल वर्ग के लोगों को नीचा मान कर उनका अपमान करते थे, उनका शोषण करते थे। समाज की व्यवस्था को इस प्रकार जकड़ देने का दुष्कर्म करते थे जिससे ये दुखियारे दलित, पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित ही बने रहें और अन्यों की सेवा करने में ही संतोष मानते रहें, कभी अपना सिर न उठा सकें, समाज में कभी ऊंचे न उठ सकें। समाज की इस सड़ी-गली और दूषित वर्ण व्यवस्था पर भगवान ने एक करुण शल्यकर्ता (सर्जन) की भांति नश्तर लगाया। समाज में कोढ़ की तरह फैले हुए इस घृणित रोग को एक करुण चिकित्सक की भांति दूर करने का प्रभूत प्रयत्न किया। समाज को स्वस्थ करने के लिए इस दुःखदायी कैंसर को काट कर शुद्ध-धर्म का मैत्रीपूर्ण मलहम लगाने का अपूर्व श्रम किया।

तथागत की करुणा समाज के चारों वर्णों के लोगों पर समान रूप से बरसती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को उच्च वर्ण वाले मान कर जात्यभिमान से भर उठे थे। दोनों में परस्पर एक दूसरे से बड़े होने की स्पर्धा चल रही थी। सदियों से चली आ रही समाज की इस दूषित व्यवस्था के कारण शूद्र और अंत्यज अत्यंत हीनभाव से ग्रस्त हो चुके थे। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि उनका उद्धार हो सकता है और वे यहीं इसी जीवन में सही माने में ब्राह्मण बन सकते हैं। तथागत ने अत्यंत करुणापूर्वक चातुर्वर्णी शुद्धि करने का बीड़ा उठाया। उन्हें ऐसे समाज का गठन करना था जिसमें जन्म के अथवा वर्ण के कारण न कोई ऊंचा हो, न नीचा। ऐसा धर्म-समन्वित समाज हो जिसमें कर्म से ही कोई ऊंचा हो और कर्म से ही नीचा। जो आज कर्म से नीचा है, उसे भी पूरा-पूरा अधिकार और पूरा-पूरा अवकाश हो कि वह यहीं इसी जीवन में कर्म सुधार कर ऊंचा बन जाय, समाज में पूज्य बन जाय। इस प्रकार न किसी में मिथ्या अहंभाव जागे और न अन्य में हीनभाव। पुरातन युग के ऐसे सर्वहितकारी शुद्ध, सद्धर्म को उन्हें पुनर्जीवित करना था। सारे समाज का पुनरुद्धार करना था और अपरिमित करुणाभरे चित्त से उन्होंने जीवन भर यही किया।

ब्राह्मण

अनेक ब्राह्मणों में यह मिथ्या गर्व समा गया था कि –

ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो।

– ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य सभी वर्ण हीन हैं।

और वह इसलिए कि–

ब्राह्मणोव सुक्को वण्णो, कण्हो अञ्ञो वण्णो। (म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– ब्राह्मण शुक्लवर्णी हैं, अन्य सभी कृष्णवर्णी हैं।

उन्हें अपनी रक्त-शुद्धि पर बड़ा गर्व था। इस मान्यता का बड़ा अभिमान था कि–

इध, भो गोतम, ब्राह्मणो उभतो सुजातो होति मातितो च पितितो च। (दी० नि० १.३११, सोणदण्डसुत्त)

– हे गोतम, ब्राह्मण माता और पिता दोनों ओर से सुजात हैं।

संसुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहयुगा, अक्खित्तो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन।

(दी० नि० १.३०३, सोणदण्डसुत्त)

– जातिवाद के नियमों के अनुसार वह सात पीढ़ी तक संशुद्ध है, अक्षत है, निर्दोष है।

रक्त-शुद्धि का यह अहंकार मिथ्या है। इसे बुद्ध-पूर्व के कुछ एक अन्य ब्राह्मण आचार्य भी समझने लगे थे और वे अपने ब्राह्मण बंधुओं को इस मिथ्या-दृष्टि से मुक्त किया चाहते थे। उनमें से एक था– ऋषि असित देवल।

ऋषि असित देवल

वह उन दिनों के समाज का बहुत प्रसिद्ध और पूज्य ब्राह्मण ऋषि था। भगवान बुद्ध के पिता शुद्धोदन का पुरोहित भी था। वह समस्त ब्राह्मण शास्त्रों में ही पारंगत नहीं था, बल्कि आठों ध्यानों में पुष्ट होकर अनेक अभिज्ञानों (सिद्धियों) का धनी भी था। वह एक बार सात ब्राह्मण ऋषियों की इसी मिथ्या दृष्टि को दूर करने के लिए उद्यत हुआ। ऋषि असित देवल जटाधारी था। उसने सिर और दाढ़ी-मूंछ मुँड़वाई और मजीठ रंग का कंबल ओढ़ कर, श्रमण का भेष बना, खड़ाऊँ पहन कर, हाथ में सोने-चांदी का दंड धारण किया और वहां गया, जहां ये सात ब्रह्मर्षि तप रहे थे। वह इन ऋषियों की कुटी के सामने खुले आंगन में अपनी खड़ाऊँ से खट-खट आवाज करता हुआ चलने लगा और उच्च-स्वर में बोलने लगा–

हन्द, को नु खो इमे भवन्तो ब्राह्मणिसयो गता।

– अरे, ये ब्राह्मण ऋषि कहां चले गये?

सातों ब्राह्मण ऋषि अपनी-अपनी कुटिया के बाहर आये और उसका ऐसा अभद्र व्यवहार देख कर क्रुद्ध हो उसे शाप दिया–

भस्मा, वसल, होहि। भस्मा, वसल, होहि। (म० नि० २.४१०, अस्सलायनसुत्त)

– हे वृषल (चांडाल), तू भस्म हो जा, तू भस्म हो जा।

परंतु सातों ऋषि जैसे-जैसे ऋषि असित देवल को शाप देते, वैसे-वैसे वह और अधिक सुदर्शनीय, सुरूप और सुंदर होता जाता था।

यह देख सातों ऋषि आश्चर्य-चकित हुए। उन्हें यों लगा कि उनका तप क्षीण हो गया है, निष्फल हो गया है। पहले उनके द्वारा दिया गया शाप तत्काल फलदायी हो जाता था, परंतु अब ऐसा नहीं हो रहा है, उल्टे यह शापित व्यक्ति अधिक सुंदर, सुदर्शनीय होता जा रहा है।

उन्हें दुःखी देख कर ऋषि असित देवल ने उनसे कहा – तुम्हारा तप क्षीण नहीं हुआ है, निष्फल नहीं हुआ है। तुम्हारे मन में जो द्वेष जाग उठा है, उसे दूर करो और मेरी बात सुनो।

उन्होंने अपने मन का द्वेष दूर कर मैत्रीपूर्ण चित्त से देवल ऋषि का परिचय पूछा। परिचय जान कर वे श्रद्धापूर्वक उसका अभिवादन करने लगे।

ब्रह्मर्षि असित देवल ने उनसे पूछा – "क्या तुम्हारे मन में यह मिथ्या-दृष्टि जागी है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सुजात हैं, सात पीढ़ियों तक जातिवाद के नियमों के अनुसार शुद्ध-रक्त हैं?" उन्होंने स्वीकारा कि उनकी यही मान्यता है, यही दृष्टि है।

इस पर ब्रह्मर्षि असित देवल ने उनसे पूछा – "क्या तुम दावे से कह सकते हो कि तुम्हारी माता और सात पीढ़ी तक की दादियों, नानियों ने ब्राह्मण से ही सहवास किया, अब्राह्मण से नहीं?

– "नहीं, ब्रह्मर्षि, ऐसा हम दावे के साथ कैसे कह सकते हैं?"

"तो यह बताओ कि तुम्हारी माताएं और दादियों ने जब गर्भाधान किया तब जन्म लेने के लिए उनके पेट में जो प्राणी आया, उसके बारे में क्या तुम दावे से कह सकते हो कि वह प्राणी पूर्व जन्म में ब्राह्मण ही था, अब्राह्मण नहीं?"

–"नहीं, ब्रह्मर्षि, ऐसा तो हम दावे के साथ नहीं ही कह सकते।"

"तो तुम कहां जानते हो कि तुम कौन हो? ब्राह्मण हो या अब्राह्मण?"

– "सचमुच, ब्रह्मर्षि! हम नहीं कह सकते कि हम वस्तुतः कौन हैं।"

यों बुद्धिसंगत वार्त्तालाप द्वारा ब्रह्मर्षि देवल ने उनका जात्यभिमान तोड़ा।

हो सकता है उस समय के समाज में इस प्रकार के और भी समझदार ब्राह्मण रहे हों, परंतु गलत मान्यताओं में उलझे हुए नासमझ ब्राह्मण अनेक थे। भगवान बुद्ध ने अत्यंत करुण चित्त से उन्हें सही तथ्य समझाने का भरसक प्रयत्न किया और इससे अनेक लोगों को सही धर्म-दृष्टि मिली और उनका कल्याण हुआ।

ब्रह्मा के औरस पुत्र

हम बुद्ध-वाणी में देखते हैं कि अनेक ब्राह्मणों की एक और मिथ्या मान्यता थी –

ब्राह्मणाव सुज्झन्ति, नो अब्राह्मणा – ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं।

ब्राह्मणाव ब्रह्मुनो पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादाति।

– ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मा से जन्मे, ब्रह्मा द्वारा निर्मित, ब्रह्म-दायाद हैं यानी ब्रह्मा के वारिस हैं।

इस मिथ्या-दृष्टि में भटकते हुए लोगों को भगवान ने युक्तिपूर्वक समझाया –

दिस्सन्ति खो पन, अस्सलायन, ब्राह्मणानं ब्राह्मणियो उतुनियोपि, गब्भिनियोपि, विजायमानापि, पायमानापि। (म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– लेकिन हे आश्वलायन, ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां ऋतुमती भी होती हैं, गर्भिणी भी होती हैं, जनन भी करती हैं, दूध भी चुंघाती हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है।

तो –

ब्राह्मणियोनिजा – ब्राह्मणी माता की योनि से उत्पन्न होते हुए ब्राह्मण – **ब्रह्मजा, ब्रह्मुनो मुखतो जाता** कैसे हुए भला?

ऐसी मिथ्या मान्यता मानने वालों के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। और फिर यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि चार वर्णों के निर्माण का सौभाग्य या दुर्भाग्य केवल भारत को ही क्यों मिला? संसार के रचने वाले (?) ब्रह्मा ने यहीं के कुछ लोगों पर विशेष कृपा करके उन्हें अपने मुँह में से क्यों पैदा किया? कुछ पर कम कृपा करके उन्हें अपनी भुजा में से क्यों उत्पन्न किया? कुछ पर और कम कृपा करके उन्हें अपनी जांघों में से क्यों उत्पन्न किया? तथा एक बहुत बड़े समुदाय पर इतना बड़ा कोप करके उसे अपने पैरों में से क्यों उत्पन्न किया? उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी बाकी तीनों की सेवा करते रहने के लिए क्यों बाध्य किया? इसका कोई उत्तर नहीं था।

एक और प्रश्न भी था। आखिर किसी सृष्टि रचयिता (?) ब्रह्मा ने सारे संसार की रचना की होगी तो उसने सभी देशों में ऐसी चातुर्वर्णी व्यवस्था क्यों नहीं बनायी भला?

भगवान ने आश्वलायन से पूछा –

योनकम्बोजेसु, अञ्ञेसु च पच्चन्तिमेसु जनपदेसु द्वेव वण्णा।

– यवन और कंबोज तथा अन्य पड़ोसी देशों में केवल दो ही वर्ण हैं,

अय्यो चेव दासो च – स्वामी या दास,

अय्यो हुत्वा दासो होति, दासो हुत्वा अय्यो होति। (म० नि० २.४०३, अस्सलायनसुत्त)

– (वहां) स्वामी होकर दास हो जाता है और दास होकर स्वामी हो जाता है।

वहां के लिए ऐसा नियम क्यों नहीं बनाया गया कि स्वामी पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वामी बने रहेंगे और दास पीढ़ी-दर-पीढ़ी दास। फिर भला यह अभिशाप या वरदान केवल भारत को ही क्यों दिया गया कि यहां जो उच्च वर्ण का है, वह केवल स्वयं ही जीवनभर उच्च वर्ण का नहीं बना रहेगा बल्कि सदियों तक, सृष्टि के अंत तक उसकी सारी पीढ़ियां उच्चवर्ण की बनी रहेंगी और जो नीच वर्ण है, वह केवल स्वयं ही जीवन भर नीच-वर्ण नहीं बना रहेगा बल्कि सदियों तक, सृष्टि के अंत तक उस बेचारे की सारी पीढ़ियां दलित ही बनी रहेंगी। यह सृष्टि का रचयिता कैसा है? कैसी पक्षपात-पूर्ण है इसकी रचना? कैसा विचित्र मत्स्य-न्याय है इस रचना का! परंतु जो बात रंच-मात्र भी युक्ति-संगत न हो, उसका कोई क्या उत्तर देता भला?

सही माने में मुखतो जातो क्या है?

समंतचक्षु भगवान तथागत ने बुद्ध होने पर देखा – संसार मोहाच्छन्न अंधकार से घिरा हुआ है, अतः धर्म की सूक्ष्म सच्चाइयां समझ नहीं पाएगा। परंतु फिर यह भी देखा कि कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं, जिनकी आंखों पर अविद्या का झीना-सा ही पर्दा पड़ा है। उस अज्ञान के पर्दे को दूर करने के लिए ही उन महाकारुणिक ने समझाया कि जब कोई तथागत अरहंत विद्याचरण संपन्न होकर सम्यक संबोधि प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अनंत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के ब्रह्म-विहारों में रमण करते हुए स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं – **ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** ; स्वयं धर्म बन जाते हैं – **धम्मकायो, धम्मभूतो** ।

ऐसे निर्मल, निर्लिप्त सम्यक संबुद्ध संसार में ब्रह्मा का जीवन जीते हैं।

लोके अनुपलित्ता ते, ब्रह्मभूता अनासवा। (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– वे संसार में अनुपलिप्त, ब्रह्मभूत, अनास्रव होते हैं।

जो ब्रह्मविहारी अनास्रव होते हैं, ब्रह्मभूत होते हैं, वे ही सही माने में ब्राह्मण होते हैं। यही ब्राह्मणों का ब्राह्मण्य है।

यो खो, भिक्खवे, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – अयं वुच्चति, भिक्खवे, ब्रह्मञ्ञत्थो।

(सं० नि० ३.५.३८, दुतियब्रह्मञ्ञसुत्त)

– भिक्षुओ, यह जो राग-क्षय है, द्वेष-क्षय है, मोह-क्षय है, यही ब्राह्मण्य का सही अर्थ कहलाता है।

ब्राह्मण्य का यह सही अर्थ सभी बुद्धों पर लागू होता है। तभी कहा गया –

असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

– जो अनासक्त हैं, सुगत हैं, बुद्ध हैं, उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। (म० नि० २.४५९, वासेट्ठसुत्त)

– जो निष्कंप हैं, (धर्म गंगा में नहाये हुए) स्नातक हैं, बुद्ध हैं, उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

और फिर यह भी कहा –

बाहित्वा पापके धम्मे, ये चरन्ति सदा सता।
खीणसंयोजना बुद्धा, ते वे लोकस्मि ब्राह्मणा॥ (उदा० ५, ब्राह्मणसुत्त)

– जिन्होंने अपने मानस के सारे पाप बहा दिये, जो सदा सजग रह कर विचरण करते हैं, जिनके संयोजन-बंधन टूट गये हैं, ऐसे बुद्ध ही संसार में ब्राह्मण हैं।

अग्गिक भारद्वाज अथवा सुंदरिक भारद्वाज जैसे जात्यभिमानी ब्राह्मण जो चंद मिनट पहले भगवान बुद्ध को अपमान-भरे शब्दों से संबोधित कर रहे थे वही उनकी नितांत निःसंग निःस्पृहता देख कर, उनकी करुणासिक्त वाणी सुन कर इतने बदल गये कि भोजन ग्रहण करने का अनुरोध करते हुए उन्हें ससम्मान ब्राह्मण कह कर उनका अभिवादन करने लगे।

भुञ्जतु भवं गोतमो। ब्राह्मणो भवं – आप गोतम भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।

(सं० नि० १.१.१९४, अग्गिकसुत्त)

भुञ्जतु भवं गोतमो। ब्राह्मणो भवं – आप गोतम भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।
(सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

जिन्हें उनके विरोधी तक ब्राह्मण कहने लगे, उन्होंने अपने आपको ब्राह्मण कहा तो उनका ऐसा कहना समीचीन ही था। सचमुच भगवान की यह घोषणा कितनी सही थी–

अहमस्मि, भिक्खवे, ब्राह्मणो – भिक्षुओ, मैं ब्राह्मण हूं।

याचयोगो सदा पयतपाणि।

– याचना करने योग्य हूं। सदा खुले हाथ (धर्म) बांटने वाला हूं।

अन्तिमदेहधरो – अंतिम देहधारी हूं।

अनुत्तरो भिसक्को सल्लकत्तो।

– सर्वश्रेष्ठ भिषक यानी वैद्य हूं। शल्यकर्ता यानी सर्जन हूं।

ऐसे सही ब्राह्मण से धर्म का दान लेकर तुम में से जो-जो धर्मिष्ठ हो गये–

तस्स मे तुम्हे पुत्ता ओरसा मुखतो जाता,

– तुम सब मेरे औरस पुत्र हो, मुख से जन्मे,

धम्मजा धम्मनिम्मिता – धर्म से जन्मे, धर्म से निर्मित।

धम्मदायादा, नो आमिसदायादा। (इतिवु० १००, ब्राह्मणधम्मयागसुत्त)

– धर्म-दायाद यानी धर्म के उत्तराधिकारी हो, वारिस हो; आमिस-दायाद यानी सांसारिक लाभों के वारिस नहीं।

सचमुच जो भगवान के मुख से धर्म सुन कर धर्मलाभी हुए, धर्माधिकारी हुए, वे भगवान के मुख से उत्पन्न उनकी औरस संतान ही कहलाये, धर्म के उत्तराधिकारी ही कहलाये। ब्राह्मण बुद्ध ने अपनी धर्म-वाणी से उन सबको अपना धर्म-पुत्र अथवा धर्म-पुत्री बनाया। वे धर्म से ही उत्पन्न हुए, धर्म से ही उनका निर्माण हुआ। उनमें से अनेकों ने अत्यंत हर्ष-विभोर होकर इस सच्चाई की धर्म-घोषणा भी की। तिपिटक में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे। आओ, कुछ एक देखें।

ब्राह्मण हुए बुद्ध की धर्म-धीता सुंदरी थेरी ने हर्ष के उद्गार प्रकट करते हुए कहा–

तुवं बुद्धो तुवं सत्था, तुह्यं धीताम्हि ब्राह्मण।
ओरसा मुखतो जाता, कतकिच्चा अनासवा॥ (थेरीगा० ३३७, सुन्दरीथेरीगाथा)

– तुम बुद्ध हो, तुम शास्ता हो। हे ब्राह्मण, मैं तुम्हारी पुत्री हूं, तुम्हारे हृदय से उत्पन्न, तुम्हारे मुख से जन्मी। मैं कृत-कृत्य हो गयी हूं। मैं अनास्रव यानी निष्पाप हो गयी हूं।

इसी प्रकार बुद्ध-पुत्री उत्तमा थेरी के उद्गार हैं–

ओरसा धीता बुद्धस्स, निब्बानाभिरता सदा।
विक्खीणो जातिसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो॥ (थेरीगा० ४६-४७, अपराउत्तमाथेरीगाथा)

– मैं बुद्ध की औरस पुत्री हूं। सदा निर्वाण-अभिरत रहती हूं। मेरा सांसारिक आवागमन क्षय हो गया है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

एक अन्य हृदयग्राही उद्गार देखें महाप्रजापती गोतमी का, जो भगवान की मौसी थी। भगवान की जननी महामाया के निधन पर नवजात शिशु को अपने स्तन का दूध पिला कर उसने उन्हें माता-सदृश लाड़-प्यार से पाला था। अतः वह बुद्ध की स्तनपायी माता थी। दूसरी ओर उनकी शिष्या होने के नाते बुद्ध की औरस धर्म-पुत्री भी थी। बड़े मर्म-स्पर्शी उद्गार हैं इस ममतामयी माता के, श्रद्धालु पुत्री के –

अहं सुगत ते माता, त्वं च वीर पिता मम।
सद्धम्मसुखदनाथ, तया जाताम्हि गोतम॥ (अप० थेरी २.२.१३०, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

– हे सुगत, मैं तुम्हारी मां। हे वीर, तुम मेरे पिता हो। हे नाथ, हे गोतम, तुमने मुझे सुखद सद्धर्म में जन्म दिया है।

इस जीवन में उनके साथ एक ही दिन जन्मा हुआ उनका बचपन का साथी कालूदायी उनकी शिक्षा ग्रहण कर अरहंत हुआ और हर्ष-विभोर होकर गा उठा –

बुद्धस्स पुत्तोम्हि असय्हसाहिनो।
अङ्गीरसस्सप्पटिमस्स तादिनो॥ (थेरगा० ५३६, काळुदायित्थेरगाथा)

– मैं उन अनुपम तथागत बुद्ध का पुत्र हूं, जो अंगीरस हैं और असह्य को सहने वाले हैं।

गया काश्यप

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न गयाकस्सप जटाधारी परिव्राजक होकर अपने सौ शिष्यों के साथ गया में रहता था और नित्य फल्गु नदी में स्नान करके अपने पाप धो लेने की मिथ्या मान्यता में जकड़ा हुआ था। भगवान के संपर्क में आने पर उसे शुद्ध धर्म मिला, जिसे धारण कर उसने कहा कि अब मैं धर्म की गंगा में स्नान कर वस्तुतः अपने सारे पाप धो चुका हूं।

सुद्धो सुद्धस्स दायादो, पुत्तो बुद्धस्स ओरसो। (थेरगा० ३४८, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– अब मैं शुद्ध हूं। शुद्ध हुए भगवान बुद्ध का दायाद हूं, वारिस हूं। अब मैं भगवान बुद्ध का औरस पुत्र हूं।

वंगीस

इसी प्रकार भगवान का शिष्य वंगीस अपने साथियों समेत सबको भगवान के पुत्र घोषित करता है –

सब्बे भगवतो पुत्ता, पलापेत्थ न विज्जति। (थेरगा० १२४६, वङ्गीसत्थेरगाथा)

– ये सभी भगवान के पुत्र हैं। यहां कोई तुच्छ व्यक्ति है ही नहीं।

बुद्ध की संतान ब्राह्मण

जो बुद्ध की संतान हैं वे ब्रह्मा की संतान हैं, क्योंकि बुद्ध ब्राह्मण भी हैं, ब्रह्मभूतो ब्रह्मा भी हैं।

ब्रह्म कहते हैं महान को, श्रेष्ठ को। ब्रह्मा वह जो महानता, श्रेष्ठता धारण किये हुए है। भगवान बुद्ध महानता, श्रेष्ठता धारण किये हुए थे, इसी माने में **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा थे।

ब्रह्म शब्द का एक अर्थ है– धर्म। ब्रह्म भी श्रेष्ठ, धर्म भी श्रेष्ठ। अतः भगवान बुद्ध ने जो धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह ब्रह्मचक्र-प्रवर्तन भी कहलाया।

एस सो भगवा बुद्धो, एस सीहो अनुत्तरो।
सदेवकस्स लोकस्स, ब्रह्मचक्कं पवत्तयि॥ (इतिवु० ११२, लोकसुत्त)

– ऐसे वह भगवान बुद्ध हैं, ऐसे अनुत्तर सिंह हैं जिन्होंने देवता सहित लोक में ब्रह्मचक्र प्रवर्तित किया।

जो मुक्ति-पथ भगवान प्रदर्शित करते हैं, वह धर्मयान कहलाता है और वही ब्रह्मयान भी। मुक्त अवस्था तक पहुँचाने वाला जो धर्मयानरूपी वाहन है, वही ब्रह्मयानरूपी वाहन है।

धर्माचरण को ब्रह्माचरण कहा जाता है। **ब्रह्मचरिया धम्मचरिया** को ही कहते हैं। दोनों सदाचरण के पर्याय हैं। ब्रह्मचर्य काम-भोग से सदा विरत रहने को भी कहते हैं। यह धर्माचरण यानी सदाचरण की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। रूप एवं अरूप ब्रह्म लोक के प्राणी ब्रह्मा कहलाते हैं, क्योंकि वे काम-भोग के क्षेत्र का अतिक्रमण कर श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं। जो बुद्ध हैं, वे भी श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं। इसलिए भी बुद्ध **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा हैं।

ब्रह्मलोक में उन्हीं प्राणियों का जन्म होता है, जिन्होंने श्रेष्ठ सदाचार का जीवन जिया है और मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा – इन चार भावनाओं का प्रपुष्ट अभ्यास किया है। इन ब्रह्मलोकों में रहने वाले सारे प्राणी अनंत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का जीवन जीते हैं। इसीलिए इन चारों को ब्रह्मविहार कहते हैं। यही श्रेष्ठविहार है, यही धर्मविहार है। भगवान बुद्ध इन्हीं विहारों का जीवन जीते थे। इस माने में भी बुद्ध **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा थे।

भगवान बुद्ध **धम्मकायो** थे यानी मूर्तिमान धर्म थे, जीवंत धर्म थे, धर्म का मूर्तरूप थे। इस माने में भी वे **ब्रह्मकायो** ब्रह्मा थे, सजीव श्रेष्ठता थे, सजीव महानता थे। श्रेष्ठता, महानता के मूर्तरूप थे।

धर्म और ब्रह्म पर्यायवाची शब्द हैं, अतः **धम्मकायो** कहें या **ब्रह्मकायो** , **धम्मभूतो** कहें या **ब्रह्मभूतो** , ये बुद्ध के ही समानार्थी शब्द हैं।

जो मार सेना का प्रमर्दन कर देते हैं अर्थात मार के साम्राज्य क्षेत्र को, यानी जीवन-मरण के चक्र को नष्ट कर देते हैं, उनकी तुलना सामान्य प्राणियों से नहीं की जा सकती। इस माने में वे अतुल्य हैं– **अतितुलो** । ऐसे मुक्त व्यक्ति ही **ब्रह्मभूतो** कहलाते हैं।

ब्रह्मभूतो अतितुलो, मारसेनप्पमद्दनो। (म० नि० २.३९९, सेलसुत्त)

यही कारण था कि सुंदरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान से कहा–

ब्रह्मा हि सक्खि – आप साक्षात ब्रह्मा हैं। (सु० नि० ४८३, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

जब ऐसे **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा अपने मुख से **ब्रह्मयान** यानी **धर्मयान** का उपदेश देते हैं, ब्रह्मचक्र यानी धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं, तब उनके हृदय से और मुख से निकली हुई वाणी सुन कर अगर कोई योग्य व्यक्ति धर्म धारण कर उन जैसी मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो वह ब्राह्मण हो जाता है। वह उनके उर से निकली हुई वाणी से उत्पन्न होने के कारण उनका औरस पुत्र कहलाता है। इसलिए इस भाव में यह कहना ठीक ही है–

ब्राह्मणाव ब्रह्मुनो पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादा।

(म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुँह से उत्पन्न हैं, ब्रह्मा से जन्मे हैं, ब्रह्म द्वारा निर्मित हैं, ब्रह्म दायाद हैं, यानी ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं।

इस प्रकार ब्रह्मभूतो बुद्ध के सभी औरस पुत्र सही माने में ब्राह्मण हुए। कुछ उदाहरण देखें;–

अंगुलिमाल

वह कोशल-नरेश के पुरोहित भार्गव ब्राह्मण का पुत्र था। नाम था अहिंसक। गुरुकुल में पढ़ते हुए सहपाठियों के षड्यंत्र के कारण आचार्य के संदेह का पात्र बना। आचार्य ने उससे गुरु-दक्षिणा-स्वरूप मनुष्यों की एक हजार अँगुलियां मांगीं। परिणामतः वह हत्यारा बन गया। वन-प्रदेश में से गुजरते हुए यात्रियों की हत्या कर-करके गले में पहनी माला के सूत्र में उनकी अँगुलियां पिरोता गया। नौ सौ निन्यानवे अँगुलियां पूरी हो जाने पर अंतिम अँगुलि की खोज में अपनी मां की हत्या करने के लिए उद्यत हुआ। उसे मातृ-हत्या के दोष से बचाने के लिए महाकारुणिक भगवान स्वयं उसके पास पहुँचे। अंगुलिमाल ने भगवान की हत्या करनी चाही, पर कर न सका। समीप भी न पहुँच सका। इस ऋद्धि बल से प्रभावित होकर उसने भगवान से बातचीत की। धर्म की वाणी सुन कर इतना प्रभावित हुआ कि अपने शस्त्र पहाड़ की कंदरा में फेंक कर भगवान की चरण-शरण ग्रहण कर धर्मानुपश्यी हुआ। भवमुक्त अरहंत हुआ। तब उसने ये उद्गार प्रकट किये–

ब्रह्मजच्चो पुरे आसिं, उदिच्चो उभतो अहु।

– पहले मैं केवल नाम के लिए ब्रह्म-पुत्र था, क्योंकि माता-पिता दोनों की ओर से परिशुद्ध औदीच्य ब्राह्मण जाति का था।

सोज्ज पुत्तो सुगतस्स, धम्मराजस्स सत्थुनो॥ (थेरगा० ८८९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– वही मैं आज सुगत धर्मराज शास्ता का पुत्र हूं।

धर्मराज का पुत्र हुआ, तो सही माने में ब्राह्मण हो गया।

अहिंसकोति मे नामं, हिंसकस्स पुरे सतो।

– (जैसे पहले केवल नाम के लिए ब्राह्मण था वैसे ही) केवल मेरा नाम अहिंसक था, पर मैं हिंसा में ही रत रहता था।

अज्जाहं सच्चनामोम्हि, न नं हिंसामि किञ्चनं। (थेरगा० ८७९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– आज मेरा नाम सार्थक हुआ, मैं किसी की भी हत्या नहीं करता।

सचमुच अहिंसक 'अहिंसक' हुआ। किसी की हत्या कैसे कर सके भला, बुद्ध-पुत्र ब्राह्मण जो है। वे दिन गये जब कि वह–

लोहितपाणि पुरे आसिं, अङ्गुलिमालोति विस्सुतो। (थेरगा० ८८१, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– अंगुलिमाल के नाम से कुख्यात था और खूनी हाथों वाला था।

अब तो उसके अपने ही शब्दों में–

सविभत्तेसु धम्मेसु, यं सेट्ठं तदुपागमं। (थेरगा० ८८५, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– सम्यक प्रकार से विभक्त, विभाजित किये हुए धर्मों में मैंने निर्वाण को पा लिया है, जो श्रेष्ठ है।

यानी मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। अब तो वह बुद्धपुत्र हो गया। अतः सही ब्राह्मण हो गया; धर्मविहारी, ब्रह्मविहारी हो गया। द्वेष का नामोनिशान नहीं रह गया उसमें। बुद्ध के मुँह से नया जन्म पाने के पहले गलत रास्ते चलते हुए जिन लोगों के स्वजनों, परिजनों की हत्या की थी, वे उससे दुश्मनी रखते थे, परंतु यह बुद्धपुत्र उनके प्रति करुणा ही बरसाता था।

दिसापि मे धम्मकथं सुणन्तु – मेरे दुश्मन भी धर्मकथा सुनें,

दिसापि मे युञ्जन्तु बुद्धसासने – मेरे दुश्मन भी बुद्ध की शिक्षा के पालन में लग जायँ,

दिसापि मे ते मनुजे भजन्तु, ये धम्ममेवादपयन्ति सन्तो। (थेरगा० ८७४, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– ये दुश्मन भी ऐसे सत्पुरुषों की संगति करें, जिन्होंने धर्म धारण की प्रेरणा दी है।

ऐसे किसी की संगति से ही तो ब्राह्मण अंगुलिमाल सही ब्राह्मण बन सका। उसका उद्धार हुआ। राजा प्रसेनजित उसे मृत्युदंड दिया चाहता था, परंतु किसी अत्याचारी हत्यारे की हत्या कर देने से न उसका उद्धार होता है, न पृथ्वी का भार हल्का होता है। उसकी राक्षसी-वृत्ति को दूर कर उसे सही ब्राह्मण बना देने से ही उस हत्यारे का भी उद्धार होता है और पृथ्वी का भी भार हल्का होता है। धर्म यही करता है। धर्म किसी गिरे हुए को ऊपर उठाता है न कि नीचे गिराता है। किसी गर्हित को अर्हित बनाता है, पूज्य बनाता है। किसी दुष्ट व्यक्ति की राक्षसी-वृत्ति को समाप्त कर उसमें ब्राह्मी-वृत्ति जगाने का काम करता है, तो ही धर्म 'धर्म' होता है। अंगुलिमाल शुद्ध धर्म के संसर्ग में आकर ही गर्हित से अर्हित अवस्था तक पहुँचा। हत्यारे से ब्राह्मण बना। सही माने में ब्राह्मण बना।

अग्गिक भारद्वाज

वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न उक्कट्ठानगर का निवासी था। कठोर तप करते हुए कठिन अग्नि परिचर्या करता था। वह भगवान के संपर्क में आया। उनसे धर्म पा कर विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त की। उसके हर्ष भरे उद्गार देखें –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं – पहले ब्रह्मबंधु था यानी ब्राह्मण कुल का सदस्य था।

इदानि खोम्हि ब्राह्मणो – अब मैं सही माने में ब्राह्मण हूं।

तेविज्जो न्हातको चम्हि – मैं सही माने में त्रैविद्य हूं, स्नातक हूं।

सोत्तियो चम्हि वेदगू – मैं श्रोत्रिय हूं, मैं वेदज्ञ हूं। (थेरगा० २२१, अङ्गणिकभारद्वाजत्थेरगाथा)

शुद्ध धर्म का अनुभव कर पारंपरिक रूढ़ शब्दों का सही अर्थ समझ में आ गया और उन्हें धारण कर कृतार्थ हुआ।

दासी पूर्णा

पूर्णा श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के घर की क्रीतदासी थी। अपने मालिक के माध्यम से भगवान के संपर्क में आयी। अतः धर्म के संपर्क में आयी। निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार कर स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुई। श्रेष्ठि ने उसे मुक्त किया, परंतु फिर भी वह उसकी सेवा करती रही।

एक दिन पानी में डुबकी लगा कर अपने पाप धो लेने की अंधमान्यता मानने वाले एक ब्राह्मण को देख कर उसने उसे सद्धर्म का उपदेश दिया। वह प्रभावित होकर भगवान की शरण गया और शुद्ध धर्म पाकर कृत-कृत्य हुआ। तब उसने हर्ष के ये उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, अज्जम्हि सच्चब्राह्मणो।

– पहले मैं केवल ब्रह्मबंधु था, अब सच्चे अर्थ में ब्राह्मण हुआ हूं।

तेविज्जो वेदसम्पन्नो, सोत्तियो चम्हि न्हातको॥ (थेरीगा० २५१, पुण्णाथेरीगाथा)

– अब मैं तीनों विद्याओं का जानकार हूं। सही माने में वेद-संपन्न, श्रोत्रिय और स्नातक हूं।

रोहिणी पिता

अपनी पुत्री द्वारा प्रेरित किये जाने पर ब्राह्मण रोहिणी-पिता भगवान बुद्ध के संपर्क में आया, उनसे दीक्षित हुआ और विपश्यना-साधना सीख कर उसने अरहंत पद प्राप्त किया। उसने भी इन्हीं शब्दों में अपने उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, सो इदानिम्हि ब्राह्मणो।
तेविज्जो सोत्तियो चम्हि, वेदगू चम्हि न्हातको॥ (थेरीगा० २९१, रोहिनीथेरीगाथा)

सचमुच वह भी सही ब्राह्मण बना और धन्य हुआ।

एक अनुमान

सभी बुद्ध एक समान होते हैं। अतः जैसे गोतम बुद्ध **ब्रह्मभूतो ब्रह्मा** कहलाये और उनके मुख से शुद्ध धर्म सुन कर उनके प्रबुद्ध शिष्य **ब्रह्मुनापुत्ता, मुखतोजाता, ब्रह्मजा** ब्राह्मण कहलाये वैसे ही गोतम बुद्ध के पूर्वकालीन बुद्ध भी **ब्रह्मभूतो ब्रह्मा** कहलाये होंगे और उनके मुख से शुद्ध धर्म सुन कर उनके प्रबुद्ध शिष्य भी **ब्रह्मुनापुत्ता, मुखतोजाता, ब्रह्मजा** ब्राह्मण कहलाये होंगे। यही शब्दावली कालांतर में जातिवादियों के हाथ में पड़ कर अपना सही मौलिक अर्थ खो बैठी होगी और यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि इस बिगड़े हुए अर्थ में यह भी जोड़ दिया गया होगा कि ब्रह्मा की भुजा से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए और इस प्रकार यह मनमानी बात जोड़ कर ऊंच-नीच की जातिवादी वर्ण-व्यवस्था दृढ़ कर ली गयी होगी। इस प्रकार इस धर्मकथन का सही स्वरूप बिगड़ते-बिगड़ते दूषित जातिवाद और वर्णवाद में परिणत हो गया

होगा और उसने अपना सही, मूल अर्थ खोकर यह धर्म विरोधी अर्थ धारण कर लिया होगा जिससे कि व्यक्ति और समाज दोनों की इतनी बड़ी हानि हुई।

एक बुद्ध और दूसरे बुद्ध के बीच बहुत बड़ा अंतराल होता है। इस लंबे समय में बुद्ध की धर्म-वाणी के कुछ एक बोल पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाषाओं में छनते हुए चले आते हैं, परंतु उनका सही अर्थ लुप्त हो जाता है जो कभी-कभी विकृत होकर बड़ा घातक सिद्ध होता है। धर्म का सही अर्थ जाने-समझे बिना व्यक्ति धर्म धारण करने से वंचित तो रह ही जाता है, प्रत्युत धार्मिक न होकर अपने को धार्मिक मान बैठने का मिथ्या दंभ अपने सिर पर चढ़ा लेता है।

सही अर्थ के अनुसार कोई व्यक्ति किसी **ब्रह्मभूतो** ब्राह्मण के मुख से धर्म-वाणी सुन कर स्वयं मुक्त हुआ तो ब्राह्मण बना। परंतु उस व्यक्ति की पीढ़ियां बिना ही मुक्त हुए कैसे ब्राह्मण बन गईं? लोगों को इस घोर अध:पतन से उबारने के लिए तथागत भगवान बुद्ध के हृदय से करुणा की गंगा बही और उन्होंने लोगों को शुद्ध सनातन धर्म का सही अर्थ समझाने का भरसक प्रयत्न किया।

भगवान के जीवन काल की एक घटना –

जातिमद में चूर हो मागण्डिय नामक परिव्राजक ब्राह्मण ने भगवान को अपशब्द कहे। भगवान ने उसे प्यार भरे चित्त से शुद्धधर्म समझाया। वह जैसे-जैसे करुणासिक्त बुद्ध-वाणी सुनता गया, वैसे-वैसे शांत होता गया। धर्म का सार समझाते हुए भगवान ने उसे एक गाथा कही –

आरोग्यपरमा लाभा, निब्बानं परमं सुखं।
अट्ठङ्गिको च मग्गानं, खेमं अमतगामिनं॥ (म० नि० २.२१५, मागण्डियसुत्त)

– आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है। मार्गों में अमृत की ओर ले जाने वाला आठ अंग वाला मार्ग क्षेमपूर्ण है।

पिछले अरहंत सम्यक संबुद्ध और इस अरहंत सम्यक संबुद्ध के बीच के लंबे अंतराल के कारण यह वाणी समाज में छनती हुई चली आयी, परंतु काल-प्रवाह में गाथा की दूसरी पंक्ति लुप्त हो गयी। पहली ज्यों की त्यों कायम रही। भगवान बुद्ध के मुँह से यह गाथा सुन कर ब्राह्मण मागण्डिय उछल पड़ा और बोला –

अच्छरियं, भो गोतम, अब्भुतं भो गोतम – आश्चर्य है, हे गोतम, अद्भुत है, हे गोतम।

यह जो सुभाषित आप गोतम ने कहा है, यह मैंने अपने परिव्राजक आचार्य, प्राचार्य को भी कहते सुना है।

तयिदं, भो गोतम, समेति – यह उससे कितना मेल खाता है। (म० नि० २.२१६, मागण्डियसुत्त)

भगवान ने कहा –

पुब्बकेहेसा, मागण्डिय, अरहन्तेहि सम्मासम्बुद्धेहि गाथा भासिता। (म० नि० २.२१७, मागण्डियसुत्त)

– हे मागण्डिय, पूर्व काल के अरहंत सम्यक संबुद्धों ने यह गाथा कही थी।

सा एतरहि अनुपुब्बेन पुथुज्जनगाथा। (म० नि० २.२१८, मागण्डियसुत्त)

– वह शनैः शनैः पुथुज्जन यानी धर्म से पृथक हुए अनाड़ी संप्रदायवादियों के हाथ पड़ गयी और अब –

अञ्ञतित्थिया परिब्बाजका अन्धा अचक्खुका अजानन्ता आरोग्यं, अपस्सन्ता निब्बानं, अथ च पनिमं गाथं भासन्ति। (म० नि० २.२१७, मागण्डियसुत्त)

– जो संप्रदायवादी परिव्राजक, प्रज्ञाचक्षुविहीन, अंधभूत हैं, वे आरोग्य को बिना जाने ही, निर्वाण को बिना देखे ही, इस गाथा का पाठ करते हैं।

समय के बहाव में इस गाथा का सही अर्थ बह गया। उसे स्पष्ट करने के लिए भगवान ने मागण्डिय से पूछा कि तुम इस गाथा का क्या अर्थ समझते हो?

मागण्डिय ने इसका उत्तर देते हुए अपने शरीर को छूकर कहा –

इदन्तं, भो गोतम, आरोग्यं, इदन्तं निब्बानं।

– यह है, हे गोतम, आरोग्य, यह है निर्वाण।

अहञ्हि, भो गोतम, एतरहि अरोगो सुखी, न मं किञ्चि आबाधति। (म० नि० २.२१६, मागण्डियसुत्त)

– हे गोतम, मैं इस समय अरोगी हूं, सुखी हूं। मुझे कोई व्याधि नहीं है।

शरीर का रोगमुक्त होना ही उसके लिए आरोग्यता है और यह शारीरिक सुख ही उसके लिए निर्वाण सुख है। वह बेचारा क्या जाने कि इस गाथा में शरीर को नहीं बल्कि चित्त को विकार-रूपी रोगों से मुक्त कर लेने को आरोग्य कहा गया है तथा अनित्यधर्मा शरीर और चित्त के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत निर्वाण की उपलब्धि को परम सुख कहा गया है।

जब मानव समाज में चित्त को विकारों से विमुक्त करके निरोगी बना देने वाली प्रज्ञा नष्ट हो गयी, क्योंकि ऐसा कर सकने की विधि नष्ट हो गयी, तो आरोग्य का सही अर्थ भूल कर अज्ञानी लोग उसे शरीर के निरोगी होने के अर्थ में समझने, समझाने लगे। जब मानव समाज चित्त को विकारों से नितांत विमुक्त करके शरीर और चित्त के परे की इंद्रियातीत अवस्था का दर्शन कर सकने की प्रज्ञा खो बैठा, क्योंकि ऐसा कर सकने की विपश्यना विधि खो बैठा, तब निर्वाण के परम सुख को शरीर के व्याधिविहीन होने का सुख मान बैठा।

भगवान गोतम के सम्यक संबुद्ध होने और वर्तमान काल के बीच छब्बीस शताब्दियों का समय ही गुजरा है, परंतु बुद्ध-वाणी के शोधकर्ता इस बात को देखेंगे कि भारत में यह धर्म-वाणी अपने मूल रूप में अवश्य लुप्त हुई, परंतु इसके बोल यहां की सभी परंपराओं के परवर्ती साहित्य में छनते हुए चले आ रहे हैं। बुद्ध-वाणी की गूंज, अनुगूंज सिद्धों और नाथों की बोलियों में से होती हुई कबीर, दादू और नानक आदि संतों की वाणी में समाहित हो गयी। इन शब्दों के अर्थ कहीं-कहीं तो वैसे ही तद्रूप और शुद्ध बने रहे, परंतु अनेक जगह विकृत हुए। कहीं-कहीं इतने विद्रूप हुए कि अर्थ का अनर्थ हो गया। यही अंतराल जब बहुत विशद हो जाता है, तब धर्म-वाणी के कोई-कोई शब्द कायम रहने पर भी उनके अर्थ कभी-कभी बहुत ही बिगड़ जाते हैं।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ कैसे बिगड़ा?

भगवान ने एक बार समझाया कि प्राचीन काल में मानव समाज के सभी लोग शील, सदाचार का जीवन जीते थे। धीरे-धीरे उनका अधःपतन हुआ। चारों ओर अनाचार फैलने लगा, तब समाज के कुछ लोग उस पापमय, अकुशल जीवन से उबरने के लिए कटिबद्ध हुए।

ते पापके अकुसले धम्मे वाहेसुं।

– उन्होंने अकुशल धर्मों को बहा दिया यानी दूर कर दिया।

पाप को बहा दिया, इसीलिए **ब्राह्मण** कहलाये।

ते अरञ्ञायतने पण्णकुटियो करित्वा – वे अरण्य में पर्णकुटी बना कर,

पण्णकुटीसु झायन्ति – पर्णकुटी में ध्यान करते थे।

वीतङ्गारा वीतधूमा पन्नमूसला – वे अंगार, धूआं और मूसल के त्यागी बने।

यानी वे न अनाज कूटने के लिए मूसल रखते थे; न भोजन पकाने के लिए अनाज रखते थे; न उनके यहां चूल्हे का धूआं उठता था।

उनका त्याग, तप देख कर लोगों के मन में स्वभावतः उनके प्रति बड़ी श्रद्धा और आदर का भाव जागा। वे गांव, नगर में जाकर सुबह-शाम लोगों से भोजन मांग लाते थे। फिर ध्यान में ही लग जाते थे।

झायन्तीति खो, वासेट्ठ, 'झायका, झायका'त्वेव दुतियं अक्खरं उपनिब्बत्तं।(दी० नि० ३.१३२, अग्गञ्ञसुत्त)

– हे वासिष्ठ, वे ध्यान करते थे। इसलिए उन (ब्राह्मणों का) दूसरा नाम पड़ा – **झायका** यानी ध्यायक।

परंतु कुछ समय बाद उनमें से बहुतों ने ध्यान करना छोड़ दिया और शिक्षण का काम करने लगे, तब उनका तीसरा नाम पड़ा – **अज्झायका** यानी अ-ध्यायक। उन दिनों अध्यायक शब्द हेय समझा जाता था। समय के फेर से यही श्रेष्ठ समझा जाने लगा। सम्मान के भाव में ऐसा कहा जाने लगा कि – **"अज्झायको मन्तधरो तिण्णं वेदानं पारगू"।** इस प्रकार ध्यान के स्थान पर पांडित्य को महत्त्व दिया जाने लगा।

वस्तुतः ब्राह्मण और ध्यानी ही सही ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त शब्द थे। इसलिए कहा गया –

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
विधूपयं तिट्ठति मारसेनं, सुरियोव ओभासयमन्तलिक्खं॥ (उदा० ३, ततियबोधिसुत्त)

– जब किसी तपस्वी, ध्यानी ब्राह्मण को धर्म प्रकट हो जाते हैं, तब ऐसा व्यक्ति समस्त मार-सेना को परास्त कर तेजस्वी सूर्य की भांति भासमान होता है।

ऐसा व्यक्ति सम्यक संबुद्ध होकर, विद्याचरणसंपन्न होकर, **धम्मभूतो** होकर धर्म बांटता है, तो उसके हृदय से, मुख से निकली हुई धर्म-वाणी अनेकों को सही माने में ब्राह्मण बनाती है। वे उसके **पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, धम्मजा, धम्मनिम्मिता, धम्मदायादा** होते हैं। वे ही सही माने में **ब्रह्मुना पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादा** होते हैं। इसी प्रकार किसी **ब्रह्मभूतो ब्राह्मणो** भगवान बुद्ध ने अनेकों को अरहंत अवस्था तक पहुँचा कर ब्राह्मण बनाया।

चातुर्वर्णी विशुद्धि

ब्राह्मणों की शुद्धि करके केवल उन्हें ही सही ब्राह्मण बनाना बुद्ध मंतव्य नहीं था। अशुद्धि केवल ब्राह्मणों में ही नहीं थी। वह तो सर्वत्र थी। अशुद्धि का अर्थ है चित्त का विकारयुक्त होना और शुद्धि का अर्थ

है चित्त का विकारविमुक्त होना। चित्त-विकार तो सर्वव्यापी हैं। अतः अशुद्धि सर्वव्यापी है और यह न जाने कब से चली आ रही है। इसी कारण भगवान ने कहा –

पुब्बा कोटि न पञ्ञायति अविज्जानीवरणानं सत्तानं तण्हासंयोजनानं सन्धावतं संसरतं।

– अविद्या के आवरण से आच्छादित, तृष्णा के बंधन में बँधे, भव-संसार में दौड़ लगाते हुए, संसरण करते हुए प्राणियों के आदि का पता नहीं लगता है।

अभिक्खणं सकं चित्तं पच्चवेक्खितब्बं।

– प्रतिक्षण अपने चित्त का प्रत्यवेक्षण करते रहना चाहिए

यानी इसे देखते रहना चाहिए। इसके प्रति सतत सजग रहना चाहिए।

दीघरत्तमिदं चित्तं सङ्किलिट्ठं रागेन दोसेन मोहेन।

– चित्त बहुत समय से राग, द्वेष और मोह से मैला हो गया है।

चित्तसङ्किलेसा, भिक्खवे, सत्ता सङ्किलिस्सन्ति।

– भिक्षुओ, चित्त के मैले होने पर प्राणी मैले होते हैं, अशुद्ध होते हैं।

चित्तवोदाना सत्ता विसुज्झन्ति। (सं० नि० २.३.१००, दुतियगद्दुलबद्धसुत्त)

– चित्त की शुद्धि से प्राणी विशुद्ध होते हैं।

चित्त शुद्धि ही विकारविमुक्ति और विकारविमुक्ति ही भवविमुक्ति है। भगवान लोगों को भवविमुक्ति की विद्या बांटने के लिए ही सम्यक संबुद्ध बने थे। वह किसी का पक्षपात कैसे करते भला? यह ठीक है कि समस्त आबादी में ब्राह्मणों की संख्या कम होते हुए भी यह वर्ग समाज का अगुआ था, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वाधिक मात्रा में शिक्षित थे। समाज का यह वर्ग छोटा परंतु अत्यंत बुद्धिशाली था। भगवान की शिक्षा बुद्धिसंगत, न्यायसंगत और युक्तिसंगत थी। अतः भगवान के संपर्क में बुद्धिवादी लोगों का अधिक संख्या में आना स्वाभाविक था। उनमें से अनेक भगवान का विरोध करने आये, उनसे विवाद करने आये। परंतु उनकी बातें न्यायसंगत लगीं और कल्याणकारिणी लगीं, तो भगवान की शिक्षा स्वीकार कर अपनी चित्तविशुद्धि में लग गये। भगवान तो अपनी ओर से सभी को शुद्धि के लिए शिक्षा देते थे। उनकी शिक्षा किसी एक ही वर्ण, एक ही जाति अथवा एक ही गोत्र के लोगों के लिए नहीं थी। इसीलिए उनकी शिक्षा चातुर्वर्णी विशुद्धि की शिक्षा कहलायी।

वस्तुतः समाज की चातुर्वर्णी व्यवस्था ही दूषित हो गयी थी, अधर्म पर आधारित हो गयी थी। अतः उसे पुनः धर्म पर आधारित करना था, लोक कल्याण के लिए उसकी विशुद्धि करनी थी। पुराने समय के आदर्श के अनुसार विशुद्धचित्त व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता था। अशुद्धचित्त व्यक्ति ही शूद्र कहा जाता था। यह धर्म पर आधारित व्यवस्था थी। अतः अत्यंत कल्याणकारिणी थी, परंतु जब से इसमें जातिवाद ने, जन्मवाद ने प्रवेश किया, तब से यह व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भी और समस्त समाज के लिए भी हानिकारक बन गयी। व्यष्टि के लिए भी और समष्टि के लिए भी अमंगलकारिणी हो गयी, क्योंकि धर्मविरोधिनी हो गयी। भगवान को इस बिगड़ी हुई चातुर्वर्णी व्यवस्था की शुद्धि अभीष्ट थी, जिससे समाज के सभी लोग शील, समाधि और प्रज्ञा के धर्ममय विशुद्धिमार्ग की ओर आकर्षित हों और उस पर चल कर अपना कल्याण साध लें। यही उनकी चातुर्वर्णी विशुद्धि थी। कोई समझदार व्यक्ति इसका विरोध कैसे कर

सकता था भला? हम देखते हैं कि जो भगवान के इस शिव संकल्प को समझ लेते थे, वह तत्काल शुद्ध धर्म का रास्ता अपना लेते थे। परंतु जिन्हें जातिवाद से जकड़े हुए समाज में अपने पेट पालने का और अहं पोषण करने का आधार दीखता था, वे इस विशुद्धिकरण से तिलमिला उठते थे। उनके पांव तले की धरती खिसकने लगती थी, परंतु बुद्ध का कथन तर्कसंगत होता था, अतः ऐसे लोग चाहते हुए भी उनसे विवाद नहीं कर पाते थे। इसलिए वे विवाद कर सकने योग्य किसी अन्य बुद्धिशाली व्यक्ति को ढूंढते थे और उसे विवाद करने के लिए प्रेरित करते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग हमारे सामने है –

आश्वलायन

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे। श्रावस्ती में किसी काम से आये हुए पांच सौ ब्राह्मणों ने सुना कि भगवान चातुर्वर्णी शुद्धि का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा, क्योंकि इससे जाति पर आधारित वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात होता था। वे इस विषय पर भगवान से विवाद स्थापित किया चाहते थे, परंतु स्वयं विवाद कर सकने में असमर्थ थे। अतः वे श्रावस्ती के एक विद्वान युवा ब्राह्मण आश्वलायन के पास गये जो कि वैदिक साहित्य का प्रसिद्ध पंडित था। उन्होंने उसे भगवान से विवाद करने के लिए प्रेरित किया। परंतु आश्वलायन ने उत्तर दिया –

समणो खलु, भो, गोतमो धम्मवादी।

– श्रमण गोतम धर्मवादी हैं यानी वे धर्म की ही बात कहते हैं।

धम्मवादिनो च पन दुप्पटिमन्तिया।

– जो धर्मवादी हैं, उनसे विवाद करना कठिन है।

नाहं सक्कोमि समणेन गोतमेन सद्धिं अस्मिं वचने पटिमन्तेतुं। (म० नि० २.४०१, अस्सलायनसुत्त)

– मैं इस विषय में श्रमण गोतम से विवाद करने में असमर्थ हूं।

परंतु ब्राह्मणों का बहुत दबाव भरा आग्रह था। इसलिए आश्वलायन भगवान से विवाद करने गया। भगवान से उसका जो कथा-संलाप हुआ, उससे यह सिद्ध हो गया कि जहां तक सत्कर्म और दुष्कर्म के परिणामस्वरूप सत्फल और दुष्फल भोगने का तथा सद्गति या दुर्गति पाने का प्रश्न है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – चारों समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। प्रकृति उनमें कोई भेद नहीं करती। इन युक्तियों से आश्वलायन हतप्रभ हुआ। वह –

तुण्हीभूतो मङ्कुभूतो पत्तक्खन्धो अधोमुखो पज्झायन्तो अप्पटिभानो निसीदि।

(म० नि० २.४०९, अस्सलायनसुत्त)

– मौन हो, घबड़ाया हुआ, कंधा झुकाए, सिर नीचा किये, उदास, परास्त, अप्रतिम हो बैठा रह गया।

जहां शुद्ध धर्म की बात होगी, वहां कोई क्या विवाद करेगा भला? किन्हीं के दबाव से विवाद करने चला तो गया, पर शुद्ध धर्म का सामना हुआ तो मूक हो गया।

प्रसेनजित

चातुर्वर्णी विशुद्धि पर कोशलनरेश प्रसेनजित भी भगवान से प्रश्न करने गया। तब भगवान ने यही बात कही कि सांसारिक लोकाचार में ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो भले सम्माननीय और पूजनीय माने जाते हों, इस क्षेत्र में वे भले अन्य दो से आगे माने जाते हों, परंतु धर्म के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। कर्म और कर्मफल चारों वर्णों के समान होते हैं। उनमें न कोई भेद-प्रभेद होता है, न विभिन्नता होती है। इस वार्त्तालाप से प्रसेनजित अत्यंत प्रसन्न हुआ और बोला –

चातुवण्णिसुद्धिं भगवा ब्याकासि – भगवान ने चातुर्वर्णी शुद्धि बतलायी।

तञ्च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च – वह हमें रुचिकर लगी, पसंद आयी।

तेन चम्हा अत्तमना – उससे हम संतुष्ट हुए, प्रसन्न हुए। (म० नि० २.३८२, कण्णकत्थलसुत्त)

चातुर्वर्णी शुद्धि की यह व्याख्या हर समझदार व्यक्ति को रुचती ही थी, भाती ही थी। इस व्याख्या में धर्म की सच्चाई का आधार था, किसी परंपरागत मान्यता का अंधविश्वास नहीं था। इसमें चारों वर्णों के प्रति भगवान की करुणा उमड़ती थी। कहीं किसी संप्रदाय-संस्थापक की स्वार्थांधता की गंध तक नहीं थी। भगवान जीवन भर सारे मानव समाज की भलाई के लिए चारों वर्णों की विशुद्धि में लगे रहे।

पंचवर्गीय भिक्षु

सम्यक संबोधि प्राप्त कर उन्होंने पहला उपदेश अपने पांच संगी-साथियों को दिया। ये पांचों शाक्य प्रदेश से आये हुए ब्राह्मण थे। इनका नेता था कौंडन्य, जो कि उन आठ ब्राह्मण ज्योतिषियों में से एक था, जिन्होंने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गोतम के जन्म पर उसके शरीर लक्षण देख कर भविष्यवाणी की थी। उनमें से सात ने कहा था कि यदि यह गृही रहा, तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृहत्यागी हुआ, तो खुला-कपाट सम्यक संबुद्ध होगा। लेकिन यह कौंडन्य ही था, जिसने दावे के साथ कहा था कि यह गृहत्यागी होगा और सम्यक संबुद्ध बनेगा।

कौंडन्य उनतीस वर्षों तक धीरजपूर्वक प्रतीक्षा करता रहा। जब उसने देखा कि राजकुमार सिद्धार्थ ने सत्य की खोज में गृह त्याग दिया है तब उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे अपने वैदिक ज्योतिष पर पूरा भरोसा था। उसे विश्वास था कि यह व्यक्ति अवश्य सम्यक संबोधि प्राप्त कर महती लोकसेवा करेगा। लोगों के लिए भवमुक्ति का सही मार्ग आख्यात करेगा। इसके संसर्ग में रहूंगा तो मेरे लिए भी मुक्ति का मार्ग सुलभ हो जाएगा।

राजकुमार के घर त्यागने के बाद कौंडन्य भी अपने चार अन्य साथियों सहित योगी राजकुमार को खोजता हुआ उरुवेल आ पहुँचा। बोधिसत्त्व की छः वर्षों की दुष्कर तपश्चर्या में ये पांचों ब्राह्मण उसके साथ रहे। जब तरुण तपस्वी सिद्धार्थ ने कायदंडन की साधना को निरर्थक और निष्फल देख कर त्याग दिया और आहार ग्रहण करना आरंभ कर दिया तो ये पांचों उसे तपभ्रष्ट मान, निराश होकर ऋषिपत्तन मृगदाय चले गये। सम्यक संबोधि प्राप्त कर तथागत ने ब्रह्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए इन पांचों को ही योग्य पात्र समझा। भगवान की विद्या यानी प्रज्ञा और चरण यानी करुणा का सबसे पहला लाभ इन पांच ब्राह्मणों को मिला।

प्रथम उपदेश सुनते-सुनते कौंडन्य के भीतर विरज, विमल धर्मचक्षु खुले। उसने अपने भीतर नाम-रूप के पांच स्कंधों का और उनके उदय-व्यय का अनुभव किया। यह अनुभव करते-करते उसे निरोध अवस्था प्राप्त हुई। निर्वाण का साक्षात्कार हुआ और इस अनुभूति पर उसके भीतर यह परम सत्य जागा –

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मं।

– (रूप और नाम के क्षेत्र में) जो कुछ समुदय स्वभाव वाला है, वह निरोध स्वभाव वाला भी है।

तथागत के बाद ब्राह्मण कौंडन्य ही प्रथम व्यक्ति था, जिसने निर्वाण का साक्षात्कार किया और भगवान के शिष्यों में पहला स्रोतापन्न बना। भगवान ने भी प्रसन्नता भरे उद्गार प्रकट किये –

अञ्ञासि वत, भो कोण्डञ्ञो, अञ्ञासि वत भो कोण्डञ्ञो। (महाव० १६, १७, पञ्चवग्गियकथा)

– सचमुच कौंडन्य ने परम सत्य जान लिया है, सचमुच कौंडन्य ने परम सत्य जान लिया है।

पांच दिन बीतते-बीतते पांचों के पांचों ब्राह्मण परम विमुक्त अरहंत अवस्था तक पहुँच गये। परम विमुक्त हुए, तो परम विशुद्ध हुए। ब्राह्मण कुलों में जन्मे हुए पांच व्यक्तियों की विशुद्धि हुई। यह पहली ब्राह्मणवर्णी विशुद्धि थी।

यश और उसके मित्र

तत्पश्चात बोधिसत्त्व को खीर का भोजन दान देने वाली सुजाता और उसके परिवार का भाग्य जागा। वह अपने परिवार सहित वाराणसी में रहती थी। पति व्यापारी था। बहुत धनाढ्य था। इकलौते पुत्र यश को सुख-सुविधा और आमोद-प्रमोद की सारी सहूलियतें उपलब्ध थीं, पर वह बेचैन था। अपार धन-संपदा उसे मानसिक शांति नहीं दे पाती थी। एक रात वह व्याकुल चित्त हो अपने घर से चल पड़ा और मृगदाय वन की ओर आ निकला। उस विकल अवस्था में उसके मुँह से यह दुःख भरे बोल निकल पड़े –

उपद्दुतं वत, भो, उपस्सट्ठं – हाय (मैं) संतप्त, हाय (मैं) पीड़ित।

भगवान मानो उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उत्तर में आवाज लगायी –

इदं खो, यस, अनुपद्दुतं, इदं अनुपस्सट्ठं – यश, आओ, यहां न संताप है न पीड़ा।

(महाव० २६, पब्बज्जाकथा)

तथागत की वाणी में करुणा-भरा आह्वान था। वह भगवान की ओर खिंचा हुआ चला आया। वहां सचमुच उसका संताप दूर हुआ। पीड़ा दूर हुई। उसने निर्वाण का साक्षात्कार किया और स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की। उसके पीछे-पीछे उसका व्याकुल पिता उसे खोजता हुआ आया। भगवान के उपदेश से उसे भी शांति मिली। वह भी स्रोतापन्न हुआ। जब पिता स्रोतापन्न अवस्था पर पहुँचा, तब पास बैठा हुआ पुत्र ध्यान करते-करते अरहंत अवस्था तक जा पहुँचा। संसार में यह पहला व्यक्ति था, जो गृहस्थ वेश में ही अरहंत हुआ। दूसरे दिन उसे भगवान के हाथों प्रव्रज्या मिली। यश के पिता के आमंत्रण पर दोनों उसके घर भोजन के लिए गये। वहां यश की माता सुजाता और उसकी पूर्व भार्या भी भगवान के उपदेश सुनते-सुनते स्रोतापन्न हुयीं। यों सुजाता के सारे परिवार को आर्य बना कर मानो भगवान ने उसकी खीर का कर्ज चुकाया। यश के माता-पिता और पूर्वपत्नी भगवान के प्रथम गृहस्थ शिष्य हुए। यश की प्रव्रज्या और धर्म-लाभ की चर्चा लोगों

में फैली। वाराणसी और उसके आस-पास रहने वाले उसके चौवन स्नेही मित्र भगवान की शरण आ आये और सभी प्रव्रजित होकर अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

वैश्य वर्ण के लोगों की शुद्धि का यह श्रीगणेश हुआ।

धर्मचारिका

ब्राह्मण समाज से आये हुए पांच पंचवर्गीय भिक्षु और वैश्य समाज से आये पचपन भिक्षु यों साठों अरहंतों को धर्म-दूत बना कर **चरथ भिक्खवे चारिकं** का आदेश देकर भगवान ने उन्हें दिशाओं, अनुदिशाओं में भेजा। सभी अनुकंपाभरे चित्त से **बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय** चातुर्वर्णी शुद्धि में लग गये।

भद्रवर्गीय कुमार

भगवान स्वयं उरुवेल की ओर निकल पड़े। राह में कुछ देर के लिए वे वनखंड में एक वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठे। वहां तीस भद्र-वर्गीय कुमार भगवान से मिले। वे उस वेश्या की खोज कर रहे थे, जो उन्हें शराब के नशे में चूर कर उनके बहुमूल्य वस्त्राभूषण लेकर चंपत हो गयी थी। उन्होंने भगवान से पूछा – "भंते, क्या आपने इस ओर किसी स्त्री को जाते हुए देखा?" भगवान ने प्रतिप्रश्न किया –

तं किं मञ्ञथ वो, कुमारा, कतमं नु खो तुम्हाकं वरं, यं वा तुम्हे इत्थिं गवेसेय्याथ, यं वा अत्तानं गवेसेय्याथाति।

– हे कुमारो, तुम्हारे लिए क्या उत्तम है, उस स्त्री को ढूंढना या अपने आपको ढूंढना?

उन्होंने कहा –

एतदेव, भन्ते, अम्हाकं वरं, यं मयं अत्तानं गवेसेय्याम। (महाव० ३६, भद्दवग्गियवत्थु)

– भंते, अपने आपको ढूंढना ही हमारे लिए अधिक उत्तम है।

भगवान ने उन्हें अपने आपको जानने की विपश्यना विद्या सिखायी, जिससे वे भवमुक्त हुए।

यह उनकी चातुर्वर्णी शुद्धि का एक और मोड़ था। ये तीसों कुमार क्षत्रिय समाज से आये थे। अतः इससे क्षत्रियवर्ण की शुद्धि का प्रारंभ हुआ।

काश्यप बंधु

उरुवेल पहुँच कर उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप इन तीन ब्रह्म-बंधुओं के साथ निरर्थक कर्मकांडों में उलझे हुए उनके एक हजार जटाधारी ब्राह्मण परिव्राजकों को मुक्ति का मार्ग दिखा कर ब्राह्मणवर्णी विशुद्धि को आगे बढ़ाते हुए भगवान काश्यप मंडली के साथ राजगृह पहुँचे। वहां राजा बिंबिसार सहित नगर के सभी वर्णों के लोग धर्ममयी विशुद्धि से लाभान्वित हुए।

शूद्रातिशूद्रों की विशुद्धि, विमुक्ति

जन्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था से सारा समाज व्याधिग्रस्त था। शूद्र के नाम से पुकारा जाने वाला एक बड़ा भाग अत्यंत दीन-हीन अवस्था में जीने के लिए मजबूर कर दिया गया था। मेहनत, मजदूरी करने वाले, जैसे कुम्हार आदि कर्मकार जो शूद्र माने जाते थे, नीच कुल के थे। उनके लिए उच्चवर्ण वालों का स्पर्श भी वर्जित था।

यह दूषित व्यवस्था सदियों पहले से चली आ रही थी। एक ब्राह्मण और एक शूद्र मित्र होने पर भी परस्पर स्पर्श नहीं करते थे। पूर्वकाल की एक घटना हमारे सामने है।

ब्राह्मण माणवक ज्योतिपाल और शूद्र कुम्हार घटीकार मित्र थे। दोनों किसी नदी में नहाने गये। नहाने के पश्चात कुम्हार ने ब्राह्मण माणवक के कमर में पहने कपड़े को पकड़ कर समीप के एक विहार में चलने के लिए आग्रह किया। माणवक को यह अच्छा नहीं लगा। उसने अपना –

ओवट्टिकं विनिवट्टेत्वा – कपड़ा छुड़ा कर

कहा – नहीं।

मित्र कुम्हार उसे उस पवित्र विहार में ले जाना चाहता था जहां उसे शुद्ध धर्म सुनने को मिले और उसका कल्याण हो। अतः उसने पुनः आग्रहपूर्वक, प्यार से –

जोतिपालं माणवं सीसंन्हातं केसेसु परामसित्वा

– नहाये हुए ज्योतिपाल माणवक के सिर के बालों पर हाथ फेर कर थपथपाते हुए –

चलने का आग्रह किया।

तब ज्योतिपाल के मन में यह चिंतन जागा –

अच्छरियं वत भो, अब्भुतं वत भो – अरे, आश्चर्य है, अद्भुत है,

यत्र हि नामायं घटिकारो कुम्भकारो – जो यह घटिकार कुम्हार है,

इत्तरजच्चो समानो – इतर जाति का याने नीच जाति का होते हुए भी

अम्हाकं सीसंन्हातानं केसेसु – मेरे सिर से नहाये हुए केशों को

परामसितब्बं मञ्ञिस्सति – स्पर्श करके ऐसा चाह रहा है, (म० नि० २.२८४, घटिकारसुत्त)

तो उसके इस आग्रह में अवश्य कोई सार होगा।

स्पष्ट है कि नहा-धोकर स्वच्छ हुआ एक शूद्र यदि मित्र हो तो भी किसी ब्राह्मण के कपड़ों को और शरीर को छूने की धृष्टता नहीं कर सकता था।

यह अवस्था थी शूद्रों की। पर समाज में जो शूद्रातिशूद्र थे, अंत्यज थे, जैसे कि कोई मातंग हो, निषाद हो, पुक्कुस हो, वृषल हो, श्वपच हो, चांडाल हो, भंगी हो, चमार हो, उनकी तो और भी अधिक दुरवस्था थी। किसी सवर्ण द्वारा उसे छूआ जाना तो दूर, देखा जाना तक बुरा माना जाता था।

हमारे सामने एक दृश्य आता है। सारिपुत्त ने किसी प्रसंग में अपनी सफाई देते हुए एक ऐसा उदाहरण दिया जिससे उन अंत्यजों की बुरी अवस्था का चित्र हमारे सामने उभरता है। उन्होंने कहा–

सेय्यथापि भन्ते – भंते, जैसे

चण्डालकुमारको वा चण्डालकुमारिका वा – कोई चांडाल कुमार हो अथवा चांडाल कुमारी हो।

कळोपिहत्थो – जिसके हाथ में गंदगी ढोने या उठाने की टोकरी हो,

नन्तकवासी – जो अर्धनग्न हो याने जिसके पास शरीर ढकने के लिए पूरे वस्त्र भी न हों,

जब वे किसी सेवा कार्य के लिए–

गामं वा निगमं वा पविसन्तो – गांव या नगर में प्रवेश करते हैं, (अर्थात वे आज की ही भांति गांव, नगर के बाहर रहते हैं) तो–

नीचचित्तंयेव उपट्ठपेत्वा पविसति – हीन ग्रंथि से ग्रसित चित्त लिए हुए ही प्रवेश करते हैं।

(अ० नि० ३.९.११, सीहनादसुत्त)

अर्थात इस आशंका से सहमे हुए, भयभीत हुए-से प्रवेश करते हैं कि उनसे कोई भूल न हो जाय, वे गलती से किसी को छू न लें, उन्हें कोई सवर्ण व्यक्ति देख तक न ले और उन्हें दुत्कार न दे, फटकार न दे।

इस प्रकार जो समाज की प्रमुख धारा से पूरी तरह कटे हुए अत्यंत दीन-हीन, दलित-दमित, पीड़ित-संतापित, भयग्रस्त-संत्रस्त शूद्रातिशूद्र थे, उनकी विशुद्धि, विमुक्ति के लिए, उनके उत्थान के लिए भी भगवान प्रयत्नशील हुए।

सोपाक

सोपाक नाम का चांडाल पुत्र चार माह की अवस्था में ही अनाथ हो गया। पिता चल बसा। चाचा ने बड़े बेमन से उसे पाला। गरीबी के कारण बालक उसके लिए बोझ-स्वरूप था। चाचा बड़े क्रुद्ध स्वभाव का था। इस अनाथ बच्चे के कारण उसका चिड़चिड़ापन बढ़ता चला गया। सोपाक जब सात वर्ष का हुआ, तो किसी एक अप्रिय घटना को लेकर चाचा उसे श्मशान ले गया और एक मुर्दे शव के साथ निर्दयतापूर्वक बांध दिया, ताकि मुर्दे को खाते हुए सियार उसे भी चीर-फाड़ कर खा जायँ। बच्चे के करुण-क्रंदन का उस पाषाण-हृदय पर कोई असर नहीं हुआ। परंतु भगवान ने यह घटना देखी, तो करुणा-विगलित होकर सोपाक को छुड़ा कर विहार में ले आये। वहीं उसकी प्रव्रज्या और फिर उपसंपदा हुई। आगे चल कर सोपाक विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत हुए। उस समय के उनके उद्गार हैं–

जातिया सत्तवस्सोहं, लद्धान उपसम्पदं – जीवन के सातवें वर्ष में मुझे उपसंपदा मिली।

धारेमि अन्तिमं देहं,

– आज मैं जीवन्मुक्त हूं, क्योंकि यह मेरा अंतिम शरीर है। अब पुनर्जन्म होने वाला नहीं है।

अरहंत सोपाक की वाणी में प्रसन्नता और कृतज्ञता झलक पड़ी जब उन्होंने कहा–

अहो धम्मसुधम्मता – अहो! धर्म की सुधर्मता तो देखो! (थेरगा० ४८६, सोपाकत्थेरगाथा)

यहीं राजगृह में एक और महत्वपूर्ण घटना घटी।

सुनीत

राजगृह का सुनीत नामक भंगी भगवान के संपर्क में आया। प्रातःकाल भगवान भिक्षु संघ के साथ भिक्षा के लिए निकले थे। सुनीत सड़क पर झाड़ू लगा रहा था। भगवान को आते देख झाड़ू छोड़, हाथ जोड़ कर एक ओर खड़ा हो गया। उस पर भगवान की करुण-दृष्टि पड़ी। पूर्व जन्मों का संचित पुण्य था। अतः सुनीत भगवान द्वारा प्रव्रजित हुआ। साधना की विधि सीख कर वह एकांत में जाकर ध्यान भावना में लग गया। समय पर उसने अरहंत अवस्था प्राप्त की।

मुक्ति के हर्ष में अरहंत सुनीत ने यह उदान यानी हर्षोद्गार प्रकट किये –

नीचे कुलम्हि जातोहं, दलिद्दो अप्पभोजनो। (थेरगा० ६२०, सुनीतत्थेरगाथा)

– मैं भूखा, गरीब, नीच कुल में जन्मा,

भूखे और दरिद्र सुनीत की भगवान ने धर्म विशुद्धि की, तो वे ब्राह्मण हो गये, उच्च हो गये, वरेण्य हो गये। रात्रि के प्रथम याम में उन्हें पूर्व जन्मों की स्मृति का ज्ञान हुआ; मध्य रात्रि में दिव्य चक्षु प्राप्त हुए और रात बीतते-बीतते अविद्या का अंधकार विदीर्ण हुआ, अनेक जन्मों के आस्रव क्षय हुए। यह देख कर उन्होंने कहा –

इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा, मं नमस्सिंसु पञ्जली। (थेरगा० ६२८, सुनीतत्थेरगाथा)

– देवराज इंद्र और ब्रह्मा ने आकर अंजलिबद्ध हो मेरी वंदना की –

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम। (थेरगा० ६२९, सुनीतत्थेरगाथा)

– तुम्हें नमस्कार है, हे श्रेष्ठ पुरुष, तुम्हें नमस्कार है, हे उत्तम पुरुष।

शास्ता ने उन्हें यों देवमंडली से घिरे हुए देखा, तो मुस्करा कर कहा –

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च – तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम से और दम से –

एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं – इनसे ब्राह्मण होता है। यही ब्राह्मण उत्तम है।

(थेरगा० ६३१, सुनीतत्थेरगाथा)

सचमुच यही उत्तम ब्राह्मण है।

चातुर्वर्णी विशुद्धि की यह पराकाष्ठा थी। धन्य हुई भगवान की चातुर्वर्णी विशुद्धि। समाज के सबसे अधिक दलित, पीड़ित और अभिशप्त लोग जन्म से मृत्यु तक **दलिद्दो अप्पभोजनो** ही बने रहने के लिए मजबूर कर दिये गये थे। उच्च वर्ण के लोगों की निम्न से निम्न सेवा करते हुए भी उन्हें बदले में अपमान, दुत्कार और दुःख-दैन्य ही मिलता था। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आ रहा था। इस तरह उदासी, निराशा और कुंठा का जीवन जीने वालों को धर्म ने हीनभावना से बाहर निकलने का रास्ता बताया।

इस प्रकार चातुर्वर्णी विशुद्धि का काम शुरू हुआ और दिनों-दिन आगे बढ़ने लगा। धर्म का सार्वजनीन स्वरूप लोगों की समझ में आने लगा और उन्हें आकर्षित करने लगा।

सभी नरोत्तम

जो धर्म को जान जायँ यानी धारण कर लें, वे स्वतः नरोत्तम बन जाते हैं।

हीनजच्चोपि चे होति, उट्ठाता धितिमा नरो।
आचारसीलसम्पन्नो, निसे अग्गीव भासति॥ (जा० १.१५.१५७, चूळहंसजातक)

– हीन परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी यदि उद्योगी है, धृतिमान है, आचारसंपन्न है, शील-संपन्न है, तो वह ऐसे प्रकाशमान होता है, जैसे अंधेरी रात में अग्निपुंज।

लोगों को यह खूब समझ में आने लगा कि प्रधानता गुणों की है; जाति, जन्म की नहीं।

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा, सुद्दा चण्डालपुक्कुसा।
यम्हा धम्मं विजानेय्य, सो हि तस्स नरुत्तमो॥ (जा० १.१३.८, अम्बजातक)

– चाहे वह क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, चाहे वैश्य हो या शूद्र, चांडाल या अंत्यज; जिस किसी से भी धर्म का सही स्वरूप समझा जा सके, वही उत्तम पुरुष है।

ऐसा व्यक्ति वंदनीय है, वरेण्य है, पूजनीय है, प्रणम्य है।

धर्म के इस शुद्ध, सार्वजनीन स्वरूप को स्वीकार कर लेने में ही सबका कल्याण निहित है। धर्म वह जो कुदरत का कानून है, जो सब पर एक जैसा लागू होता है, जो किसी का पक्षपात नहीं करता।

सब्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो।

– सभी वर्ण के लोग यदि अधर्मिष्ठ होते हैं यानी पापाचारी होते हैं, तो नरक में ही गिरते हैं।

सब्बे वण्णा विसुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तमं। (जा० २.२२.४३९, निमिजातक)

– और सभी वर्ण के लोग धर्म का आचरण करके विशुद्ध हो जाते हैं, विमुक्त हो जाते हैं।

धारण किया धर्म हर किसी व्यक्ति को विशुद्ध कर देता है, विमुक्त कर देता है। तभी कहा गया –

कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥ (सं० नि० १.१.४८, जेतवनसुत्त)

– कर्म से, विद्या से, धर्म से, शील से और उत्तम जीवन से ही मर्त्य मानव विशुद्ध होता है, विमुक्त होता है; न कि गोत्र से अथवा धन से।

शुद्ध सार्वजनीन धर्म बहुत स्पष्ट था। इसी कारण सभी वर्णों और गोत्रों के अनेक लोगों ने, धनियों ने, निर्धनों ने – सभी ने इसे अपनाया। फिर भी कुछ लोग ऐसे थे ही –

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो। (सु० नि० १०४, पराभवसुत्त)

– जो (लोग) जाति, धन या गोत्र के नशे में चूर थे।

प्रकृति का यह सामान्य नियम उनकी समझ में नहीं आया। जिनकी समझ में आया, वे शीघ्र धर्म के मार्ग पर चल पड़े। पंचवर्गीय भिक्षुओं के तथा काश्यप बंधुओं के अतिरिक्त ब्राह्मण मूल के सारिपुत्त, महामोग्गल्लान तथा महाकाश्यप जैसे मेधावी लोग शीघ्र धर्म की गंगा में डुबकी लगा कर निहाल हुए और भगवान के प्रमुख शिष्य हुए। तदनंतर ब्राह्मण वर्ग के लोग बहुत बड़ी संख्या में उनकी शरण में आने लगे।

उपालि

क्षत्रियों में भी जाति-गर्व कम नहीं था। सूर्यवंशीय इक्ष्वाकु कुल के शाक्य और कोलिय क्षत्रियों में यह जात्यभिमान कूट-कूट कर भरा पड़ा था। परंतु भगवान की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब भद्दिय, अनिरुद्ध, आनंद, भृगु, किम्मिल और देवदत्त – ये छः शाक्य राजकुमार अपने नाई उपालि के साथ प्रव्रजित होने के लिए भगवान की शरण आये, तो उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि पहले उपालि नाई को प्रव्रज्या दी जाय। यह इसलिए कि प्रव्रज्या में अग्र होने के कारण शाक्य कुमारों को उसे नमन करना पड़ेगा और इससे उनका अहंकार टूटेगा। धन्य है भगवान की चातुर्वर्णी शुद्धि की शिक्षा जो जाति के गहरे नशे में डूबे हुए शाक्यकुमारों का अभिमान तोड़ने में सहायक हुई।

विरोध भी हुआ

परंतु कई लोगों को इस चातुर्वर्णी शुद्धि की महत्ता स्वीकार करने में कठिनाई हुई। यदि सचमुच कर्मों के आधार पर वर्णों की अवस्थिति मान ली जाय तो उन्हें बड़ी चोट लगती थी। शुद्ध धर्म की चर्चा भले कोई चाहे कितनी करे, लेकिन लौकिक व्यवहार क्षेत्र में तो ब्राह्मण और क्षत्रिय ही पूज्य थे, वरेण्य थे। चाहे वे शील-गुणहीन ही क्यों न हों। और शूद्र अनादर के ही पात्र थे, चाहे वे शील, गुण और ज्ञान प्रवीण क्यों न हों। अतः ऐसे स्वार्थांध लोगों को सुधारने के लिए भगवान को अथक परिश्रम करना पड़ा। धर्म से पथभ्रष्ट हुए ऐसे लोगों पर उनकी विशेष करुणा उमड़ी।

मिथ्या जाति अभिमान

तत्कालीन भारतीय समाज में ब्राह्मण वर्ण के अनेक लोगों में जातिगत अभिमान चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। अन्य वर्णों के प्रति उनका व्यवहार केवल अनुदार ही नहीं, बल्कि उद्दंड और अभद्र भी था। इसका स्पष्ट उदाहरण हम ब्राह्मण माणवक अंबष्ठ द्वारा भगवान बुद्ध के प्रति प्रदर्शित अशिष्ट व्यवहार में देखते हैं।

अंबष्ठ माणवक

भगवान भिक्षु संघ के साथ कोशल देश की चारिका करते हुए इच्छानंगल नामक ब्राह्मणग्राम में पहुँचे और इच्छानंगल वनखंड में टिके। इच्छानंगल के प्रमुख ब्राह्मण पुष्करसाति ने जब यह सुना कि बत्तीस महापुरुष लक्षणों से परिपूर्ण भगवान बुद्ध उसके प्रदेश में पधारे हैं, तो उसने अपने युवा शिष्य अंबष्ठ माणवक को भगवान के पास यह देखने के लिए भेजा कि जैसी उनकी कीर्ति फैली है, क्या –

यदि वा सो भवं गोतमो तादिसो, यदि वा न तादिसो। – वह गोतम वैसे ही हैं अथवा नहीं।

इसे भली प्रकार जांचो,

तथा मयं तं भवन्तं गोतमं वेदिस्साम – जिससे कि गोतम जैसे हैं, हम उन्हें वैसे जानें।

(दी० नि० १.२५७, अम्बट्ठसुत्त)

जांचने वाले का अहं भाव लेकर अंबष्ठ वहां पहुँचा जहां भगवान ठहरे थे। भगवान अपनी कुटी में एकांतवासी थे। अंबष्ठ ने उनकी कुटी का कुंडा खटखटाया। भगवान ने दरवाजा खोल दिया। वह भगवान से वार्त्तालाप करने लगा। जब भगवान बैठे हों तब खड़े-खड़े और जब भगवान खड़े हों, तब बैठे-बैठे प्रश्न करने लगा।

भगवान ने उसे सामान्य शिष्टाचार याद दिलाते हुए पूछा – हे अंबष्ठ, क्या वृद्ध आचार्य, प्राचार्य ब्राह्मणों के साथ तुम्हारा ऐसा ही कथा-संलाप होता है, जैसा कि तुम इस समय मुझसे कर रहे हो?

अंबष्ठ ने कहा – नहीं, हे गोतम, चलते ब्राह्मण के साथ चलते हुए, बैठे हुए के साथ बैठे हुए, खड़े के साथ खड़े हुए और लेटे के साथ लेटे हुए ही बातचीत करनी चाहिए। परंतु –

ये च खो ते, भो गोतम, मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा,

– हे गोतम, जो मथमुंडे श्रमण हैं, जो इब्भ हैं यानी नीच हैं, काले हैं, ब्रह्मा के पैर से उपजे हैं,

तेहिपि मे सद्धिं एवं कथासल्लापो होति – उनके साथ मेरा ऐसा ही कथा-संलाप होता है,

यथरिव भोता गोतमेन – जैसे कि आप गोतम के साथ हो रहा है। (दी० नि० १.२६३, अम्बट्ठसुत्त)

यह सुन कर भगवान ने कहा कि जिस काम के लिए तुम आये हो, उसी पर ध्यान दो तो अच्छा हो, क्योंकि शिष्टाचार-संबंधी तुम्हारी शिक्षा अधूरी है।

यह सुन कर अंबष्ठ बहुत तिलमिलाया,

कुपितो अनत्तमनो – कुपित हुआ, अप्रसन्न हुआ।

भगवन्तंयेव खुंसेन्तो – भगवान को ही नीचा दिखाते हुए,

भगवन्तंयेव वम्भेन्तो – भगवान के प्रति ही घृणा प्रकट करते हुए,

भगवन्तंयेव उपवदमानो – भगवान को ही अपशब्द द्वारा अपमानित करते हुए,

समणो च मे, भो, गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गोतम मेरे लिए पापी है, दुष्ट है,

यों सोचते हुए और अपना क्रोध समस्त शाक्य जाति पर निकालते हुए बोला –

चण्डा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गोतम, शाक्य जाति चंड है;

फरुसा, भो गोतम, सक्यजाति – शाक्य जाति कठोरभाषी है;

लहुसा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गोतम, शाक्य जाति ओछी है, क्षुद्र है;

भस्सा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गोतम, शाक्य जाति बकवास करने वाली है;

इब्भा सन्ता इब्भा समाना – शाक्य नीच और निकृष्ट होते हुए भी,

न ब्राह्मणे सक्करोन्ति, न ब्राह्मणे गरुं करोन्ति, न ब्राह्मणे मानेन्ति, न ब्राह्मणे पूजेन्ति, न ब्राह्मणे अपचायन्ति।

– वे न ब्राह्मणों का सत्कार करते हैं, न उनका गुरुकार करते हैं, न उनका सम्मान करते हैं, न उन्हें पूजते हैं, न उनका आदर करते हैं।

तयिदं, भो गोतम, नच्छन्नं, तयिदं नप्पतिरूपं, यदिमे सक्या इब्भा सन्ता इब्भा समाना न ब्राह्मणे सक्करोन्ति...। (दी० नि० १.२६४, अम्बट्ठसुत्त)

– सो हे गोतम, यह न उचित है, न योग्य है कि ये शाक्य नीच और निकृष्ट होते हुए भी ब्राह्मणों का आदर सत्कार न करें...।

ब्राह्मण ही महान है, इस अंधमान्यता के नशे में वह इतना चूर था कि उद्दंडतापूर्वक बोला –

चत्तारोमे, भो गोतम, वण्णा – खत्तिया, ब्राह्मणा, वेस्सा, सुद्दा।

– हे गोतम, वर्ण चार होते हैं – क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र।

इमेसं हि, भो गोतम, चतुन्नं वण्णानं तयो वण्णा – खत्तिया च वेस्सा च सुद्दा च – अञ्ञदत्थु ब्राह्मणस्सेव परिचारका सम्पज्जन्ति। (दी० नि० १.२६६, अम्बट्ठसुत्त)

– हे गोतम, इन चार वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – ये तीनों वर्ण निश्चित रूप से ब्राह्मण की सेवा परिचर्या के लिए ही हैं।

वर्णवादियों की यह दूषित, मिथ्या मान्यता लोगों के मन में गहराई से घर कर गयी थी। विशेषकर ब्राह्मणों के उस एक नासमझ समुदाय में, जो इस मिथ्या मान्यता के कारण मन ही मन गौरव महसूस करता था। युवा ब्राह्मण अंबष्ठ उस वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता था। भगवान ने करुणापूर्वक उसका अभिमान मर्दन करने के लिए पूछ लिया कि उसका गोत्र क्या है।

अंबष्ठ ने बताया – **कण्हायनं** यानी कृष्णायन।

इस पर भगवान ने पुरानी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हुए कहा कि इस गोत्र का आदिपुरुष काण्ह यानी कृष्ण शाक्यों के आदिपुरुष सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु का दासी से उत्पन्न पुत्र था। अंबष्ठ भी इस सच्चाई को खूब जानता था कि उनके गोत्र का आदिपुरुष दासीपुत्र था। बड़े बेमन से अंततः उसने इस तथ्य को स्वीकार किया। स्वीकारते ही उसके साथ आये हुए अन्य माणव ब्राह्मण विद्यार्थी अंबष्ठ को धिक्कारने लगे –

दुज्जातो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो – अंबष्ठ माणवक दुर्जात है।

अकुलपुत्तो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो – कुलपुत्र नहीं है अंबष्ठ माणवक।

दासिपुत्तो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो सक्यानं – अंबष्ठ माणवक शाक्यों का दासीपुत्र है।

अय्यपुत्ता किर, भो, अम्बट्ठस्स माणवस्स सक्या भवन्ति। (दी० नि० १.२७३, अम्बट्ठसुत्त)

– शाक्य अंबष्ठ माणवक के स्वामीपुत्र हैं।

अपने ही संगी-साथियों द्वारा इस प्रकार धिक्कारे जाने पर हतप्रभ हुए अंबष्ठ को देख कर भगवान के मन में उसके प्रति अपार करुणा जागी।

अतिबाळ्हं खो इमे माणवका अम्बट्ठं माणवं दासिपुत्तवादेन निम्मादेन्ति,

– माणवक अंबष्ठ को दासीपुत्र कह कर ये इसे बहुत नीचा दिखा रहे हैं,

यंनूनाहं परिमोचेय्यं – क्यों न मैं इसे बचाऊं, छुड़वाऊं।

तब भगवान ने अन्य ब्राह्मण माणवों को ऐसा करने से रोकते हुए कहा कि काण्ह (कृष्ण) कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह महान योगी था। उसने योग बल से महाराज इक्ष्वाकु को निष्प्रभ करके उनकी पुत्री से विवाह कर लिया था। उन्हीं की संतान ये कृष्णायनगोत्री ब्राह्मण हैं।

मा खो तुम्हे, माणवका अम्बट्ठं माणवं अतिबाळ्हं दासिपुत्तवादेन निम्मादेथ।

– हे माणवको, तुम अंबष्ठ माणवक को दासीपुत्र कह कर अधिक नीचा मत दिखाओ।

उळारो सो कण्हो इसि अहोसि – वह कृष्ण महान ऋषि थे। (दी० नि० १.२७४, अम्बट्ठसुत्त)

तत्पश्चात जातिवाद, गोत्रवाद को गलत साबित करते हुए भगवान ने ब्रह्मा सनत्कुमार के पुरातन बोल उद्धृत किये और उनका समर्थन किया।

खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मिं, ये गोत्तपटिसारिनो।

– जो गोत्र का आधार लेकर चलते हैं, उनमें क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।

जब कि दूसरी ओर ब्राह्मण अपने आपको क्षत्रियों से अधिक श्रेष्ठ मानते थे।

यह वह युग था, जब कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में इस बात की होड़ थी कि दोनों में श्रेष्ठतर कौन है। पर ब्राह्मण हो या क्षत्रिय – थी तो बात गोत्र की ही, वर्ण की ही, जाति की ही। आवाह-विवाह के क्षेत्र तक तो यह बात कुछ अंश में संगत भी लगती है, क्योंकि एक प्रकार की धरती पर और एक प्रकार के वातावरण में उगा, पाला पौधा उखाड़ कर कहीं और रोपा जाय, तो उसके जमने के लिए धरती और वातावरण का लगभग वैसा ही होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार आवाह-विवाह में जो बहू या बेटी जहां जन्मी पली है, उस पीहर को छोड़ कर आती है या जाती है, तो उसके लिए ससुराल का सारा वातावरण लगभग वैसा ही होना चाहिए। पर यह तो आवाह-विवाह की बात हुई। धर्मक्षेत्र तो सर्वथा भिन्न है। यहां न क्षत्रिय को महत्त्व है, न ब्राह्मण को, न वैश्य को, न शूद्र को। धर्म के क्षेत्र में तो –

विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे। (दी० नि० १.२७७, अम्बट्ठसुत्त)

– जो विद्या में और आचरण में यानी शील-सदाचार में और प्रज्ञा-विपश्यना में संपन्न हो, वह सभी देवमनुष्यों में श्रेष्ठ है।

जो ब्रह्मा सनत्कुमार ने कहा, वही भगवान तथागत ने कहा। विद्याचरणसंपन्न होने के लिए जाति-विशेष में जन्म लेना अनिवार्य नहीं होता। जो शील-समाधि का अभ्यास करके, प्रज्ञा-विपश्यना में स्थित हो जाता है, वही विद्याचरणसंपन्न हो जाता है, परंतु –

पहाय खो, अम्बट्ठ, जातिवादविनिबद्धञ्च गोत्तवादविनिबद्धञ्च मानवादविनिबद्धञ्च आवाहविवाहविनिबद्धञ्च अनुत्तराय विज्जाचरणसम्पदाय सच्छिकिरिया होति। (दी० नि० १.२७८, अम्बट्ठसुत्त)

– हे अंबष्ठ, कोई व्यक्ति जातिवाद की, गोत्रवाद की, आवाह-विवाह की और अहंमन्यता की जकड़न को छोड़ कर ही श्रेष्ठ विद्याचरण संपदा का यानी निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। ये सभी जकड़नें धर्म के क्षेत्र में बाधक हैं।

तदनंतर भगवान ने विद्याचरण का यानी शील, समाधि और प्रज्ञा का विशद वर्णन किया और पुराने जमाने के विद्याचरणसंपन्न ब्राह्मणों की अनेक बातें बतायीं, जिन्हें सुन कर अंबष्ठ जैसा उद्दंड व्यक्ति भी

नतमस्तक हो गया। उसने भगवान के शरीर पर बत्तीस महापुरुष लक्षण देखे और लौट कर अपने आचार्य पुष्करसाति को उनका सही-सही विवरण दिया।

उन दिनों देश में जहां अंबष्ठ जैसे अनुदार, दकियानूसी और अहंकारी ब्राह्मण थे, वहां समझदार ब्राह्मण भी पर्याप्त संख्या में थे, जो शुद्ध धर्म की नैसर्गिक, सही और सार्वजनीन व्याख्या सुन कर उस ओर तत्काल आकर्षित हो जाते थे। ब्राह्मण पुष्करसाति उनमें से एक था, जिसने अपने माणवक अंबष्ठ की भगवान से हुई वार्त्ता का पूर्ण विवरण सुना तो बहुत ही प्रभावित हुआ। प्राचीन काल के ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का वर्णन सुन कर आचार्य पुष्करसाति को वर्तमान ब्राह्मणों की दयनीय दशा पर बड़ी लज्जा आयी। उसने कहा –

अहो वत रे अम्हाकं पण्डितक, अहो वत रे अम्हाकं बहुस्सुतक, अहो वत रे अम्हाकं तेविज्जक।

(दी० नि० १.२९१, अम्बट्ठसुत्त)

– अरे वाह रे, हमारे तथाकथित पण्डित, अरे वाह रे, हमारे बहुश्रुत विद्वान, अरे वाह रे, हमारे त्रैविद्य (तीनों वेदों के ज्ञाता)।

धिक्कार है हमारी इस त्रैविद्यता को। यदि हमने विद्या और आचरण का अभ्यास नहीं किया तो मरणोपरांत हमारी दुर्गति निश्चित है। यह कह ब्राह्मण पुष्करसाति भगवान के पास गया। माणवक अंबष्ठ का भगवान के साथ जो कथा-संलाप हुआ उसे भगवान के मुँह से भी उसने सुना और तब उसने बड़े दीन भाव से भगवान से प्रार्थना की –

बालो, भो गोतम, अम्बट्ठो माणवो – हे गोतम, बालक है यानी अज्ञानी है अंबष्ठ माणवक।

खमतु भवं गोतमो अम्बट्ठस्स माणवस्स – क्षमा करें, हे गोतम, अंबष्ठ माणवक को।

अपने शिष्य की उद्दंडता के कारण गुरु ने उसकी ओर से भगवान से क्षमा मांगी। भगवान की विद्या यानी प्रज्ञा ने गुरु-शिष्य के मन की सच्चाई जानी और उनके आचरण यानी करुणा ने क्षमादान देते हुए कहा –

सुखी होतु, ब्राह्मण, अम्बट्ठो माणवो। (दी० नि० १.२९३, अम्बट्ठसुत्त)

–हे ब्राह्मण, (तुम्हारा शिष्य) अंबष्ठ माणवक सुखी हो।

अग्गिक भारद्वाज

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। वे एक दिन भिक्षाटन के लिए निकले। घर-घर भिक्षा मांगते हुए जब अग्गिक भारद्वाज के घर के सामने पहुँचे, तब वह हव्य (यज्ञ) की तैयारी कर रहा था। उसने तथागत को आते हुए देखा तो श्रमणों से घृणा करने वाला उसके भीतर का अनुदार ब्राह्मणत्व जाग उठा। जात-पांत और छुआछूत का जो भूत उसके सिर पर सवार था, वह मुखरित हो उठा। 'मेरी इस पवित्र यज्ञ-शाला पर कहीं इस अपवित्र श्रमण की छाया न पड़ जाय, मेरा यज्ञ कहीं अशुद्ध न हो जाय', – यह सोच कर वह भगवान को दूर से ही रोकते हुए बोला –

तत्रेव मुण्डक, तत्रेव समणक, तत्रेव वसलक, तिट्ठाहि। (सु० नि०, वसलसुत्त)

– अरे मथमुंडे, वहीं रुक। अरे श्रमण, वहीं रुक। अरे नीच वृषल (चांडाल), वहीं रुक।

इन अपमान-भरे शब्दों को सुन कर भगवान के मन में अज्ञानी भारद्वाज के प्रति करुणा ही जागी। वाणी में प्यार भर कर उन्होंने पूछा – "हे भारद्वाज, क्या तुम जानते हो कि वृषल कौन होता है? किन कर्मों से कोई व्यक्ति वृषल बन जाता है?"

– "नहीं, हे श्रमण, मैं नहीं जानता।"

"तो सुनो, वृषल बनाने वाले कर्मों के बारे में मैं तुम्हें बताता हूं।"

अग्गिक भारद्वाज उत्सुकतावश सुनने को राजी हो गया। भगवान ने कहा –

– जो व्यक्ति क्रोधी है, झगड़ालू है, पापी है, ईर्ष्यालु है, गलत धारणाओं में पड़ा है और मायावी है;

– जो योनिज अथवा अंडज प्राणियों की हत्या करता है; जिसे प्राणियों के प्रति जरा भी दया नहीं है; जो गांवों और निगमों को घेर कर हत्याएं करता है; जो अत्याचारी के रूप में प्रसिद्ध है;

– जो गांव या अरण्य में औरों की संपत्ति लूटता है; जो ऋण लेकर मुकरता है और मुँह छुपाता है;

– जो राहगीरों को मार कर लूट लेता है; जो धन के लिए झूठी गवाही देता है; जो प्यार से अथवा जबरन अपने मित्रों, बंधुओं की भार्याओं को अपनी बना लेता है; जो धनसंपन्न होने पर भी अपने वृद्ध माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता;

– जो माता-पिता, भाई-बहन या सास-ससुर को दुर्वचनों से पीड़ित करता है; जो सार्थक बात पूछने पर निरर्थक उत्तर देता है; जो लुका-छिपा कर धोखे की वाणी बोलता है; जो दूसरों के घर जाकर माल-मत्ते उड़ाता है और कोई अपने घर आये, तो उसे खाने के लिए पूछता तक नहीं;

– जो श्रमण, ब्राह्मण और याचकों को झूठ बोल कर धोखा देता है; जो भोजन के समय आये हुए श्रमण या ब्राह्मण को कुछ न देकर उन्हें धमकाता है; जो मोह के वशीभूत होकर मनचाही वस्तु पाने के लिए झूठ बोलता है; जो अपनी प्रशंसा करता है और दूसरों की निंदा; जो अपने अभिमान के कारण दूसरों के गुणों को जान ही नहीं पाता; जो रुष्ट है, कंजूस है, पापिष्ठ यानी मलेच्छ है; जो मत्सरी है, शठ है और दुष्कर्म करने से न लजाता है, न भयभीत होता है;

– जो बुद्धों की और उनके परिव्राजक या गृहस्थ श्रावकों की निंदा करता है; ऐसे लोगों को ही वृषल जानो, चांडाल जानो।

– और जो अरहंत नहीं, परंतु अरहंत होने का दिखावा करता है, उस धोखेबाज को तो वृषलों में भी वृषलाधम जानो।

वृषलों की और वृषल बनाने वाले कर्मों की भगवान ने विशद व्याख्या की और फिर कहा –

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

– न जन्म से कोई वृषल होता है और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है।

कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥ (सु० नि० १३६, वसलसुत्त)

– अपने कर्मों से ही कोई वृषल होता है, अपने कर्मों से ही ब्राह्मण।

वृषल याने चांडाल कहलानेवाला व्यक्ति भी सद्धर्म धारण करे, तो वह यहां भी सुखी होता है और मरने पर उसे देव या ब्रह्मलोक जाने से कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति दुष्कर्म करे, तो यहां भी दु:खी होता है और मरने पर अधोलोक की ओर जाने से उसे कोई नहीं बचा सकता।

निसर्ग के अटूट नियमों की यह धर्ममयी व्याख्या सुन कर ब्राह्मण अग्गिक भारद्वाज अत्यंत प्रभावित हुआ और भगवान का अंजलिबद्ध अनुयायी हो गया। जात-पांत और छुआछूत की मिथ्या मान्यता के चंगुल से मुक्त हुआ और ब्राह्मण न होते हुए भी जाति के आधार पर अपने को ब्राह्मण मान बैठने के मिथ्या अहंकार से मुक्त हुआ।

सुंदरिक भारद्वाज

सुंदरिका नदी के तट पर ब्राह्मण सुंदरिक भारद्वाज ने अग्निहोत्र पूरा किया; अग्नि की परिचर्या पूरी की। वह किसी योग्य पात्र को हव्यशेष देने के लिए उठा। कुछ दूरी पर एक वृक्ष के तले भगवान बैठे थे। उन्होंने चीवर से अपना सिर ढक रखा था। बायें हाथ में हव्यशेष और दाहिने में पानी का कमंडल लिए हुए सुंदरिक भारद्वाज उनके पास पहुँचा। आहट पाकर भगवान ने अपना सिर उघाड़ा। भारद्वाज ने देखा तो कहा –

मुण्डो अयं भवं, मुण्डको अयं भवं।

– अरे, यह तो मोडा है अर्थात मुंडा है; अरे, यह तो मथमुंडा है।

ऐसे व्यक्ति को हव्य का दान देना उचित नहीं। यह सोच कर वह उल्टे पांव मुड़ चला। थोड़ी दूर जाकर उसके मन में ऐसा विचार आया –

मुण्डापि हि इधेकच्चे ब्राह्मणा भवन्ति – कोई-कोई मथमुंडे भी ब्राह्मण होते हैं।

स्पष्ट है कि तब तक भगवान के अनेक ब्राह्मण-अनुयायी सिर मुँडा कर भिक्षु हो गये थे। सामान्यतया श्रमण ही सिर मुँडाते थे। ब्राह्मण दाढ़ी, मूंछ और जटाधारी होते थे। हमने जटाधारी काल देवल को सात ब्रह्मऋषियों को शिक्षा देने के लिए सिर और दाढ़ी-मूंछ मुँडा कर और मजीठी रंग का कपड़ा ओढ़ कर श्रमण का भेष बनाते देखा है। परंतु जैसे-जैसे भगवान की शिक्षा ब्राह्मण समाज ने स्वीकार करनी शुरू की, वैसे वैसे कुछ लोगों की नजरों में श्रमणों के प्रति पुराना दुराग्रह कम होने लगा होगा, श्रमणों के प्रति सम्मान बढ़ने लगा होगा। इसलिए कुछ लोग भगवान गोतम बुद्ध के अनुयायी न होते हुए भी उनके तथा उनके मुंडक शिष्यों के प्रति आदरभाव रखने लगे होंगे। इसी कारण स्वयं भी मुंडन कराने लगे होंगे। भगवान बुद्ध के साथ वाद-विवाद के लिए जाने वाला माणवक आश्वलायन मुंडित सिर ही था। जो भी हो, ऐसा भाव मन में आते ही सुंदरिक भारद्वाज ने सोचा, क्यों न मैं इस मुंडक से इसकी जात पूछ लूं। अतः वह मुड़ कर फिर भगवान के पास आया और पूछने लगा –

किंजच्चो भवं – आप किस जाति के हैं? (सु० नि०, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

भगवान ने उत्तर दिया –

मा जातिं पुच्छी, चरणञ्च पुच्छ – जाति न पूछो, आचरण पूछो।

कट्ठा हवे जायति जातवेदो – लकड़ी में से आग पैदा होती ही है।

नीचाकुलीनोपि मुनी धितीमा,

– नीच कुल में पैदा होकर भी कोई व्यक्ति मुनि हो सकता है, धृतिमान हो सकता है,

आजानियो होति हिरीनिसेधो। (सु० नि० ४६६, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– श्रेष्ठ व्यक्ति हो सकता है, निषिद्ध कर्मों के प्रति लज्जाशील हो सकता है।

लकड़ी लकड़ी है, चाहे चंदन की हो या नीम की। जलाने पर दोनों में से एक जैसी अग्नि पैदा होती है। एक जैसी ज्वाला प्रकाशमान होती है। इसी प्रकार मनुष्य चाहे ऊंची जात का हो या नीची जात का, भीतर प्रज्ञा की अग्नि प्रज्वलित हो जाय, तो वह एक जैसा धार्मिक हो जाता है। भगवान ने सच्चे धार्मिक व्यक्ति की व्याख्या की और उसके अनेकानेक गुण समझाते हुए कहा –

आसं अनिस्साय विवेकदस्सी।

– वह आशाओं से यानी तृष्णाओं से अनाश्रित होता है, विवेकदर्शी होता है, यानी लौकिक क्षेत्र से अलग होकर निर्वाणदर्शी होता है।

परवेदियं दिट्ठिमुपातिवत्तो।

– दूसरों की अनुभूतियों पर मानी जानेवाली दार्शनिक मान्यताओं से दूर हो जाता है (यानी स्वदर्शन द्वारा अनुभूत सम्यक दर्शन ही स्वीकार करता है)।

आरम्मणा यस्स न सन्ति केचि।

– (यों स्वानुभूति से निर्वाण का दर्शन कर लेने पर) वह निरालंब अवस्था में विहार करता है।

तथागतो अरहति पूरळासं। (सु० नि० ४७८, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– ऐसा तथागत हव्य का अधिकारी होता है।

मुंडक विरोधी सुंदरिक भारद्वाज को होश आया। उसने भगवान में सही ब्राह्मण का ही नहीं साक्षात ब्रह्मा का दर्शन किया और बोला –

ब्रह्मा हि सक्खि – आप साक्षात ब्रह्मा ही हैं।

भुञ्जतु मे भगवा पूरळासं – भगवान, मेरा हव्य ग्रहण करें।

इसका उत्तर देते हुए भगवान ने कहा –

गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं – कविता गान से प्राप्त भोजन मेरे लिए अग्राह्य है।

सम्पस्सतं ब्राह्मण नेस धम्मो – हे ब्राह्मण, सम्यकदर्शी ज्ञानियों का यह धर्म नहीं है।

गाथाभिगीतं पनुदन्ति बुद्धा – गाथाओं के गायन से प्राप्त भोजन बुद्ध स्वीकार नहीं करते।

धम्मे सती ब्राह्मण वुत्तिरेसा – हे ब्राह्मण, यही धार्मिक रीति है।

(सु० नि० ४८३-४८४, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

भगवान आशुकवि थे। वे अपना उपदेश गद्य में भी देते थे और कभी-कभी तत्काल रचित पद्य में भी। पद्यों को याद रखना सरल होता है। इसके अतिरिक्त भगवान की वाणी अत्यंत सुरीली और हृदयग्राही थी। अतः श्रोताओं पर उसका तत्क्षण गंभीर प्रभाव पड़ता था। सुनते-सुनते किसी-किसी के भीतर बिजली का सा

करंट चलने लगता था और पुण्य-पारमीधारी हो, तो उसे उदय-व्यय का अनुभव होने लगता था और यह अनुभव होते-होते निरोध का साक्षात्कार हो जाता था। भगवान को गाथाओं में उपदेश देना प्रिय था। परंतु क्लासिकल (शास्त्रीय) गायकों की भांति वे सुर को लंबायमान करके नहीं गाते थे। गाथाओं का सामान्य सस्वर पाठ उन्हें प्रिय था।

एक घटना –

भदंत महाकात्यायन का शिष्य सोण भगवान से पहली बार मिला, तो उन्होंने पूछ लिया कि अब तक तुमने क्या सीखा है? प्रत्युत्तर में वह –

सोळस अट्ठकवग्गिकानि सब्बानेव सरेन अभणि।

– संपूर्ण सोलह अष्टवर्गों का सस्वर पाठ कर गया।

अथ खो भगवा आयस्मतो सोणस्स सरभञ्ञपरियोसाने अब्भनुमोदि। (उदा० ४६, सोणसुत्त)

– भगवान ने आयुष्मान सोण द्वारा इस प्रकार सस्वर पाठ किये जाने का विशिष्ट अनुमोदन किया।

इससे यह अनुमान करना ठीक है कि भगवान ने सुंदरिक भारद्वाज को जो स्वरचित पद्य सुनाये, वह सस्वर ही थे। इसीलिए कहा – **गाथाभिगीतं** ।

यों सस्वर गीत गाकर भोजन प्राप्त करना धर्म के विरुद्ध बात थी। सस्वर न भी हो, तो भी धर्म सिखा कर बदले में उसकी कीमत लेना, चाहे भोजन के रूप में ही हो, यह अनुचित है। इससे धर्म का व्यवसाय हो जाता है। धर्म को व्यवसाय बना देना धर्म का अवमूल्यन करना है। भगवान ने एक अन्य अवसर पर बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा –

धम्मेन न वणिं चरे – धर्म को कहीं व्यवसाय न बना देना। (उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

सुंदरिक भारद्वाज ने श्रद्धापूर्वक भोजन अर्पित किया, परंतु भगवान ने उसे अस्वीकार किया। इससे सुंदरिक भारद्वाज और प्रभावित हुआ और भगवान की शरण ग्रहण कर सही माने में ब्राह्मण बना।

कृषि भारद्वाज

किसी हट्टे-कट्टे व्यक्ति को भीख मांगते देख कर आजकल भी कोई दुत्कारता है और कह देता है कि मेहनत, मजदूरी करके पेट क्यों नहीं भरता? क्यों भीख मांगने निकल पड़ा? ऐसे ही तिरस्कार का सामना भगवान को करना पड़ा, जब भिक्षाटन करते हुए वे कृषि भारद्वाज के द्वार पर गये, जहां ब्राह्मण कृषि भारद्वाज अन्य ब्राह्मणों को भोजन परोस रहा था। उसने भगवान को दुत्कारते हुए कहा –

अहं खो, समण, कसामि च वपामि च – हे श्रमण, मैं जोतता हूं, बोता हूं।

कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि – जोत कर, बो कर, (यों मैं मेहनत करके) खाता हूं।

त्वम्पि समण, कसस्सु च वपस्सु च – तू भी श्रमण, जोत और बो।

कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सूति – जोत, बो कर (यानी मेहनत करके) खा।

(सु० नि०, कसिभारद्वाजसुत्त)

भगवान विद्याचरणसंपन्न थे। इसलिए इस प्रकार के तिरस्कार-भरे शब्दों को सुन कर रंच-मात्र भी कुपित नहीं हुए, बल्कि अत्यंत करुण चित्त से धर्म का उपदेश देते हुए उसे समझाया कि मैं भी खेती करता हूं और अपनी खेती की कमाई ही खाता हूं। उन्होंने कहा –

सद्धा बीजं तपो वुट्ठि – श्रद्धा मेरा बीज है, तप मेरी वृष्टि है।

इस प्रकार के रूपकों द्वारा धर्म की खेती का सही स्वरूप समझाया।

एवमेसा कसी कट्ठा, सा होति अमतप्फला।

– यह मेरी इस प्रकार की गयी खेती है, जो अमृतरूपी फल देती है।

यह सुन कर कृषि भारद्वाज अत्यंत प्रसन्न हुआ और सोने की थाली में खीर परोस कर भगवान के सामने रखते हुए बोला –

भुञ्जतु भवं गोतमो पायसं – आप गोतम खीर खाएं।

कस्सको भवं – आप सचमुच कृषक हैं।

यं हि भवं गोतमो अमतप्फलं कसिं कसतीति।

– यह जो आप अमृत का फल देने वाली कृषि करते हैं।

भगवान ने इस भिक्षा को भी अस्वीकार किया। कारण वही था –

गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं। (सु० नि० ७७, ८०-८१, कसिभारद्वाजसुत्त)

– धर्म के गंभीर सिद्धांत की यह बात भगवान के मुँह से सुन कर कृषि भारद्वाज और अधिक प्रभावित हुआ, श्रद्धा-बहुल हुआ। भगवान की शरण ग्रहण कर वह सही ब्राह्मण बना और कृत-कृत्य हुआ।

पतनोन्मुख श्रमणाचार्य

हो सकता है, उन दिनों श्रमण परंपरा अधोगति को प्राप्त हो गयी हो। तभी श्रमणों के बारे में ब्राह्मण समाज में इतना पूर्वाग्रह स्थापित हो चुका था। श्रमण मात्र की निंदा करना मानो अनेक लोगों का स्वभाव बन गया था। उन दिनों के जिन छः प्रमुख आचार्यों का वर्णन मिलता है, उनमें से एक को छोड़कर बाकी पांच श्रमण ही थे और उन पांचों में से केवल एक निगण्ठ नाथपुत्त ही ऐसे थे, जो शील-सदाचार को महत्त्व देते थे। बाकियों की शिक्षा में तो शील-सदाचार का नामोनिशान भी नहीं था। उनमें से कोई-कोई तो शील के कट्टर विरोधी थे। कोई कहता था कि न कोई पापकर्म है जिसका कोई दुष्फल मिले और न कोई पुण्यकर्म है जिसका कोई सुफल मिले। कोई कहता था कि चाहे जितनी हत्याएं कर दो, इसमें कोई दोष नहीं। जिसकी हत्या की गयी उसके भीतर की आत्मा तो अमर है, अतः उसकी हत्या ही नहीं हुई। इस प्रकार की बातों से कुछ लोगों के मन में सभी श्रमणों के प्रति दुर्भाव पैदा हो गया होगा। वे अच्छे और बुरे श्रमण का भेद नहीं कर पाते होंगे। अतः भगवान बुद्ध को श्रमण रूप में देखते ही उनके प्रति बुरी भावना बना लेते थे और उनका तिरस्कार कर देते थे। परंतु उनकी वाणी सुनने पर बात समझ में आती थी कि ये तो साक्षात धर्म ही हैं। अन्य श्रमणों से इनकी कोई तुलना नहीं। ये तो हम ब्राह्मणों से भी कहीं अधिक ब्राह्मण हैं। ऐसे लोग सहज ही उनकी शरण ग्रहण कर कृतार्थ हो जाते थे।

ऐसी ही एक अन्य घटना –

मागण्डिय

एक बार भगवान कुरु प्रदेश में कम्मासधम्म निगम में भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की अग्निशाला में ठहरे हुए थे। अग्निशाला में उनका तृणासन बिछा था। भगवान भिक्षाटन के लिए बाहर गये हुए थे। उस समय परिव्राजक मागण्डिय ब्राह्मण भारद्वाज ब्राह्मण से मिलने आया। यह सुंदरी मागंधी के पिता से भिन्न व्यक्ति था। उसने भगवान के तृणासन को देख कर भारद्वाज से पूछा – यह किसका आसन है? देखने में किसी श्रमण का आसन लगता है। भारद्वाज ने भगवान की प्रशंसा-प्रशस्ति में कुछ शब्द कहे और बताया कि यह उन्हीं का आसन है। यह सुन कर परिव्राजक ब्राह्मण मागण्डिय बिगड़ उठा और अत्यंत जुगुप्सा के भाव में बोला –

दुद्दिट्ठं वत, भो भारद्वाज, अद्दसाम।

– हे भारद्वाज, यह देखना बड़ा अमंगलकारी हुआ।

ये मयं तस्स भोतो गोतमस्स भूनहूनो सेय्यं अद्दसाम।

– यह जो उस **भूनहा** गोतम का तृणासन देखना हुआ।

यह बहुत ही अमंगलसूचक है।

भूनहूनो शब्द का अर्थ कोई भ्रूण-हत्यारा करता है, कोई जीव-हत्यारा, कोई आत्म-स्वस्ति-हत्यारा करता है। जो भी हो, यह कोई सम्मानजनक शब्द नहीं था। घृणासूचक शब्द ही था। इसीसे सिद्ध होता है कि कई लोगों ने श्रमणों के प्रति अपने मन में असीम घृणा के भाव सँजो रखे थे। जो लोग भगवान के प्रत्यक्ष संपर्क में आते, वे उनकी पवित्रता से प्रभावित हो जाते थे, जैसे कि इस अग्निशाला का स्वामी भारद्वाज ब्राह्मण। उसने भगवान के बारे में ऐसे ओछे शब्द कहने वाले ब्राह्मण मागण्डिय को रोकने की कोशिश की।

रक्खस्सेतं, मागण्डिय, वाचं; रक्खस्सेतं, मागण्डिय, वाचं।

– रोको, मागण्डिय, ऐसे वचनों को। रोको, मागण्डिय, ऐसे वचनों को।

अनेक क्षत्रिय पंडित, अनेक ब्राह्मण पंडित, अनेक गृही पंडित, अनेक श्रमण पंडित भी आप गोतम के प्रति श्रद्धावान हैं। वे लोग श्रमण गोतम द्वारा कुशल आर्यज्ञान मार्ग पर लगाये गये हैं।

यह सुन कर हठीले मागण्डिय ने कहा कि श्रमण गोतम के मुँह पर भी मैं यही कहूंगा कि –

भूनहू समणो गोतमोति – श्रमण गोतम **भूनहू** है।

तं किस्स हेतु – सो किस हेतु?

एवं हि नो सुत्ते तं ओचरति – क्योंकि ऐसा हमारे सूत्रों में आया है। (म० नि० २.२०७, मागण्डियसुत्त)

इससे यह भी स्पष्ट है कि उन दिनों की ब्राह्मण-परंपरा में ऐसा साहित्य मौजूद था जो श्रमणों की भरपूर निंदा करता था और अनेक लोग उसे ब्रह्म-वाक्य मान कर उसके प्रति प्रगाढतः विश्वस्त थे, आसक्त थे। इस कारण बुरी तरह पूर्वाग्रह-ग्रस्त थे। परंतु कोई ऐसा व्यक्ति जब भगवान के संपर्क में आता और उनसे धर्म का वास्तविक अर्थ समझता तो धर्म धारण कर उन पूर्वाग्रहों से ही मुक्त नहीं हो जाता, बल्कि भवचक्र से भी मुक्त हो जाता। जैसे कि यह परिव्राजक ब्राह्मण मागण्डिय, जिसे भगवान के समझाने पर सही धर्म समझ में आ गया। मानो जन्म के अंधे को आंखें मिल गईं। वह भव-संसरण से मुक्त हो गया।

संगारव माणव

कोशल देश के मंगलकल्प नामक स्थान में धनंजानी नामक एक ब्राह्मणी रहती थी। वह भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थी। एक बार चलते हुए वह जरा सी फिसली, तो अनायास उसके मुँह से भगवान के प्रति प्रशस्ति नमन की वाणी निकल पड़ी –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को।

पास ही संगारव नामक ब्राह्मण माणवक खड़ा था। उसने ये शब्द सुने तो तिलमिला उठा और धनंजानी ब्राह्मणी को धिक्कारते फटकारते हुए बोला –

अवभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी, परभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी।

– गिरी हुई है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी; पतित है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी।

विज्जमानानं तेविज्जानं ब्राह्मणानं,

– जो कि त्रिवेदी ब्राह्मणों के विद्यमान होते हुए

अथ च पन तस्स मुण्डकस्स समणकस्स वण्णं भासिस्सतीति।

– उस मथमुंडे श्रमण की प्रशंसा करती है।

भगवान के प्रति ऐसे अपशब्द सुन कर ब्राह्मणी धनंजानी ने कहा –

न हि पन त्वं, तात भद्रमुख, तस्स भगवतो सीलपञ्ञाणं जानासि।

– हे तात भद्रमुख, तू भगवान के शील और प्रज्ञा के बारे में नहीं जानता।

और इसी कारण –

न त्वं, तात भद्रमुख, तं भगवन्तं अक्कोसितब्बं परिभासितब्बं मञ्ञेय्यासि। (म० नि० २.४७३, सङ्गारवसुत्त)

– हे तात भद्रमुख, तू यह नहीं मान रहा है कि भगवान आक्रोश और निंदा करने योग्य नहीं है।

इस पर संगारव ने कहा कि वह श्रमण गोतम से अवश्य मिलना चाहेगा। जब कभी श्रमण गोतम इस ओर आएं तो उसे सूचना दे।

संगारव के सौभाग्य से कुछ समय पश्चात चारिका करते हुए भगवान उस ओर से गुजरे। संगारव उनसे मिलने गया। उनसे जो वार्त्तालाप हुआ, उससे संगारव को विश्वास हुआ कि वे सचमुच सुप्रज्ञ हैं। सचमुच विद्या और शील में यानी विद्याचरण में परिपूर्ण हैं, उनमें कहीं कोई दोष नहीं है। इस प्रकार उनके प्रति पूर्णतया आश्वस्त, विश्वस्त होकर उनका प्रणत अनुगामी बन गया।

धनंजानी ब्राह्मणी

भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत श्रद्धाविनत यही धनंजानी ब्राह्मणी एक बार अपने पति को भोजन परोसती हुई तीन बार बोली –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को।

यह सुन कर उसका पति तिलमिला उठा और क्रोधित होकर बोला–

एवमेवं पनायं वसली – यह ऐसी चांडालिनी है जो कि–

यस्मिं वा तस्मिं वा तस्स मुण्डकस्स समणस्स वण्णं भासति।

– जिस किसी बात में उस मथमुंडे श्रमण का गुण गाती रहती है (सं० नि० १.१.१८७, धनञ्जानीसुत्त)

हे पापिन, मैं तुम्हारे गुरु के दोष प्रकाशित करूंगा।

ब्राह्मणी धनंजानी ने कहा कि भगवान इतने निर्दोष हैं कि संसार में कोई उन्हें दोषी साबित नहीं कर सका। चाहो तो तुम स्वयं उनसे मिल कर देख लो।

इस चुनौती पर ब्राह्मण भारद्वाज और अधिक कुपित हुआ। वह मन-ही-मन कुढ़ता हुआ भगवान के पास पहुँचा। परंतु वहां उनकी धर्मवार्त्ता सुन कर शांत ही नहीं हो गया बल्कि ऐसा श्रद्धाबहुल हुआ कि उनकी चरण-शरण ग्रहण कर, प्रव्रजित हो, उनसे विपश्यना-विद्या सीखकर अचिर-काल में अरहंत अवस्था प्राप्त कर कृत-कृत्य हो गया।

आक्रोशक भारद्वाज

आक्रोशक भारद्वाज ब्राह्मण ने जब सुना कि उसका बुद्ध-विरोधी साथी भारद्वाज ब्राह्मण भी बुद्ध का शिष्य हो गया, तो वह क्रोध के मारे आगबबूला हो उठा। वह आक्रोश से भरा हुआ भगवान के पास गया और उन्हें खरी-खोटी सुनाने लगा। चुन-चुन कर गालियां देने लगा। भगवान शांतचित्त सुनते रहे। जब वह बहुत बड़बड़ा चुका तब उसके प्रति असीम करुणा जगा कर भगवान ने उससे पूछा– ब्राह्मण, क्या तुम्हारे यहां कोई बंधु, मित्र मेहमान होकर आते हैं?

– "हां, हां, आते हैं।"

– "तो क्या तुम उनके लिए खाने-पीने की चीजें तैयार करते हो?"

– "हां, हां, करता हूं।"

– "यदि वे किसी कारण खाने-पीने की ये चीजें नहीं ग्रहण करते, तो उन चीजों का क्या होता है?"

– "क्या होता है? वे सब मेरे ही पास रह जाती हैं।"

एवमेव खो, ब्राह्मण, – ऐसे ही ब्राह्मण,

यं त्वं अम्हे अनक्कोसन्ते अक्कोससि,

– कभी आक्रोश न करने वाले मुझ पर तुम जो आक्रोश प्रकट कर रहे हो,

अरोसेन्ते रोसेसि – कभी रोष न करने वाले पर रोष प्रकट कर रहे हो,

अभण्डन्ते भण्डसि – कभी झगड़ा न करने वाले से झगड़ा कर रहे हो,

तं ते मयं नप्पटिग्गण्हाम – उसे मैं स्वीकार नहीं करता,

तवेवेतं, ब्राह्मण, होति – तो ये (सब उपहार) तुम्हारे ही हैं। (सं० नि० १.१.१८८, अक्कोससुत्त)

जो लोग खोटी बात करने वाले को बदले में खोटी बात कहते हैं; क्रोध करने वाले पर बदले में क्रोध करते हैं; उल्टा-सीधा बोलने वाले से बदले में उल्टा-सीधा बोलते हैं; वे खाने-पीने के उपहार का परस्पर लेन-देन ही तो करते हैं। हे भारद्वाज, मैं यों उपहारों का आदान-प्रदान नहीं करता। ये गालियां तुम्हें ही मुबारक हों, मैं बदले में गालियां नहीं दूंगा।

आक्रोशक ब्राह्मण अवाक रह गया। भगवान की अप्रतिम महानता उसके सामने थी। वह भाव-विभोर हो उठा और बोला–

आप गोतम को तो राजा की सभा तक जानती है कि आप गोतम सचमुच अरहंत हैं।

(मगध-राज बिंबिसार सहित उसके अनेक सभासद भगवान के शिष्य थे।)

(अरहंत हैं तो) आप गोतम क्रोध कैसे करेंगे?

वह उसी समय भगवान का होकर रह गया। वह ज्ञानलाभी हुआ। आक्रोशक ब्राह्मण का आक्रोश सदा के लिए दूर हो गया। उपहारों के पारस्परिक आदान-प्रदान से, पारस्परिक खिलाने-पिलाने से वह सदा के लिए विमुक्त हो गया। सदा के लिए शांत हो गया। संत हो गया।

विद्या और चरण; सिद्धि और करुणा

भगवान की एक सिद्धि थी परचित्त ज्ञान की विद्या जिससे उन्हें तत्क्षण विदित हो जाता था कि इस समय इस व्यक्ति की मनःस्थिति कैसी है? क्रुद्ध है, तो भीतर ही भीतर बड़ा व्याकुल है, संतप्त है, जल रहा है। यह जान कर उनका ब्रह्मविहार का आचरण जाग उठता था। ऐसे दुखियारे पर करुणा जाग उठती थी। जो स्वयं क्रोध में जल रहा है, उस पर क्रोध प्रकट करके उसे और कैसे जलाएं? जलते हुए पर तो मैत्री और करुणा की शीतल बौछार करनी चाहिए। यही अपेक्षित है, यही उचित है और यही करते थे भगवान। उस पर धर्म-मेघ की वर्षा करके उसे शीतल-शांत बना देते थे। यही उनकी विद्या थी, यानी प्रज्ञा थी। यही उनका चरण था, यानी करुणा थी।

किसी को दुर्व्यवहार करते देख कर भगवान अचल, शांत रह जाते थे, यह उनका उपेक्षा ब्रह्मविहार था। फिर उस दुखियारे पर मैत्री और करुणा की मंगल वर्षा करते थे, यह उनका मैत्री तथा करुणा ब्रह्मविहार था। फिर उसे शांत, सुखी हुआ देख कर मन को मोद से भर लेते थे, यह उनका मुदिता ब्रह्मविहार था। यों चारों ब्रह्मविहारों का जीवन जीना उनके लिए सहज हो गया था। इसके लिए उन्हें कोई प्रयास, परिश्रम नहीं करना पड़ता था। वे सहज स्वभाव से ही ऐसे श्रेष्ठ ब्रह्मविहारी थे–

सो अनत्तन्तपो अपरन्तपो।

– जो न स्वयं संतापित होता है, न औरों को संतापित करता है।

दिट्ठेव धम्मे निच्छातो निब्बुतो,

– जो यहीं इसी जीवन में तृष्णामुक्त निर्वाण प्राप्त कर चुका है।

सीतिभूतो – शांत, शीतलीभूत हो चुका है,

सुखप्पटिसंवेदी – सुखानुभूति करता है।

सुखानुभूति करने वाला–

ब्रह्मभूतेन अत्तना विहरति – स्वयं ब्रह्मभूत यानी ब्रह्मा होकर विहार करता है।

(म० नि० २.४१३, घोटमुखसुत्त)

ऐसे **ब्रह्मभूतेन अत्तना** हुए व्यक्ति ब्रह्मविहार ही करेंगे। सभी अवस्थाओं में उपेक्षा यानी समता में स्थित रहेंगे। किसी आक्रोशक भारद्वाज-जैसे के दुर्व्यवहार से कैसे विचलित होंगे भला? क्योंकि–

ते सम्बुद्धा सम्मदञ्ञा – वे संबुद्ध हैं, परम सत्य के भली-भांति जानकार हैं।

चरन्ति विसमे समन्ति – विषम अवस्था में भी उनका आचरण सम रहता है।

(सं० नि० १.१.७, अप्पटिविदितसुत्त)

यानी वे उपेक्षा ब्रह्मविहार का जीवन जीते हैं। सही माने में उपेक्षा का जीवन वे ही जी सकेंगे, जो वितृष्ण होंगे। अनपेक्षाविहारी होंगे। अपेक्षा नहीं है, तो ही उपेक्षा है। वे जहां-जहां विहार करेंगे, अनपेक्षित होकर ही विहार करेंगे।

सेय्यथापि, भिक्खवे – जैसे कि भिक्षुओ,

उप्पलं वा पदुमं वा पुण्डरीकं वा – उत्पल या पद्म या पुंडरीक कमल,

उदके जातं उदके संवड्ढं उदका अच्चुग्गम्म ठाति अनुपलित्तं उदकेन।

– पानी में जन्मता है, पानी में बढ़ता है तो भी वह पानी में ऊपर उठा हुआ पानी से अलिप्त रहता है।

एवमेव खो, भिक्खवे – इसी प्रकार, भिक्षुओ,

तथागतो लोके जातो, लोके संवड्ढो लोकं अभिभुय्य विहरति अनुपलित्तो लोकेन।

(सं० नि० २.३.९४, पुप्फसुत्त)

– तथागत संसार में जन्मते हैं, संसार में बढ़ते हैं; परंतु संसार से ऊपर उठ कर संसार से अलिप्त विहरते हैं।

तथागत संसार में अलिप्त जीवन ही जीते हैं।

यथापि उदके जातं, पुण्डरीकं पवड्ढति।
नोपलिप्पति तोयेन, सुचिगन्धं मनोरमं॥

– जैसे सुगंधित और मनोरम कमल जल में उत्पन्न होकर जल में बढ़ता है, परंतु जल से लिप्त नहीं होता,

तथेव च लोके जातो, बुद्धो लोके विहरति।
नोपलिप्पति लोकेन, तोयेन पदुमं यथा॥ (थेरगा० ७००-७०१, उदायित्थेरगाथा)

– वैसे ही बुद्ध संसार में जन्म कर, संसार में रहते हुए भी संसार से उसी प्रकार अलिप्त रहते हैं, जिस प्रकार कि पद्म पानी से।

ऐसे व्यक्ति ही विषम अवस्थाओं में अचल, अकंपित, समता भरा जीवन जीते हैं।

सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता॥ (ध० प० ८१, पण्डितवग्ग)

– जैसे ठोस पर्वत आंधी से नहीं हिलता, वैसे ही पंडित निंदा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

बुद्ध जैसे परम पंडित किसी क्रोधी भारद्वाज के दुर्वचनों से कैसे डिगते भला, क्योंकि वे शांति और साधुता के स्वयं मूर्तस्वरूप थे। इन्हीं सद्गुणों के कारण वे सदा विजयी होते थे।

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने। (ध० प० २२३, कोधवग्ग)

– क्रोध को अक्रोध से जीते, दुष्टता को साधुता से।

बुद्ध जिन थे, विजेता थे। सदा इसी प्रकार धर्म के बल पर विजयी बने रहते थे। वे निंदा से या कटु वचनों से कैसे विचलित होते, कैसे पराजित होते? वे अपने शिष्यों को भी यही समझाते थे कि निंदा से कौन बचा है भला?

निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति बहुभाणिनं।

– मौन रहनेवालों की भी निंदा होती है, बहुत बोलनेवालों की भी निंदा होती है।

मितभाणिम्पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो। (ध० प० २२७, कोधवग्ग)

– कम बोलनेवालों की भी निंदा होती है। इस संसार में निंदा से कोई नहीं बचा। इसीलिए –

ममं वा, भिक्खवे, परे अवण्णं भासेय्युं, धम्मस्स वा अवण्णं भासेय्युं, सङ्घस्स वा अवण्णं भासेय्युं,

– भिक्षुओ, यदि कोई मेरी या धर्म की या संघ की निंदा करे,

तत्र चे तुम्हे अस्सथ कुपिता वा अनत्तमना वा,

– उससे यदि तुम कुपित हो जाओगे, अप्रसन्न हो जाओगे तो –

तुम्हंयेवस्स तेन अन्तरायो।

– यह तुम्हारी ही आध्यात्मिक प्रगति में बाधक बन जाएगा।

तत्र तुम्हेहि अभूतं अभूततो निब्बेठेतब्बं। (दी० नि० १.५, ब्रह्मजालसुत्त)

– यदि वह निंदा झूठी है, तो उसे झूठी समझ कर मन से दूर करना चाहिए।

निंदा करने वाले पर कुपित होने से अपना ही मन मैला होता है। चित्त मैला होगा तो चित्त-विशोधनी विपश्यना-साधना में सफलता कैसे मिलेगी? परंतु यदि अपने में सचमुच कोई खोट है, तो उसे जांच कर देख लेना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए। ऐसे दोष दिखाने वाले निंदक को धन्यवाद देना चाहिए, उसका आभार मानना चाहिए।

निधीनंव पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं। (ध० प० ७६, पण्डितवग्ग)

– दोष दिखाने वाले को छिपा धन बताने वाला उपकारी जैसा मानें।

द्रोण ग्राम

भगवान का श्रावक-श्राविका संघ बार-बार विरोधियों द्वारा निंदित होता था। उनका तो कहना ही क्या, जब कि स्वयं भगवान को भी ऐसी निंदा और ऐसे विरोधों में से गुजरना पड़ता था। एक बार बड़े भिक्षु संघ के साथ वे मल्लों के जनपद में से चारिका करते हुए द्रोण नामक ब्राह्मणग्राम में से गुजरे। वहां के निवासी

भगवान के बड़े विरोधी थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि भगवान अपने संघ सहित यहां से गुजर रहे हैं, तो वहां के एकमात्र कुएं को घास-फूस, बिचाली आदि से भर दिया, ताकि ये मथमुंडे नकली साधु पानी बिना प्यासे ही रह जायँ। जब भगवान अपने संघ सहित वहां रुके और एक पेड़ की छांह में विश्राम करने लगे, तब उन्होंने पीने के लिए जल मांगा। भिक्षु कुएं तक जाकर सारी हकीकत देख आये और भगवान को यथावत सूचना दे दी। क्रोध करने अथवा दुःखी होने के स्थान पर भगवान ने अपने मानस में उनके प्रति मैत्री ही जगायी। क्रोध करते या दुःखी होते तो वे विद्याचरणसंपन्न बुद्ध कैसे होते?

धर्म-विहारी की मदद धर्म करता है। भिक्षुओं ने देखा कि कुएं का पानी ऊपर तक आया हुआ है। घास-फूस दूर कर के कुएं का शीतल-स्वच्छ जल पी कर। सबने अपनी प्यास बुझायी।

जब भगवान को भिक्षा नहीं मिली

एक बार भगवान मगध के पंचसाल नामक ब्राह्मणों के गांव में गये। विरोधी तत्वों ने सारे गांव के लोगों की मति फेर दी। भगवान भिक्षाटन के लिए निकले, तो लोगों ने घरों के दरवाजे बंद कर लिये। किसी ने भिक्षा में एक कौर भी नहीं दिया। भगवान खाली भिक्षा-पात्र लिए लौट आये। उनके मन पर इस बात का जरा भी सदमा नहीं था। वे भिक्षा-पात्र को एक ओर रखते हुए बोले–

सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।

– जो यह हमारी अकिञ्चन अवस्था है इसमें हम सुखपूर्वक जीते हैं।

अपरिग्रही ही सुखी रहता है। परिग्रह में सुख कहां?

पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा। (सं० नि० १.१.१५४, पिण्डसुत्त)

– आभास्वर ब्रह्मलोक के देवों के समान हम भी केवल समाधिजन्य प्रीति का ही आहार लेंगे।

कहां क्रोध है उन मति फेरने वाले विरोधियों पर? कहां कोप है उन भिक्षा न देने वाले अज्ञानियों पर?

वेरंजा

एक अवस्था इससे भी गयी-गुजरी आयी। वेरंजा ग्राम के अधिपति ब्राह्मण ने भगवान को अपने यहां वर्षा-वास के लिए आमंत्रित किया। समय पर आनंद तथा कुछ भिक्षुओं के साथ भगवान वहां पहुँचे। ब्राह्मण मानो सब कुछ भूल ही गया। न स्वयं उसने भिक्षा दी और न उसके गांव वालों ने। भगवान संघ सहित गांव के बाहर जा टिके। वर्षा-वास आरंभ हो चुका था। अब अन्यत्र जा भी नहीं सकते थे। तीन महीने वहीं गुजारने पड़े। उस समय उस प्रदेश में घोर अकाल पड़ा हुआ था। वहां भिक्षा का कोई साधन नहीं था। आनंद घोड़ों के किसी घुड़साल में जाते। वहां घोड़ों को हल्का अनाज खाने को दिया जाता था। घोड़ों का मालिक उसमें का थोड़ा अन्न भिक्षा में दे देता। आनंद उसे साफ करते और कूट कर पानी में भिगो देते। गुरु-शिष्य सभी उससे ही पेट भरते। पूरे वर्षा-वास भगवान ने यही अन्न खाया और आमंत्रण देने वाले वेरंजा ब्राह्मण को असीम मैत्री का दान देते रहे, उस पर करुणा बरसाते रहे।

कुछ एक ब्राह्मणों द्वारा यह जो बार-बार भगवान अथवा संघ का अपमान होता रहा, उसका अधिकांश दोष उस परंपरागत गलत मान्यता का था, जिसके कारण ब्राह्मण इस भ्रम में थे कि महज एक ब्राह्मणी के कोख से जन्मने के कारण वे औरों की तुलना में महान हैं, भले उनमें शील-सदाचार हो या न हो; भले उनमें स्थितप्रज्ञता हो या न हो। अनेकानेक सरल स्वभाव के ब्राह्मण गृहस्थ भी इस मिथ्या मान्यता के शिकार हो गये थे और इस कारण दैनिक जीवन में औरों के साथ गलत व्यवहार करने लगे थे।

इसी सच्चाई को प्रकट करती हुई एक और घटना देखें –

वेरहच्चानि

उन दिनों भगवान का एक शिष्य आयुष्मान उदायी कामंडा में तोदेय्य ब्राह्मण के आश्रम में विहार कर रहा था। उसी गांव में वेरहच्चानि नाम की ब्राह्मणी आचार्या थी, जिसका एक शिष्य एक दिन आचार्य उदायी से मिलने चला गया। उनसे धर्म-कथा सुन कर वह अत्यंत प्रसन्न-प्रभावित, हर्षित-उत्साहित हुआ। उसने लौट कर यह सूचना अपनी आचार्या को दी। सरल स्वभाव वाली ब्राह्मणी आचार्या यह सुन कर अत्यंत हर्षित हुई और उसने भिक्षु उदायी को अगले दिन भोजन के लिए आमंत्रित किया। भिक्षु उदायी आये। बड़े प्यार, सत्कार से ब्राह्मणी ने अपने हाथों उन्हें उत्तम भोजन परोसा। परंतु भोजनोपरांत जब धर्मदेशना का समय आया तो –

...पादुका आरोहित्वा उच्चे आसने निसीदित्वा सीसं ओगुण्ठित्वा,

– ...पांवों में पादुका पहने, ऊंचे आसन पर बैठे, शीश ढके,

आयुष्मान उदायी से बोली –

भण, समणधम्मं – श्रमण, अब धर्म कहो।

श्रमण ने प्रत्युत्तर में कहा –

भविस्सति, भगिनि, समयो – बहन, जब समय होगा, तब। (सं० नि० २.४.१३३, वेरहच्चानिसुत्त)

यों कह कर उदायी उठ कर चले गये। ब्राह्मणी भौचक्की रह गयी। वह समझ ही नहीं पायी कि भिक्षु के सामने जूते पहन कर, सिर ढक कर, ऊंचे आसन पर बैठना असम्मान प्रकट करना है। वह जानबूझ कर भिक्षु का अपमान नहीं किया चाहती थी। वह तो सचमुच धर्म सुनने के लिए आतुर थी। परंतु अपनी परंपरागत मान्यताओं की रूढ़ियों में जकड़ी हुई थी। ब्राह्मण होने के कारण वह अन्य सभी से महान है, पूज्य है, यह समझती हुई स्वयं सम्मानित आसन पर बैठ गयी। जिससे धर्म सीखना था, उसे नीचा स्थान दिया। लेकिन शीघ्र ही उसे यह बात समझ में आ गयी कि ऐसा करके उसने व्यक्ति का नहीं, धर्म का अपमान किया है। धर्म का सत्कार करते हुए उसे जूते उतार कर, सिर उघाड़ कर, नीचे आसन पर बैठ कर धर्म की याचना करनी चाहिए थी। जैसे ही उसे यह भूल समझ में आयी, उसने भिक्षु को दूसरे दिन भोजन पर पुनः आमंत्रित कर अपनी भूल सुधारी। उसने इस बार भोजन खिला कर, उचित ढंग से धर्म की याचना की और शुद्ध धर्म से लाभान्वित होकर कृतार्थ हुई।

मिथ्या मान्यताओं के शिकार

उपरोक्त घटनाओं से यह स्पष्ट है कि कुछ ब्राह्मण तो कट्टरवादी और अनुदार थे, परंतु कई ऐसे भी थे जो अज्ञान अवस्था में अपनी परंपरागत मिथ्या मान्यताओं के शिकार थे। ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से होता है, अतः अन्य तीन वर्णों के लिए वे श्रेष्ठ हैं, पूज्य हैं; बाकी तीनों वर्ण ब्रह्मा द्वारा उनकी सेवा के लिए ही सृजित किये गये हैं – यह गलत मान्यता सामान्यतया सारे समाज में और विशेषतया ब्राह्मण समाज में घर कर गयी थी। यह झूठी भी हो सकती है, इस ओर किसी का शायद ध्यान ही नहीं गया। इस मान्यता से स्वयं ब्राह्मणों की भी कितनी हानि हुई। इस मान्यता की जकड़न में जकड़ा हुआ व्यक्ति वाणी द्वारा शील और प्रज्ञा को हजार अच्छा कहता रहे, परंतु उनके पालन या धारण करने का काम नहीं ही करता। वह इस मिथ्या आत्म-संतोष और झूठे दंभ में सारा जीवन बिता देता है कि वह तो ब्राह्मण के घर जन्मा है। इसलिए वह तो शुद्ध और पवित्र है ही; भले उसका मानस कितना ही अशुद्ध और अपवित्र क्यों न हो। इस प्रकार अपना अनमोल मानवी जीवन अपने सुधार में न लगा कर व्यर्थ खो देता है। बहुत बड़ी हानि सबसे नीचे वर्ग के लोगों की होती है, जो हीन ग्रंथि के शिकार बने रहते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि वे भी सत्प्रयत्न करके धर्म धारण करते हुए कभी स्वयं ब्राह्मण बन सकेंगे। इस दिशा में कोई प्रयत्न ही नहीं करता। अतः वे भी अपना मानवी जीवन दीन-हीन, दलित अवस्था में ही खो देते हैं। बाकी दोनों वर्गों की भी कमो-बेश हानि ही होती है, क्योंकि जिस समाज में धर्म धारण करने के मुकाबले जाति, वर्ण प्रमुख हो जाता है, वह समाज धीरे-धीरे धर्म विमुख होता चला जाता है। यद्यपि अपनी मिथ्या आत्म-संतुष्टि के लिए लोग धर्म का गुणगान भले गाते रहें, पर धारण करने से अक्सर दूर ही रहते हैं। जिस चातुर्वर्णी व्यवस्था का आधार ही गलत हो, वह समाज के लिए लाभदायक कैसे हो पाती? इस दूषित व्यवस्था का यही दुष्परिणाम होना स्वाभाविक था।

इसी कारण असित कालदेवल जैसे ब्राह्मण ऋषियों द्वारा जातीय शुद्धता की मिथ्या मान्यता पर हमला होना शुरू हो गया था, यद्यपि वह क्षीण था और इतना प्रभावशाली नहीं था। परंतु भगवान बुद्ध ने कर्मप्रधान शुद्ध धर्म को प्रकाशित करते हुए इस विषैले जातिवाद का जो भरपूर खंडन करना आरंभ किया वह बहुत व्यापक हुआ और प्रभावशाली भी। इसी कारण उन दिनों समाज के कुछ एक समझदार लोग वर्ण को कर्म से जोड़ना पसंद करने लगे थे, परंतु फिर भी अधिकतर ऐसे ही थे जो इसे जन्म से ही जोड़े रखना चाहते थे। ये दोनों स्पष्ट धाराएं पिछले २५०० वर्षों से अब तक चली आ रही हैं। शुद्ध धर्म की कर्मप्रधान धारा भारत के मानसिक धरातल को सींचती हुई नैतिकता के आधार पर आधुनिक युग तक प्राणवंत बनी रह सकी है। जन्म के आधार को महत्त्व देने वाली वर्णवाद की दूसरी धारा का नैतिक आधार दुर्बल होने पर भी यह अनेक कारणों से आज तक बलवान बनी रही है। हम बुद्ध-वाणी में इन दोनों धाराओं के दर्शन करते हैं।

वासिष्ठ और भारद्वाज

आचार्य पौष्करसाति के शिष्य और वसिष्ठ वंश के ब्राह्मण युवक वासिष्ठ तथा आचार्य दारुक के शिष्य और भारद्वाज वंश के ब्राह्मण युवक भारद्वाज को हम इन दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए

देखते हैं। दोनों मित्र थे, परंतु इस विषय में दोनों में गहरा मतभेद था। दोनों भगवान बुद्ध के पास आये और उनके सम्मुख उन्होंने अपना मतभेद प्रकट किया।

तब तक भगवान बुद्ध के उपदेश बहुप्रचलित हो चुके थे। अतः वासिष्ठ यह खूब समझता था कि भगवान उसकी मान्यता को बल देंगे और संभवतः इससे मित्र भारद्वाज अपना मत बदल ले। वासिष्ठ द्वारा समझाये जाने पर भारद्वाज अपने विचार बदलने को तैयार नहीं था। परंतु इस विषय में भगवान का मत सुनना चाहता था। इसीलिए अपने मित्र के साथ भगवान के पास चला आया। आते ही वासिष्ठ ने दोनों की समस्या भगवान के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत की –

जातिया ब्राह्मणो होति, भारद्वाजो इति भासति।

– भारद्वाज का कहना है कि ब्राह्मण जन्म के आधार पर होता है।

जबकि –

अहञ्च कम्मुना ब्रूमि, एवं जानाहि चक्खुम।

– मैं कहता हूं कि ब्राह्मण कर्म के आधार पर होता है। हे चक्षुमान, (हमारे विवाद को) आप इस प्रकार जानें।

भारद्वाज इस बात पर अड़ा था कि जिसके माता-पिता दोनों ओर से सुजात हैं, और जिनका वंश पिछली सात पीढ़ियों तक जातिवाद की शुद्धता लिए हुए है और इस बारे में रंचमात्र भी दूषित, कलंकित नहीं है, वही ब्राह्मण है और मैं मानता हूं कि जो शीलवान है, व्रतसंपन्न है, वह ब्राह्मण है।

हम एक दूसरे को समझा नहीं पाये इसलिए –

भवन्तं पुट्ठुमागमा, सम्बुद्धं इति विस्सुतं।

– हम आप भगवान से पूछने आये हैं; आप जो संबुद्ध के नाम से विश्रुत हैं, विख्यात हैं।

चन्दं यथा खयातीतं, पेच्च पञ्जलिका जना।
वन्दमाना नमस्सन्ति, एवं लोकस्मिं गोतमं॥ (म० नि० २.४५५, वासेट्ठसुत्त)

– जिस प्रकार लोग पूर्ण चंद्र को आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं, वैसे ही इस संसार में लोग आप गोतम को भी नमस्कार करते हैं।

चक्खुं लोके समुप्पन्नं – आप लोक में चक्षु के रूप में उत्पन्न हुए हैं। (म० नि० २.४५५, वासेट्ठसुत्त)

आप हमें बतायें कि ब्राह्मण 'जाति' यानी 'जन्म' से होता है या 'कर्म' से?

भगवान ने इस विषय को समझाते हुए कहा –

तरु-तृणों में, कीट-पतंगों में, चींटियों में, छोटे-बड़े चतुष्पद पशुओं में, दीर्घ-पीठधारी रेंगने वाले सरीसृपों में, जलचर मछलियों में और पंखधारी आकाशचारी पक्षियों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण हैं, जिनके कारण उनकी अपनी-अपनी, अलग-अलग जातियां होती हैं। परंतु मनुष्यों में इस प्रकार के भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण नहीं हैं, जो उन्हें अलग-अलग जातिवाला बनाये। मनुष्य की जाति तो एक ही है। (भिन्न भिन्न प्राणी अपने अपने जातीय लक्षणों के कारण भिन्न-भिन्न जाति वाले हैं। जैसे गौरय्या, कबूतर, कौआ, चील आदि की; जैसे शेर, बकरी, गाय, भालू आदि की; जैसे सांप, केंचुआ, कंसला [कनखजूरा] आदि की; जैसे

सील, व्हेल, डाल्फिन आदि की अपनी-अपनी शारीरिक रचनाओं की विशेषताएं हैं; एक की दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं; वैसी विभिन्नता मनुष्य-मनुष्य की शरीर-रचना में नहीं दीखती)। मनुष्यों में भिन्नता केवल नाममात्र की है, शरीर-संस्थान की नहीं। अतः जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता।

मनुष्यों में –

– जो गौ पालता है वह गौ-पालक है, ब्राह्मण नहीं।

– जो शिल्प की आजीविका जीता है वह शिल्पी है, ब्राह्मण नहीं।

– जो व्यापार करता है वह वैश्य है, ब्राह्मण नहीं।

– जो मजदूरी करता है वह मजदूर है, ब्राह्मण नहीं।

– जो चोरी करता है वह चोर है, ब्राह्मण नहीं।

– जो धनुष धारण कर युद्ध करता है, वह योद्धा है, ब्राह्मण नहीं।

– जो पुरोहितगिरी करता है, वह पुरोहित है, ब्राह्मण नहीं।

– जो गांव या राष्ट्र पर राज्य करता है, वह राजा है, ब्राह्मण नहीं।

– जो जिस साधन से जीविकोपार्जन करता है, उसे उसी नाम से जानना चाहिए; ब्राह्मण नाम से नहीं।

भगवान ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा –

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।

– किसी माता की योनि से उत्पन्न होने मात्र से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता।

जो संपत्तिशाली है, वह धनी कहलाने योग्य है, परंतु –

अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० प० ३९६, ब्राह्मणवग्ग)

– जो अकिंचन है और तृष्णारहित है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

और फिर बताया कि मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं –

– जो सारे बंधनों से मुक्त हो अतृष्ण है, निस्संग है; जो तृष्णा-रूपी रस्सियों को तोड़ कर, मिथ्या मान्यताओं के पगहे को नष्ट कर, मुँह पर बँधे जबड़े को दूर कर, कंधे पर पड़े जूए को फेंक कर बुद्ध हो गया है;

– जो आक्रोश को, भव-बंधन को अपना मन प्रदुष्ट किये बिना सह लेता है; क्षमा बल ही जिसका सैन्य बल है;

– जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान है, अपरिग्रही है, शांत है, अंतिम शरीरधारी है;

– जो पानी में कमल की तरह, आरे की नोक पर न टिके रहने वाले सरसों के दाने की तरह काम-भोग में निर्लिप्त है;

– जो दु:ख के नितांत क्षय को इसी जीवन में जान गया है और जिसने अपना बोझ उतार फेंका है और जो नि:संग है, विसंयुक्त है;

– जो गंभीरप्रज्ञ है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का जानकार है, निर्वाणरूपी उत्तम अर्थ प्राप्त है;

– जो न गृहस्थों के प्रति आसक्त है, न गृह-त्यागियों के प्रति; जो स्वयं घर से बेघर होकर विहार करता है और अल्पेच्छु है;

– जो स्थावर और जंगम सभी प्राणियों के प्रति दंड यानी शस्त्र का त्याग कर चुका है, जो न स्वयं हत्या करता है, न दूसरों से हत्या करवाता है;

– जो विरोधियों के बीच अविरोधी हो रहता है, हिंसकों के बीच अहिंसक हो रहता है, जो लिप्तों के बीच अलिप्त हो रहता है;

– जिसके राग, द्वेष, मान और डाह उसी प्रकार च्युत हो गये हैं, जिस प्रकार आरे की नोक पर सरसों के दाने नहीं टिक पाते;

– जो अकर्कश एवं स्पष्ट अर्थ वाली वाणी का प्रयोग करता है; जो सच्ची वाणी बोलता है, जिससे किसी को चोट नहीं लगती;

– जो संसार में बड़ी या छोटी, नन्हीं या मोटी, सुंदर या असुंदर किसी वस्तु को भी नहीं चुराता;

– जो इस लोक या परलोक के प्रति कोई कामना नहीं रखता; जो ऐसा निष्पाप और निरासक्त है;

– जिसका कोई आलंबन नहीं है; जो परम ज्ञान के कारण संशयविहीन हो गया है; जो प्रगाढ़ अमृत-प्राप्त है;

– जो पाप और पुण्य दोनों के चिपकाव को त्याग चुका है; जो अशोक है, विमल, विरज और विशुद्ध है;

– जो चंद्रमा की भांति निर्मल है, शुद्ध है, स्वच्छ है, निर्दोष है; जिसने भव-तृष्णा का क्षय कर दिया है;

– जो इस दुर्गम और खतरनाक संसार-पथ के मोह को त्याग चुका है, जो संसार-सागर को तैर कर पार जा चुका है; जो ध्यानी है, वितृष्ण है, निःशंक है, निरासक्त है; जो निर्वाणलाभी हो गया है;

– जो यहीं काम-भोग का परित्याग कर गृहत्यागी प्रव्रजित हो गया है; जिसके काम-लोभ परिक्षीण हो गये हैं;

– जो तृष्णा को त्याग कर गृह-त्यागी प्रव्रजित हो गया है; जिसका तृष्णा का संसार परिक्षीण हो गया है;

– जो मानवी और दिव्य सभी संयोगों से परे हट गया है, जो सभी संयोगों से विमुक्त हो गया है;

– जो रति और अरति को त्याग कर मुक्त, शांत, शीतलीभूत हो गया है; जो वीर है, जिन है, सब लोकों का विजेता है;

– जिसने सब प्राणियों की च्युति यानी मृत्यु और उपपत्ति यानी जन्म को जान लिया है; जो अनासक्त है, सुगत है, बुद्ध है;

– जिसकी गति देव, मनुष्य और गंधर्व नहीं जान पाते, जो क्षीणास्रव है, अरहंत है;

– जिसके आगे, पीछे या मध्य में कहीं कोई परिग्रह नहीं, जो अपरिग्रही है, आसक्ति-रहित है;

– जो नरों में वृषभ है, प्रवर है, वीर है, महर्षि है, विजेता है; जो स्थिर है, स्नातक है और बुद्ध है;

– जिसने अपने पूर्व जन्मों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो स्वर्ग और नरक दोनों को दिव्य दृष्टि से देखता है और जो पुनर्जन्म से मुक्त हो चुका है–

भगवान ऐसे व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहते हैं। सचमुच ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण है।

वास्तविक ब्राह्मण की यह जो विशद विरुदावली भगवान ने प्रस्तुत की, वह किसी संप्रदाय की चारण-सदृश अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना नहीं थी। यह यथार्थ की अभिव्यंजना थी। स्वयं भगवान इन सभी गुणों को धारण किये हुए थे और जो लोग भगवान से शिक्षित होकर परम विमुक्त अवस्था तक पहुँचे, वे सभी अरहंत इन सभी गुणों से विभूषित थे और ऐसे लोग पांच-दस नहीं, सैकड़ की संख्या में थे।

इस अवस्था पर जो भी पहुँचा वही ब्राह्मण हुआ; वास्तविक ब्राह्मण हुआ, केवल नाममात्र का ब्राह्मण नहीं।

केवल नामधारी ब्राह्मण इस श्रेणी में नहीं आते। वर्णवादियों के नाम नैसर्गिक कारणों पर आधारित नहीं हैं। ये नाम तो केवल लोक-व्यवहार के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो कि महज प्रकल्पित हैं, बनावटी हैं और परंपरागत मान्यता से व्यवहृत होते चले आ रहे हैं।

समञ्ञा हेसा लोकस्मिं, नामगोत्तं पकप्पितं।

– ये प्रकल्पित नाम और गोत्र संसार में केवल संज्ञा अर्थात केवल व्यवहार-भर के लिए हैं।

सम्मुच्चा समुदागतं, तत्थ तत्थ पकप्पितं।

– जो-जो प्रकल्पित नाम-गोत्र जहां-जहां लोक मान्यता में घुस-पैठ गये और प्रचलित हो गये; वे वहां-वहां, वैसे-वैसे प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं।

दीघरत्तमनुसयितं, दिट्ठिगतमजानतं।

– जो दार्शनिक मान्यताओं में जकड़े हुए अबोध लोग हैं, उनके अंतर्मन में लंबे अरसे से पैठी हुई यह मान्यता चली आ रही है।

अजानन्ता नो पब्रुवन्ति, जातिया होति ब्राह्मणो। (सु० नि० ६५३-६५४, वासेट्ठसुत्त)

– (सच्चाई को) बिना जाने ही लोग कहते रहते हैं कि ब्राह्मण जन्म से होते हैं।

सचमुच सारा चातुर्वर्णी प्रपंच महज कल्पनाओं, कृत्रिमताओं, बनावटी मान्यताओं के लोक-व्यवहार पर आधारित है।

बहुत समय पहले किसी ने कह दिया कि ब्राह्मणों का कोई आदिपुरुष ब्रह्मा के मुख से जन्मा। पहले तो यही स्वीकार करने योग्य बात नहीं लगती कि कोई किसी के मुख से कैसे पैदा हुआ होगा? फिर यह भी कहा कि अन्य लोगों के पूर्वज ब्रह्मा की भुजा से, जांघ से अथवा पांव से जन्मे। ये सारी अनैसर्गिक बातें कैसे स्वीकार्य हो सकती हैं? परंतु इसे इस प्रकार कोई मान भी ले कि ब्रह्मा के मुख से धर्म सुन कर और उसका पालन करके कोई व्यक्ति ब्राह्मण हुआ, तो बाकी तीन वर्णों के अन्य अंगों से उत्पन्न होने की बात में क्या तुक है, क्या संगत है? बिल्कुल निसर्ग-विरोधी असंगत बातें हैं।

थोड़ी देर के लिए हम अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें और ब्रह्मा के मुख से सुने हुए धर्म को धारण कर किसी व्यक्ति के ब्राह्मण बन जाने की युक्ति को स्वीकार भी कर लें, तो पीढ़ियों तक उसकी संतान को ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुई कैसे मान लें भला? सच्चाई यह है कि निसर्ग के नियमों के अनुसार ये ब्राह्मणी माताओं की कोख से जन्मे हैं। तो ये सभी ब्राह्मण ब्रह्म-पुत्र कैसे हुए? परंतु कोई भी मिथ्या, काल्पनिक बात जब बार-बार दोहरायी जाती है, तो लंबे अरसे के बाद वह सही मान ली जाती है, विशेषकर किसी संप्रदाय में बँधे हुए संप्रदाय-भीरु अज्ञानी लोगों द्वारा। यही इस मान्यता के बारे में हुआ लगता है। तभी भगवान सच्चाई को बल देते हुए कहते हैं –

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

– न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण।

कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो॥

– कर्म से कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही अब्राह्मण।

और इसी प्रकार कर्म से ही कोई कृषक, कोई शिल्पी, कोई व्यवसायी, कोई सेवक, कोई चोर, कोई योद्धा, कोई याचक या कोई राजा होता है।

एवमेतं यथाभूतं, कम्मं पस्सन्ति पण्डिता।

– इस प्रकार समझदार लोग कर्म को यथाभूत सत्य के रूप में देखते हैं, समझते हैं।

पटिच्चसमुप्पाददस्सा, कम्मविपाककोविदा॥

– जो ज्ञानी लोग कर्म और कर्म-फल के नैसर्गिक नियमों को प्रतीत्यसमुत्पाद याने कारणों से उत्पन्न होने वाले परिणाम के सिद्धांत के अनुसार जान लेते हैं, उनके लिए यह स्पष्ट हो जाता है कि–

कम्मुना वत्तति लोको, कम्मुना वत्तति पजा।

– कर्म से संसार चलता है, कर्म से प्रजा चलती है।

कम्मनिबन्धना सत्ता, रथस्साणीव यायतो॥

– सारे प्राणी अपने कर्मों से इसी प्रकार बँधे रहते हैं, जैसे कि रथ का चक्का अपनी अणि याने आंकुड़े (कील) से बँधा रहता है।

इस तथ्य को जो समझ जाता है, उसके लिये यह समझना कठिन नहीं होता कि–

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

– तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम और दम से ही कोई ब्राह्मण होता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

तीहि विज्जाहि सम्पन्नो, सन्तो खीणपुनब्भवो।
एवं वासेट्ठ जानाहि, ब्रह्मा सक्को विजानतं॥ (सु० नि० ६५५, ६५८-६६१, वासेट्ठसुत्त)

– जो तीनों विद्याओं से सम्पन्न हैं, शांत हैं, पुनर्जन्म से मुक्त हैं, ऐसों को हे वासिष्ठ, तुम विज्ञ लोगों के शक्र और ब्रह्मा ही मानो।

भगवान की वाणी युक्तियुक्त थी, सार्थक थी। सारे समाज के साथ-साथ ब्राह्मणों के लिए विशेषरूप से कल्याणकारिणी थी। उसे वासिष्ठ और भारद्वाज दोनों ने समझा और दोनों ने भगवान की शरण ग्रहण की।

प्रव्रजित वासिष्ठ और भारद्वाज

कुछ समय पश्चात दोनों ने समझ लिया कि वास्तविक ब्राह्मण बनने के लिए उन्हें जो उद्यम करना होगा, वह गृहत्यागी के जीवन में ही समीचीन रूप से हो सकेगा। अतः दोनों भगवान के पास प्रव्रजित होने के लिए आये। उन्हें देख कर भगवान ने कहा – तुम ब्राह्मण के घर जन्मे, ब्राह्मण कुल के हो, याने ब्राह्मण कुल से

बेघर होकर प्रव्रजित होने आये हो। तो क्या ब्राह्मण लोग तुम्हें कोसते नहीं? तुम्हारी निंदा नहीं करते? तुम्हारी हँसी नहीं उड़ाते?

हां, भंते, ब्राह्मण लोग बहुत खुल कर हमारी हँसी उड़ाते हैं, हमारी निंदा करते हैं। वे कहते हैं–

"ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, अन्य नहीं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, अन्य सब कृष्ण वर्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, अन्य नहीं। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए ब्रह्मा की संतान हैं, ब्रह्म निर्मित हैं, ब्रह्म उत्तराधिकारी हैं। तुम इस श्रेष्ठ अवस्था से पतित हो गये हो। ये मथमुंडे श्रमण नीच हैं, काले हैं, भ्रष्ट हैं, ब्रह्मा के पैर से जन्मे हैं। यों ऊंचे वर्ण से गिर कर नीचे वर्ण में जा मिलना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।"

इस पर भगवान ने कहा– वे सच्चाई को जानते नहीं। इसलिए ऐसी गलत बातें कहते हैं।

ते ब्रह्मानञ्चेव अब्भाचिक्खन्ति।

– वे ब्रह्मा पर भी दोषारोपण करते हैं (कि उसने संसार की रचना में ऐसा पक्षपात किया)।

मुसा च भासन्ति – वे झूठ बोलते हैं।

बहुञ्च अपुञ्ञं पसवन्ति – बहुत अपुण्य कमाते हैं। (दी० नि० ३.११४, अग्गञ्ञसुत्त)

कोई कितना ही विरोधी क्यों न हो, पर जब भगवान की युक्तिसंगत, न्यायसंगत, तर्कसंगत, बुद्धिसंगत और धर्मसंगत बात सुनता तो भगवान का ही होकर रह जाता था। उसका विरोध अपने आप दूर हो जाता था। पर कोई ऐसा विरोधी हो, जो भगवान से मिले ही नहीं; धीरज के साथ उनकी बात सुने ही नहीं; उसका पालन करे ही नहीं; तो अपने ही लाभ से वंचित रह जाता था। भगवान इसमें क्या करते? वे तो स्थान-स्थान पर, समय-समय पर, शुद्ध धर्म को इस उदाहरण से या उस उदाहरण से, इस युक्ति से या उस युक्ति से समझाते ही रहते थे।

मनुष्य की जाति एक है

चाहे काला हो या सफेद, भालू 'भालू' है, उसकी यही जाति है। काले और सफेद भालू के नर मादा का परस्पर संयोग हो और उससे जो संतान हो, वह भालू ही होगी, भले काली हो या सफेद या चितकबरी। घोड़ा अरबी हो या सिंधी, घोड़ा 'घोड़ा' ही है, उसकी यही जाति है। अरबी और सिंधी घोड़े-घोड़ी के संयोग से जो संतान हो, वह घोड़ा ही होगा और कुछ नहीं। गधा-गधी दिल्ली के हों या काबुल के, उनके पारस्परिक संयोग से जो संतान हो, वह गधा ही होगा और कुछ नहीं। मनुष्य 'मनुष्य' ही है, चाहे वह ब्राह्मण कहलाये या क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मण और क्षत्रिय नर-मादा के परस्पर संयोग से जो संतान होगी, वह मनुष्य ही होगी चाहे उसे ब्राह्मण नाम से पुकारें या क्षत्रिय नाम से, क्योंकि मनुष्य की एक ही जाति है। साधारणतया एक जाति के प्राणी का दूसरी जाति के प्राणी से काम-संभोग नहीं होता। परंतु यदि हो जाय, जैसे किसी घोड़े का किसी गधी से, तो उसकी जो संतान होगी, वह अलग जाति की होगी। न उसे घोड़ा कहेंगे न गधा। उसकी अपनी जाति होगी, जिसे खच्चर कहेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मण मनुष्य और क्षत्रिय मनुष्य की जाति अलग-अलग होती, तो उनके नर-मादा के संयोग से जो संतान उत्पन्न होती, वह मनुष्य न होकर कुछ और होती। परंतु ऐसा तो नहीं ही होता।

इसलिए मनुष्य-मनुष्य की एक ही जाति है, अलग-अलग नहीं। जब भगवान ने इस युक्ति से सच्चाई समझायी, तो ब्राह्मण माणवक आश्वलायन के पास विवाद करने के लिए कोई उत्तर नहीं था। उसे कहना पड़ा – हां, घोड़े और गधे की जाति में भेद देखता हूं, ऐसा भेद ब्राह्मण और क्षत्रिय में नहीं देख पाता।

उन दिनों के कुछ एक आचार्य और उनके अनुयायी ऐसे भी थे जो अच्छे बुरे कर्म का अच्छा बुरा फल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियम को नहीं मानते थे। परंतु अधिकांश ब्राह्मण सामान्यतया इस कर्म सिद्धांत को मानते थे। इसी नियम के आधार पर भगवान उन्हें समझाते थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चांडाल में से कोई-कोई दुःशील, दुराचारी होते हैं, कोई-कोई सुशील और सदाचारी। ऐसा तो होता नहीं कि ब्राह्मण कहलाने वाले सभी लोग सुशील और सदाचारी ही हों, उनमें कोई दुराचारी हो ही नहीं और यह भी नहीं होता कि बाकी सारे वर्ण दुराचारी ही हों, उनमें कोई सदाचारी हो ही नहीं। तो ब्राह्मणों की यह मान्यता कैसे उपयुक्त है कि ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, श्रेष्ठ हैं, बाकी सारे वर्ण अशुद्ध हैं, हीन हैं?

ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र, चांडाल – इनमें से कोई भी हो, यदि वह सदाचारपूर्ण जीवन जीकर, सत्कर्म करके मरता है तो सद्गति ही प्राप्त करता है, देवलोक में जन्मता है। इसी प्रकार इनमें कोई भी दुराचारपूर्ण दुष्कर्म करके मरता है तो दुर्गति प्राप्त करता है, अधोलोक में जन्मता है। तब यह कैसे माना जाय कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, बाकी सब हीन और अशुद्ध हैं?

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चांडाल में से जो भी चाहे, चारों ध्यानों में संपन्न हो सकता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा – इन चार ब्रह्मविहारों का अभ्यास कर सकता है। इन ध्यान भावनाओं पर मात्र ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। जब सब कर सकते हैं, तो जिस किसी वर्ण का व्यक्ति यह ध्यान करता है, वह मर कर ब्रह्मलोक में ही जन्म लेता है। फिर इस मान्यता में क्या तुक है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, बाकी सारे वर्ण हीन और अशुद्ध हैं?

सामान्य लौकिक क्षेत्र में भी इनमें कोई भेद-भाव नहीं होता। ब्राह्मण हो या अन्य किसी वर्ण का व्यक्ति, वह स्नान-चूर्ण लेकर नदी में जाकर अपने शरीर का मैल धो सकता है। आज की भाषा में कहें, तो जो भी व्यक्ति साबुन लगा कर नहाता है, वह अपना शारीरिक मैल उतार लेता है। इस पर केवल ब्राह्मण का एकाधिकार नहीं है। तब ब्राह्मण ही श्रेष्ठ, शुद्ध कैसे हुए, बाकी सब हीन, अशुद्ध कैसे हुए?

उन दिनों दो लकड़ियों को रगड़ कर आग उत्पन्न की जाती थी। वे लकड़ियां चाहे चंदन की हों या नीम की, उनके रगड़ने पर जो आग निकलती है वह एक जैसी होती है। इन लकड़ियों को रगड़ कर आग पैदा करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण हो या अन्य किसी वर्ण का, वह जो आग उत्पन्न करता है उसमें कोई भेद नहीं होता। ब्राह्मण की उत्पन्न की हुई आग अधिक तेजस्वी तथा औरों की कम तेजस्वी तो नहीं ही होती।

एत्थ, अस्सलायन, ब्राह्मणानं किं बलं, को अस्सासो, यदेत्थ ब्राह्मणा एवमाहंसु – 'ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो'। (म० नि० २.४०३, अस्सलायनसुत्त)

– तो हे आश्वलायन, यहां ब्राह्मण किस बल पर, किस आश्वासन पर ऐसा कहते हैं कि – ब्राह्मण ही शुद्ध और श्रेष्ठ हैं। अन्य सभी दीन-हीन और अशुद्ध हैं।

सेवा धर्म

जब किसी धर्मग्रंथ के प्रति अंधश्रद्धा उत्पन्न कर दी जाती है, तब उसमें वर्णित किसी नितांत अनीतिपूर्ण मान्यता का भी विरोध करना सामान्य लोगों के लिए कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे यह गलत मान्यता अंधमान्यता बन जाती है। समाज में जैसे-जैसे अविद्या का अंधकार फैलता जाता है, वैसे वैसे ऐसी अंध-मान्यताएं लोगों के अंतर्मन में गहरी पैठती जाती हैं और इस प्रकार रच-बस जाती हैं कि लोग सामान्य बुद्धि द्वारा उनकी जांच तक करना भूल जाते हैं। जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो उसके भीतर विद्या जागती है; प्रज्ञा का आलोक उत्पन्न होता है तो उसको सारी सच्चाई समझ में आ जाती है। उसके भीतर धर्म पुष्ट होता है, यानी शील, समाधि पुष्ट होते हैं और प्रज्ञामयी करुणा जागती है। तब वह उन ठगने वालों और ठगे जाने वालों का समान रूप से उपकार करते हुए शुद्ध धर्म बांटता है। लोगों को अंध-विश्वास के अंधेरे से बाहर निकालता है।

इससे संबंधित एक घटना –

एसुकारी ब्राह्मण

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे। तब एसुकारी नामक ब्राह्मण उनके पास आया और उनसे बोला –

भंते, ब्राह्मण चार प्रकार की परिचर्याएं याने सेवाएं प्रज्ञापित करते हैं –

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग ब्राह्मण की सेवा करें।

(२) क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनों वर्णों के लोग क्षत्रिय की सेवा करें।

(३) वैश्य और शूद्र ये दोनों वर्णों के लोग वैश्य की सेवा करें।

(४) शूद्र की सेवा केवल शूद्र ही करे।

ये चार सेवा धर्म लोगों में प्रचलित किये गये थे। भगवान ने उनका जोरदार खंडन किया और कहा –

किं पन, ब्राह्मण, सब्बो लोको ब्राह्मणानं एतदब्भनुजानाति – 'इमा चतस्सो पारिचरिया पञ्ञपेन्तू'ति।

(म० नि० २.४३७, एसुकारीसुत्त)

– हे ब्राह्मण, क्या संसार के सारे लोगों ने एक मत होकर ब्राह्मणों को यह अनुज्ञा दी है, ऐसा अधिकार दिया है कि वे इन चार सेवाओं की घोषणा करें, प्रज्ञापना करें?

स्पष्ट है ऐसी अनैतिक मान्यताएं लोगों पर थोपी गयी थीं। ऐसी अवैज्ञानिक और मनगढ़ंत वर्ण-व्यवस्था की स्थापना स्वार्थ बुद्धि के कारण की गयी थी ताकि हर ऊंचे वर्ण का व्यक्ति अपने से नीचे वर्ण वालों का भरपूर शोषण कर सके और अपने धर्मग्रंथों के ईश्वर निर्मित होने की दुहाई देकर इस अनीतिपूर्ण शोषण को भविष्य के लिए भी चिरस्थायी बनाए रखा जा सके।

भगवान ने परिचर्या यानी सेवा धर्म की नैतिक, वैज्ञानिक और कल्याणकारी व्याख्या की। उन्होंने कहा कि परिचर्या उसी की करनी चाहिए, जिससे सेवक का सही हित होता हो, अहित नहीं। उच्च कुल अथवा

गौर वर्ण अथवा धन-संपन्न हो जाने मात्र से ही कोई व्यक्ति सेवा करवाने का अधिकारी नहीं हो जाता। किसी की भी सेवा करने से सेवक का क्या हित होता है, यह देखना आवश्यक है। कुल, वर्ण और धन से ही कोई व्यक्ति सत्पुरुष नहीं हो जाता कि जिसकी सेवा करने से सेवक का सही हित सध सके। सही हित तभी सधता है जब कि–

यं हिस्स, ब्राह्मण, परिचरतो पारिचरियाहेतु सद्धा वड्ढति, सीलं वड्ढति, सुतं वड्ढति, चागो वड्ढति, पञ्ञा वड्ढति,

– (हे ब्राह्मण) जिसकी परिचर्या यानी सेवा-संगत करने से श्रद्धा बढ़ती है, शील सदाचार बढ़ता है, श्रुत-ज्ञान बढ़ता है, त्याग की भावना बढ़ती है और प्रज्ञा बढ़ती है–

तमहं परिचरितब्बन्ति वदामि। (म० नि० २.४३९, एसुकारीसुत्त)

– उसे ही मैं सेवा-संगत योग्य कहता हूं।

उच्च कुल का व्यक्ति या गौर वर्ण का व्यक्ति या धनवान व्यक्ति दुर्जन भी हो सकता है और सज्जन भी। दुर्जन की सेवा-संगत करे तो किसी का कल्याण कैसे सधेगा? चाहे वह उच्च कुल का हो, शुक्ल वर्ण का हो या धनी वर्ग का ही क्यों न हो। संत, सज्जन की सेवा-संगत करे तो सही हित सधता ही है, भले वह व्यक्ति उच्च कुल का हो या नीच कुल का, शुक्ल वर्ण का हो या अशुक्ल वर्ण का, धनवान हो या धनहीन।

जब कोई व्यक्ति भगवान से ऐसी शुद्ध, सात्त्विक, नैसर्गिक धर्म की सीधी, सरल, निःस्वार्थ भाव से कही गयी बातें सुनता था, तब वह भगवान का और उनके बताये हुए शुद्ध धर्म का अनुगामी बन जाता था। परंतु जो सुनना ही न चाहे, समझना ही न चाहे, उसका भला भगवान भी क्या कर सकते थे। उसका भला कोई और भी क्या कर सकता था।

स्वधन

इसी प्रसंग में एसुकारी ब्राह्मण ने भगवान को कहा कि ब्राह्मण चारों वर्णों के लिए चार प्रकार के अलग-अलग स्वधन बताते हैं–

(१) ब्राह्मणों का स्वधन दान प्राप्त कर जीविकोपार्जन करना है।

(२) क्षत्रियों का स्वधन शस्त्र-विद्या द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

(३) वैश्यों का स्वधन कृषि और गो-रक्षा द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

(४) शूद्रों का स्वधन लकड़ी काटने, सामान ढोने आदि-आदि सेवा-कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने लिए निर्धारित क्षेत्र में ही जीविकोपार्जन करें। किसी अन्य के क्षेत्र में जीविकोपार्जन करना वैसे ही दोषपूर्ण है, जैसे कोई ग्वाला परायी गायों को चराने ले जाय और उनका दूध चुरा कर पी ले।

लगता है समय पाकर परवर्ती साहित्य में यही स्वधन 'स्वधर्म' कहा जाने लगा और लोगों के मन में यह बात कूट-कूट कर भर दी गयी कि जो व्यक्ति जिस वर्ण में जन्मा है, वह उसी वर्ण के लिए निर्धारित

आजीविका अपनाए; किसी अन्य वर्ण की आजीविका भूल कर भी न अपना ले। जिसकी जो आजीविका निर्धारित कर दी गयी, वही उसका धर्म है।

जब ब्राह्मण एसुकारी ने भगवान से इस पर भी अपने विचार प्रकट करने को कहा, तो भगवान ने वही प्रतिप्रश्न पूछते हुए उत्तर दिया –

हे ब्राह्मण, क्या संसार के सारे लोगों ने एकमत होकर ब्राह्मणों को यह अनुज्ञा दी, ऐसा अधिकार दिया कि वे इस प्रकार चार स्वधनों की प्रज्ञापना करें?

स्पष्ट है कि भगवान की मनोवृत्ति जनतांत्रिक थी। किसी एकतांत्रिक प्रणाली द्वारा किसी एक व्यक्ति या वर्ग के स्वार्थ हेतु ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम निर्धारित कर दिया जाना उन्हें बिल्कुल स्वीकार्य नहीं था। औरों की सहमति बिना कोई कैसे अपने लिए सबसे ऊंचा पद और सबसे अधिक सहूलियत सुविधाएं निश्चित कर सकता है और उनके अनचाहते हुए भी दूसरों को नीची श्रेणी की ओर धकेल सकता है और उनकी सुविधा, सहूलियतें छीन सकता है। भगवान ने जोर जबरदस्ती वाली इस मनमानी व्यवस्था का खंडन करते हुए कहा – किसी को मांस से परहेज हो, उसे मांस स्वीकार्य नहीं हो, तो भी उसके मत्थे मांस का हिस्सा जबरन चढ़ा कर कोई कहे कि यह तुम्हारा हिस्सा है, तुम्हें लेना होगा और यही नहीं, तुम्हें इसकी कीमत भी चुकानी होगी। किसी के न चाहते हुए भी एक तो उस पर यह जालिम चातुर्वर्णी व्यवस्था थोपी जाय, जिससे कि वह समाज में सबसे घटिया आदमी मान लिया जाय और तिस पर जुर्माना यह कि अब तुम्हें इस व्यवस्था की कीमत स्वरूप सभी लोगों की सेवा करनी होगी। इस पर भी तुर्रा यह कि इस व्यवस्था की यह कीमत तुम्हें ही नहीं पीढ़ियों तक तुम्हारी संतान को चुकाते रहना होगा। करुणासागर भगवान बुद्ध के लिए ऐसी गलत बात कैसे स्वीकार्य हो सकती थी?

भगवान बड़े प्यार से लोगों को समझाते थे कि इन चारों वर्णों का विभाजन केवल संज्ञा के लिए यानी नाममात्र के लिए है; मात्र लोक व्यवहार के लिए है। इसमें कोई वास्तविक भेदभाव नहीं है। जैसे कोई अग्नि काठ से उत्पन्न होती है, उसे लोक व्यवहार के लिए काठ की अग्नि कहते हैं, गोबर से उत्पन्न होती है, तो गोबर की अग्नि कहते हैं, तृणों से उत्पन्न होती है, तो तृण की अग्नि कहते हैं। यह केवल उसका नामकरण-मात्र है। आग तो आग है, उसकी गर्मी या उष्णता में कोई भेद नहीं होता। वैसे ही ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय, वैश्य कुल में उत्पन्न होने के कारण वैश्य और शूद्र कुल में उत्पन्न होने के कारण शूद्र नाम पड़ जाता है। यह केवल लोक व्यवहार की बात है। वस्तुतः आदमी-आदमी में कोई भेद नहीं होता। धर्म के क्षेत्र में सब समान हैं। कोई व्यक्ति किसी कुल में जन्मा हो, यदि वह शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास में लग जाता है और ध्यान तथा विपश्यना द्वारा परम-पद निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है, तो जीवन्मुक्त हो ही जाता है। धर्म के क्षेत्र में न किसी एक जाति के लिए विशेष सुविधा है और न किसी दूसरी के लिए कम सुविधा। न किसी एक कुल से गृहत्यागी होकर अरहंत हुआ व्यक्ति कम विमुक्त है और न दूसरे कुल से गृहत्यागी हो अरहंत हुआ अधिक विमुक्त। धर्म के क्षेत्र में सभी समान हैं। शुद्ध सनातन आर्य धर्म सबका स्वधन है, सबका स्वधर्म है। सबके लिए खुला क्षेत्र है। जो मेहनत करे सो फल पावे। न किसी एक वर्ण के प्रति पक्षपात है और न किसी दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह।

केवल प्रचार-घोष

भगवान धर्म का वर्ण-विहीन, विशुद्ध स्वरूप ही सिखाते थे। लोक कल्याण के लिए उनके भिक्षु-शिष्य भी लोगों को यही प्रज्ञापित करते थे।

भदंत कात्यायन अपने भिक्षु-पूर्व जीवन में अवंतिराज के ब्राह्मण राजपुरोहित के पुत्र थे। भगवान के संपर्क में आकर गृहत्यागी भिक्षु हुए और समय पाकर अरहंत हुए। वे अपनी मातृभूमि में धर्म सिखाने के लिए गये हुए थे। देश के राजा ने सुना, तो उनके दर्शनार्थ वहां गया जहां वे ठहरे हुए थे।

अभिवादन कर राजा ने प्रश्न किया – ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ, शुद्ध हैं बाकी सभी वर्ण नीच और अशुद्ध हैं, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। इस बारे में आपका क्या मत है?

कात्यायन ने इसे महज हल्ला-गुल्ला बताया, हो-हल्ला बताया। बताया कि यह किसी इकतरफा प्रचार का तुमुल घोष मात्र है, जो वास्तविकता से बिल्कुल परे है।

उन्होंने अवंति-नरेश को समझाते हुए कहा कि सामान्य लोक व्यवहार के क्षेत्र में भी मात्र ब्राह्मण ही श्रेष्ठ कहां है? किसी भी वर्ण का व्यक्ति यदि धन-सत्ता संपन्न हो, तो वह अपनी सेवा के लिए चारों वर्णों में से किसी को भी नौकर रख सकता है और रखता ही है। उस पर कहीं कोई प्रतिबंध नहीं है। चारों वर्णों के लोग अपनी आजीविका के लिए किसी के यहां भी वेतनभोगी होकर सेवा करते हैं। किसी भी वर्ण के धनी मालिक का नौकर चाहे जिस वर्ण का हो, मालिक के प्रति खुशामदी और प्रियवादी ही होता है।

अतः वास्तविकता के धरातल पर इन चारों वर्णों में कहां भेद है? भेद-भाव की सारी बातें निरर्थक घोष मात्र हैं, हो-हल्ला मात्र हैं।

फिर कात्यायन ने अवंति-नरेश से पूछा –

चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का व्यक्ति चोरी करते हुए पकड़ा जाए तो तुम उसे वही दंड दोगे जो एक चोर को दिया जाता है अथवा उसका वर्ण देख कर दंड देने में भेदभाव बरतोगे?

अवंति-नरेश ने कहा – अपराधी व्यक्ति मेरे लिए चोर ही है। न वह ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र। इसलिए जो सजा एक चोर को दी जानी चाहिए, वही उसे मिलेगी। राज्य की दंड संहिता में वर्ण को लेकर कोई भेदभाव नहीं होता।

फिर कात्यायन ने पूछा कि किसी भी वर्ण का कोई व्यक्ति घर-बार छोड़ कर संन्यासी हो जाय और त्याग, तपस्या का जीवन जीने लगे, तो तुम उसका सम्मान करते हुए क्या पहले यह देखोगे कि यह किस वर्ण से संन्यासी हुआ है?

अवंति-नरेश ने स्वीकार किया कि संन्यासी 'संन्यासी' है। यदि शीलवान है, सदाचारी है, त्यागी है, तपस्वी है, तो उसने चाहे जिस वर्ण से घर त्यागा हो, वह सम्मान का पात्र है।

इस पर कात्यायन ने कहा कि इससे भी समझना चाहिए कि यह मात्र प्रचार का हो-हल्ला ही है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, अन्य नहीं।

इसी प्रकार कोई किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, यदि वह दुष्ट, दुराचारी, दुर्जन है तो मर कर नरक में ही जाएगा। यदि वह शिष्ट, सदाचारी और सज्जन है तो मर कर स्वर्ग में ही जाएगा।

अतः यह मात्र हो-हल्ला है, इकतरफा मिथ्या प्रचार का घोष मात्र है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं, शुद्ध हैं, अन्य नहीं।

सेना में भर्ती

इसी प्रकार भगवान ने भी बहुत मैत्रीपूर्ण चित्त से यही समझाया कि जिस राजा को अपनी सेना के लिए सैनिकों को भर्ती करना हो, वह यह नहीं देखता कि किस वर्ण के लोग सेवा में लिए जायँ। किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, यदि वह बलवान है, हथियार चलाने में कुशल है, तो उसे सेना में भर्ती कर ही लिया जाता है। अतः महत्ता गुणों की होती है, योग्यता की होती है, जाति की नहीं।

एक बार किसी प्रसंग में भगवान ने कोशलेश प्रसेनजित से पूछा – मान लो कोई युद्ध छिड़ जाय। आपको सेना बढ़ानी हो। सेना में भर्ती होने के लिए आपके पास कोई क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण या शूद्र आये, जिसने शस्त्र विद्या खूब सीखी हो, परंतु हो बड़ा कायर, डरपोक; युद्ध में पीठ दिखाने वाला, तो क्या आप उसे सेना में भर्ती करेंगे?

–"नहीं, भंते, कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति मेरे किस काम का?"

–"इसी प्रकार महाराज, किसी भी वर्ण का व्यक्ति आपके पास आये और वह शस्त्र विद्या में निपुण हो, साथ-ही-साथ बलवान हो, निर्भय हो, युद्ध में पीठ न दिखाने वाला हो, तो क्या आप उसे सेना में भर्ती कर लेंगे?

–"निश्चय ही, भंते, जो व्यक्ति मेरे काम का होगा, उसे मैं सेना में भर्ती कर लूंगा। इस मामले में मैं जाति, गोत्र, वर्ण नहीं देखूंगा। इसमें जाति क्या करेगी?"

इस पर भगवान ने कहा –

इस्सत्तं बलवीरियञ्च, यस्मिं विज्जेथ माणवे।
तं युद्धत्थो भरे राजा, नासूरं जातिपच्चया॥ (सं० नि० १.१.१३५, इस्सत्तसुत्त)

– जिस युवक में (धनुर्विद्या पर) स्वामित्व है, बल है, वीर्य है, राजा उसी को युद्ध के लिए सेना में भर्ती करेगा, महज जाति के कारण किसी बलहीन को नहीं।

पांच प्रकार के ब्राह्मण

द्रोण नामक एक ब्राह्मण भगवान से विवाद करने आया। उसके पूछने पर भगवान ने कहा – अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप और भृगु जो कि ब्राह्मण-परंपरा के ग्रंथों के रचयिता थे, उन्होंने पांच प्रकार के ब्राह्मण बतलाये हैं। यथा –

(१) ब्रह्मसम, (२) देवसम, (३) मर्यादावान, (४) मर्यादा भंजक और (५) ब्राह्मण चांडाल।

(१) ब्रह्मसम ब्राह्मण

यह माता-पिता दोनों ओर से सुजात, माता-पिता की सात पीढ़ियों तक शुद्ध रक्त वाला होता है। अड़तालीस वर्ष की उम्र तक आचार्य के पास ब्रह्मचर्यवास करते हुए मंत्र पढ़ता है। पढ़ाई पूरी कर गुरु-दक्षिणा के लिए किसी व्यापार-धंधे से, अस्त्र-शस्त्र से या सरकारी नौकरी से नहीं, बल्कि लोगों से भिक्षा मांग कर धन एकत्र करता है। यों गुरु-दक्षिणा के ऋण से मुक्त होकर, गृहस्थ-धर्म में प्रवेश न कर प्रव्रजित होता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ब्रह्म-विहारों की साधना-भावना में रत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मरने पर सुगति को प्राप्त हो ब्रह्मलोक में जन्म लेता है। इस कारण यह ब्राह्मण ब्रह्मसम होता है।

(२) देवसम ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास में बिता कर भिक्षाटन द्वारा धन प्राप्त कर गुरु-दक्षिणा के ऋण से उऋण होता है। यह संन्यासी होने की अपेक्षा गृहस्थ होता है और अपने लिए धर्म से भार्या खोजता है। क्रय-विक्रय से नहीं बल्कि पात्र में जल छोड़ कर धर्मपूर्वक दी गयी ब्राह्मणी ही खोजता है, न क्षत्रियाणी, न वैश्याणी, न शूद्राणी, न चांडालिनी, न निषादिनी, न बांस के सामान बनाने वाली, न रथकारिणी और न पुक्कुसी। यह अपनी विवाहिता ब्राह्मणी के पास उस समय नहीं जाता है, जबकि वह गर्भिणी हो, स्तनपायिनी हो अथवा रजस्वला हो। यह पुत्र या पुत्री उत्पन्न कर संन्यास ले लेता है और प्रथम से चतुर्थ ध्यान का अभ्यास करता है। ऐसा व्यक्ति मरने पर सुगति प्राप्त करता है, देवलोक में जन्मता है। ऐसा ब्राह्मण देवसम होता है।

(३) मर्यादावान ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य का वास कर आचार्य-दक्षिणा चुका कर गृहस्थ जीवन अपनाता है। धर्मपूर्वक भार्या लाता है। वह पुत्र या पुत्री उत्पन्न करके भी घर-बार नहीं त्यागता। जीवन भर पुराने ब्राह्मणों की मर्यादानुसार गृहस्थ जीवन जीता है। मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसा ब्राह्मण ब्राह्मण-मर्याद होता है।

(४) मर्यादा को तोड़ने वाले ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास कर शिक्षा पूरी होने पर आचार्य-दक्षिणा चुकाता है। फिर भार्या खोजता है। यह किसी प्रकार से भी भार्या प्राप्त करता है; धर्म से भी अथवा अधर्म से भी, क्रय से भी, अथवा विक्रय से भी। यह ब्राह्मणी के पास भी जाता है, क्षत्रियाणी के पास भी और उसके पास भी जो रजस्वला हो। इसकी ब्राह्मणी भार्या केवल काम-क्रीड़ा के लिए ही होती है। पुराने ब्राह्मणों की जो मर्यादाएं थीं, उन्हें यह तोड़ता है। ऐसा ब्राह्मण संभिन्न-मर्याद याने मर्यादा भंजक ब्राह्मण कहलाता है।

(५) चांडाल ब्राह्मण

यह भी औरों की भांति अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन कर आचार्य से पूरी शिक्षा प्राप्त कर उसे आचार्य-दक्षिणा देता है, जो कि धर्म से भी प्राप्त करता है अथवा अधर्म से भी। यह जो भार्या खोजता है, वह धर्म से अथवा अधर्म से भी। यह गर्भिणी के पास भी जाता है, रजस्वला के पास भी। इसकी ब्राह्मणी काम-क्रीड़ा के लिए ही होती है। यह हर प्रकार के अच्छे बुरे काम करके अपनी आजीविका चलाता है और लोगों से कहता है कि जैसे आग शुचि को भी जला देती है, अशुचि को भी जला देती है पर स्वयं अशुद्ध नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण सब प्रकार के कामों से जीविका उपार्जन करके भी अशुद्ध नहीं होता। ऐसा ब्राह्मण चांडाल ब्राह्मण कहलाता है।

भगवान ने द्रोण से पूछा कि अब तुम बताओ, इन पांचों ब्राह्मणों में से तुम किस श्रेणी के ब्राह्मण हो?

बेचारा द्रोण खिसिया गया। उसने यही कहा कि मैं तो चांडाल-ब्राह्मण की श्रेणी में भी नहीं आ पाऊंगा। उन दिनों अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास की परंपरा ही नष्ट हो चुकी थी।

पशुओं से भी हीन

एक अवसर पर भगवान ने कहा–

पूर्व काल के ब्राह्मणों ने जो पांच धर्म गिनाये, वे उनका पालन करते थे। वैसे तो ये पांचों धर्म कुत्ते आदि पशुओं में भी हैं, पर आज के ब्राह्मणों में तो वे भी नहीं रहे।

(१) पुराने ब्राह्मण केवल ब्राह्मणी के पास जाते थे, अन्य के पास नहीं। परंतु आजकल अब्राह्मणी के पास भी जाते हैं, जबकि पशु अपनी ही जाति की मादा के पास जाता है। जैसे कुत्ता कुतिया के पास, अकुतिया के पास नहीं।

(२) पुराने ब्राह्मण रजस्वला के पास नहीं जाते थे। परंतु आज रजस्वला के पास भी जाते और उसके पास भी जो रजस्वला न हो। जबकि पशु केवल उसी समय मादा के पास जाते हैं जबकि वह गर्भाधान के योग्य हो।

(३) पुराने ब्राह्मण ब्राह्मणी को न खरीदते थे, न बेचते थे। परस्पर प्रेम से ही सहवास करते थे। परंतु आज के ब्राह्मण खरीदते भी हैं, बेचते भी हैं। प्रेम से भी और अप्रेम से भी सहवास करते हैं; जबकि पशु न खरीदते हैं, न बेचते हैं और प्रेम से ही सहवास करते हैं।

(४) पुराने ब्राह्मण सोना, चांदी, धन आदि का संचय, संग्रह, परिग्रह नहीं करते थे। परंतु आज के ब्राह्मण यह सब करते हैं; जबकि पशु इस प्रकार का कोई संग्रह, परिग्रह नहीं करते।

(५) पुराने ब्राह्मण सुबह का भोजन सुबह और शाम का भोजन शाम को मांग कर ले आते थे। आज के ब्राह्मण पेट भर खाकर, शेष बांध कर साथ ले जाते हैं। पशु इस प्रकार नहीं करते। वह सुबह का भोजन सुबह और शाम का भोजन शाम को ही खोजते हैं।

पूर्वकाल के ब्राह्मणों के मुकाबले आज के ब्राह्मणों की कैसी दयनीय दशा हो गयी है। ब्राह्मणों को ऐसी दयनीय दशा से उबारने के लिए ही भगवान ने करुण चित्त से चातुर्वर्णी शुद्धि का अभियान चलाया।

शील और प्रज्ञा बिना ब्राह्मण नहीं

सोणदंड

एक बार भगवान अंग देश के चंपा नगर में ठहरे हुए थे। अनेक लोगों को भगवान के दर्शनार्थ जाते देख कर स्थानीय ब्राह्मणों का नेता सोणदंड भी अपने अनेक संगी-साथियों सहित भगवान से मिलने आया।

कथा-संलाप में भगवान ने उससे पूछा –

कतिहि पन, ब्राह्मण, अङ्गेहि समन्नागतं ब्राह्मणा ब्राह्मणं पञ्ञपेन्ति? (दी० नि० १.३०९, सोणदण्डसुत्त)

– हे ब्राह्मण, कितने अंगों से युक्त होने पर ब्राह्मण लोग किसी व्यक्ति को ब्राह्मण प्रज्ञापित करते हैं?

सोणदंड ने उत्तर दिया – पांच। उसने ब्राह्मणों के पांचों गुणों की व्याख्या इस प्रकार की –

(१) माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक जातिवाद के अनुसार सुजात हो, शुद्ध हो।

(२) अध्यायक यानी अध्ययनशील हो, वेदपाठी हो। समस्त वैदिक साहित्य में पारंगत हो।

(३) अभिरूप यानी दर्शनीय, परम सौंदर्य से युक्त हो, गौर-वर्ण हो।

(४) शीलवान हो, सदाचारी हो।

(५) पंडित हो, प्रज्ञावान हो, मेधावी हो।

भगवान ने पूछा – इन पांच अंगों में एक न भी हो तो क्या वह ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने उत्तर दिया - हां, यदि गौर वर्ण न हो, तो भी बाकी चार अंगों से युक्त होने पर वह ब्राह्मण माना जायेगा।

(ब्रह्मर्षि कालदेवल गौर वर्ण नहीं बल्कि काला था। इसीलिए असित देवल कहलाता था। परंतु ब्राह्मणों का अग्रणी था, पूज्य था।)

भगवान ने फिर पूछा - क्या इन चार अंगों में से भी एक अंग न हो तो ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने फिर उत्तर दिया - हां, यदि सारे वैदिक साहित्य में पारंगत न भी हो, तो भी बाकी तीन अंगों के कारण ब्राह्मण माना जायेगा।

(ऐसे ब्राह्मणों की संख्या कम नहीं थी जो खेती-बाड़ी में लगे थे और वैदिक साहित्य में पारंगत नहीं थे।)

भगवान ने फिर पूछा – बाकी बचे तीन अंगों में से भी यदि एक अंग न हो तो भी क्या ब्राह्मण माना जायेगा?

सोणदंड ने कहा – हां, यदि जातिवाद के नियमों के अनुसार सात पीढ़ियों तक संशुद्ध न हो, तो भी बाकी अंगों से युक्त होने के कारण ब्राह्मण कहलायेगा।

(अनेक ब्राह्मण अब्राह्मणियों से विवाह करते थे, उनकी संतान ब्राह्मण ही मानी जाती थी।)

यह सुन कर साथ आयी ब्राह्मण-मंडली घबरायी। सोणदंड को कोसने लगी कि वह भगवान की ही मान्यता में बह गया क्योंकि उसने जातिवाद को महत्त्वहीन बता दिया। जन्म को महत्त्व न देकर उसने गुणों को महत्त्व दे दिया। सोणदंड ने उन्हें समझाते हुए कहा कि जाति इसमें क्या करेगी? प्रमुख तो शील और मेधा यानी प्रज्ञा ही है। साथ आये हुए अपने भानजे माणवक की ओर संकेत करते हुए उसने कहा कि यह मेरा भानजा गौर वर्ण भी है, वेदपाठी भी है। माता-पिता तथा उनके सात पीढ़ियों तक जातिवाद की मान्यता के कारण अत्यंत शुद्ध भी है। परंतु यदि यह दुःशील, दुराचारी हो तो केवल वर्ण, वेद-पठन और संशुद्ध जाति इसका क्या उपकार करेगी। शीलवान और प्रज्ञावान होगा, तो ही सही माने में पूजनीय ब्राह्मण होगा।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि यदि इन दो अंगों में से भी एक छोड़ दिया जाय तो शेष बचे एक अंग से क्या यह व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने योग्य है?

इस पर सोणदंड ने कहा – नहीं, शील और प्रज्ञा दोनों का होना अत्यंत आवश्यक है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे के उपकारक हैं।

भगवान ने सोणदंड का अनुमोदन किया और कहा –

एवमेतं, ब्राह्मण, एवमेतं, ब्राह्मण। (दी० नि० १.३१७, सोणदण्डसुत्त)

– ऐसा ही है, ब्राह्मण, ऐसा ही है, ब्राह्मण।

सचमुच शील और प्रज्ञा एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे के उपकारक हैं। लेकिन शील और प्रज्ञा की प्रशंसा, प्रशस्ति कर देने मात्र से बात नहीं बनती। लाभ तभी होता है जब उन्हें धारण किया जाता है। धारण करने के लिए समझना होता है कि शील और प्रज्ञा क्या हैं और किस प्रकार शील का पालन तथा प्रज्ञा का विकास किया जा सकता है। भगवान यही करना सिखाते थे, जबकि अन्य लोग इनका केवल गुणगान गाकर रह जाते थे।

भगवान की वाणी में शुद्ध धर्म की सच्चाई थी, अकाट्य युक्तियों का बल था और इनसे भी बढ़ कर कल्याणी करुणा की वर्षा थी, जो बड़े से बड़े विरोधी के भी हथियार गिरा देती थी; क्योंकि भगवान की कल्याणी करुणा उस विरोधी के प्रति ही प्रकट होती थी। भगवान की वाणी वाद-विवाद द्वारा किसी को नीचा दिखाने के लिए नहीं होती थी। वह भटके हुए लोगों के कल्याण के लिए होती थी। इस कल्याण-कामना का कोई क्या विरोध करता? ब्राह्मण नेता सोणदंड भगवान बुद्ध का परम श्रद्धालु उपासक बन गया।

जो व्यक्ति सर्वहितकारिणी वाणी बोले, सर्वहितकारी कर्म करे, लोगों के लिए उसका अनुयायी बन जाना सहज स्वाभाविक है। भगवान नितांत निःस्वार्थ भाव से यही करते थे। धर्म की गाड़ी पटरी से उतर चुकी थी। लोग धर्म की चर्चा भले कर लें पर धारण करना छोड़ चुके थे, क्योंकि धारण कैसे करें, यही भूल चुके थे। जब धर्म धारण ही नहीं करते तो अपनी मिथ्या आत्म-तुष्टि के लिए धर्म के नाम पर किसी निस्सार छिलके को ही जोरों से पकड़ कर उसी में अपना कल्याण देखने लगते हैं। और यही हो रहा था। लोग परम पुनीत सनातन आर्य धर्म छोड़ कर अनार्य हुए जा रहे थे और अपना अमंगल कर रहे थे।

धनंजानि

ब्राह्मणी धनंजानि भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थी। शील, समाधि, प्रज्ञा को धारण करने वाली थी। उसका कुछ कुछ प्रभाव उसके पति तथा परिवार पर भी पड़ा। परंतु जब उसका शरीर शांत हुआ तब ब्राह्मण धनंजानि ने दूसरा विवाह कर लिया। यह नवोढ़ा पत्नी धर्म से सर्वथा दूर थी। अब धनंजानि पर इसका प्रभाव अधिक पड़ने लगा। उसका शुद्ध होता हुआ जीवन फिर दूषित होने लगा। वह भदंत सारिपुत्त का पूर्व शिष्य था। अतः वे उसका विशेष ख्याल रखते थे। एक बार भदंत सारिपुत्त ने किसी भिक्षु से पूछा –

"क्या धनंजानि अप्रमाद का जीवन जी रहा है?"

कुतो, पनावुसो, धनञ्जानिस्स ब्राह्मणस्स अप्पमादो?

– आवुस, कहां है ब्राह्मण धनंजानि का अप्रमाद?

धनञ्जानि, आवुसो, ब्राह्मणो राजानं निस्साय ब्राह्मणगहपतिके विलुम्पति,

– हे आवुस, अब तो धनंजानि ब्राह्मण राजा का सहारा लेकर ब्राह्मण गृहस्थों को ठगता है, लूटता है और

ब्राह्मणगहपतिके निस्साय राजानं विलुम्पति। (म० नि० २.४४५, धनञ्जानिसुत्त)

– गृहस्थ ब्राह्मणों का सहारा लेकर राजा को ठगता है, लूटता है।

यानी फिर उसी ठगविद्या में पड़ गया है और अपना तथा औरों का अनर्थ कर रहा है। यह सुन कर महाकारुणिक भगवान के परम शिष्य करुणावंत सारिपुत्त राजगृह आये और ब्राह्मण धनंजानि के यहां गये।

अवसर पाकर भदंत सारिपुत्त ने ब्राह्मण धनंजानि को धर्म-देशना देते हुए समझाया कि तुम्हारा दुष्कर्म तुम्हारे लिए ही हानिकारक होगा। दुष्फल आने पर अन्य कोई हाथ बटाने नहीं आयेगा।

कुछ समय के बाद ब्राह्मण धनंजानि बहुत बीमार पड़ा। मरणांतक पीड़ा से पीड़ित हुआ। उसने भगवान को अपना नमन अभिवादन कहलवाया और भदंत सारिपुत्त को बुलवा भेजा। भगवान की आज्ञा लेकर सारिपुत्त ब्राह्मण धनंजानि के यहां गये। सारिपुत्त ने मरणासन्न अवस्था में पड़े ब्राह्मण धनंजानि की धर्म-स्मृति जगायी। उसे ब्रह्म-विहार की साधना-भावना का अभ्यास कराया। इसका अभ्यास करते-करते उसकी शरीर-च्युति हुई और वह ब्रह्मलोक में जन्मा। उसका यह लोक भी सुधरा, परलोक भी सुधरा।

यों भगवान बुद्ध और उनके शिष्य बिगड़े हुए लोगों को सुधारने का ही काम करते थे। इसीलिए लोग उनकी ओर खिंचे चले आते थे।

जिज्ञासु मुमुक्षु जनता

भगवान की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी कि वे स्वयं मुक्त हैं और लोगों को मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं। बहुत बड़ी संख्या में लोगों ने स्वीकार कर लिया था कि भगवान स्वयं भवतीर्ण हैं और भव-तरने की शिक्षा देते हैं। दूर-दूर से लोग उनसे मिलने आते थे और कोई-कोई इस प्रकार सादर संबोधन कर उनसे प्रश्न पूछता था –

पुच्छामि मुनिं पहूतपञ्ञं, तिण्णं पारङ्गतं परिनिब्बुतं ठितत्तं। (सु० नि० ३६१, सम्मापरिब्बाजनीयसुत्त)

– भवसिंधु से तरे, पार गये, परिनिवृत्त हुए, स्थितात्म महाप्रज्ञ मुनि से मैं पूछता हूं।

दूर-दराज दक्षिण के गोदावरी-तट पर रहने वाले शतायु ब्राह्मण बावरी ने अपने सोलह मूर्धन्य शिष्यों को भगवान से मिलने भेजा, जिन्होंने बारी बारी से प्रश्न पूछे–

पुण्णकमाणवपुच्छा

अनेजं मूलदस्साविं, अत्थि पञ्हेन आगमं। (सु० नि० १०४९, पुण्णकमाणवपुच्छा)

– हे तृष्णा से अविचलित, हे मूलदर्शी, मैं आपके पास प्रश्न पूछने आया हूं।

मेत्तगूमाणवपुच्छा

पुच्छामि तं भगवा ब्रूहि मेतं, मञ्ञामि तं वेदगुं भावितत्तं। (सु० नि० १०५५, मेत्तगूमाणवपुच्छा)

– हे भगवान, आपसे पूछता हूं, मुझे बतायें। मैं आपको वेदगू और आत्मसंयमी मानता हूं।

जतुकण्णिमाणवपुच्छा

सुत्वानहं वीरमकामकामिं, ओघातिगं पुट्ठुमकाममागमं। (सु० नि० ११०२, जतुकण्णिमाणवपुच्छा)

– हे वीर, आप निष्काम हैं और भव-प्रवाह को पार कर चुके हैं। आपके विषय में ऐसा सुनकर मैं यह प्रश्न पूछने आया हूं।

भद्रावुधमाणवपुच्छा

ओकञ्जहं तण्हच्छिदं अनेजं, नन्दिञ्जहं ओघतिण्णं विमुत्तं।
कप्पञ्जहं अभियाचे सुमेधं, सुत्वान नागस्स अपनमिस्सन्ति इतो॥

(सु० नि० ११०७, भद्रावुधमाणवपुच्छा)

– गृहत्यागी, तृष्णानाशी, अचंचल, आसक्ति-विहीन, भवसागर-तीर्ण, विमुक्त और संसारत्यागी सुमेध ज्ञानी से मैं याचना करता हूं। आप निष्पाप का उपदेश सुन कर ही हम यहां से हटेंगे।

उदयमाणवपुच्छा

झायिं विरजमासीनं, कतकिच्चं अनासवं।
पारगुं सब्बधम्मानं, अत्थि पञ्हेन आगमं॥ (सु० नि० ११११, उदयमाणवपुच्छा)

– ध्यानी, विमलता में स्थित, कृत-कृत्य, क्षीणास्रव, सब धर्मों के जानकार, मैं आपसे प्रश्न पूछने आया हूं।

पोसालमाणवपुच्छा

यो अतीतं आदिसति, अनेजो छिन्नसंसयो।
पारगुं सब्बधम्मानं, अत्थि पञ्हेन आगमं॥ (सु० नि० ११११८, पोसालमाणवपुच्छा)

– हे अतीतदर्शी, तृष्णारहित, छिन्न-संशय, सब धर्मों में पारंगत, मैं आपसे प्रश्न पूछने आया हूं।

इन थोड़े से उद्धरणों से स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान ब्राह्मणों का दूषण दूर करने के लिए उनकी मिथ्या मान्यताओं का जोरदार खंडन करते थे, फिर भी समूह के समूह जाने माने ज्ञानी ब्राह्मण अत्यंत श्रद्धा के साथ उनसे धर्म-संबंधी प्रश्न पूछने आते थे। स्पष्ट है कि वे लोग विवाद करने नहीं आते थे। उन्हें भगवान की विमुक्त अवस्था के बारे में कोई संदेह नहीं था। उन्हें भगवान की वाणी पर पूर्ण विश्वास था। अतः केवल उनसे अपनी शंकाओं का समाधान कराने आते थे। अपनी भव-मुक्ति के लिए मार्ग निर्देशन प्राप्त करने आते थे।

भगवान के मन में ब्राह्मणों के प्रति रंचमात्र भी द्वेष और दुर्भावना नहीं थी। वे विद्याचरणसंपन्न थे। अतः अपनी प्रज्ञाजन्य विद्या द्वारा उनकी वर्तमान दयनीय अवस्था को खूब जान चुके थे और आचरणजन्य करुणा द्वारा उन्हें इस दयनीय अवस्था से उबारने के लिए हर संभव प्रयत्न करते थे। उन्हें मंगल उपदेश देते थे। जाति और वर्ण से संबंधित उनका मिथ्या दंभ तोड़ते थे।

जाति, वर्ण, गोत्र, कुल को धर्म के साथ जोड़ कर अज्ञानी लोगों ने केवल अपनी ही हानि नहीं की, बल्कि समाज के बड़े भाग को अत्याचारों का शिकार बनाया। जाति, वर्ण, आदि का भेदभाव, छुआछूत का रोग सारे समाज के लिए कोढ़ स्वरूप बन गया था। सारे राष्ट्र के लिए कलंक-स्वरूप बन गया था, क्लेश-स्वरूप बन गया था। इस बहुसंख्यक वर्ग की मेधा, प्रतिभा, कार्य-कुशलता सुनियोजित ढंग से कुंठित की गयी। उन्हें कभी विकास का मौका ही नहीं दिया गया। उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिछड़े ही बने रहने के लिए मजबूर किया गया।

उन विद्याचरणसंपन्न, महान कारुणिक, शल्यकर्ता (सर्जन) ने मैत्री चित्त से इस वैयक्तिक और सामाजिक सड़े-गले फोड़े पर नश्तर लगाया। व्यक्ति के लिए विमुक्ति के मार्ग में बाधक बनी इस विषैली मान्यता को और सारे समाज के लिए घोर पीड़ा और अशांति का कारण बनी इस दूषित व्यवस्था को बदलने का उन्होंने अथक परिश्रम किया। इस पुनीत कार्य में हजारों की संख्या में सुधी ब्राह्मणों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। कुछ एक प्रारंभिक कठिनाइयों के बावजूद बुद्ध अपने मांगलिक अभियान में दृढ़तापूर्वक लगे रहे। धीरे-धीरे यह बात लोगों की समझ में आने लगी कि वे न किसी वर्ग के अनुचित हिमायती हैं और न किसी वर्ग के विरोधी। उन्हें विरोध केवल दूषण से है। उसे ही दूर करने का वे भरसक प्रयत्न करते हैं।

वे सर्वज्ञ थे, सम्यक संबुद्ध थे। अतः अपने प्रबुद्ध ज्ञान से खूब समझ गये थे कि कोई व्यक्ति उच्चवर्णी होने का कितना ही दंभ भरे, अपने को हजार शुद्ध, स्वच्छ माने पर अशुद्ध चित्त होने से सर्वथा अशुद्ध ही है। चित्त शुद्ध किये बिना वह दु:खों से विमुक्त नहीं हो सकता। उसकी वास्तविक शुद्धि उसकी चित्त-विशुद्धि में ही है। यही बात जब वे अत्यंत करुणा-विगलित वाणी में समझाते थे, तो विरोधियों का विरोध स्वतः दूर हो जाता था। उनकी किसी भी प्रक्रिया में औरों को नीचा दिखा कर स्वयं को ऊंचा दिखाने की चेष्टा नजर नहीं आती थी। वे अध्यात्म के क्षेत्र में गिरे हुए लोगों को बड़े प्यार से हाथ का सहारा देकर ऊपर उठाने की ही

चेष्टा करते रहते थे। उन्हें पुराने जमाने के ब्राह्मणों की नैतिकता और आध्यात्मिक महानता का खूब बोध था। उनकी गिरी हुई वर्तमान स्थिति की भी पूर्ण जानकारी थी। अतः समय समय पर इन दोनों तथ्यों को उजागर कर वे उनका होश जगाने का सत्प्रयत्न करते रहते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग

भगवान श्रावस्ती में थे। उस समय अनेक कोशलवासी युवा और वृद्ध धनी ब्राह्मण भगवान से मिलने आये और कुशल मंगल पूछ कर एक ओर बैठ गये। उन्होंने भगवान से पूछा कि क्या इन दिनों पुरातन ब्राह्मण धर्म के अनुसार जीवन जीने वाले ब्राह्मण दीखते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया– इन दिनों ऐसे ब्राह्मण नहीं दीखते।

इस पर उन ब्राह्मणों ने पुराने ब्राह्मणों की चर्या के विषय में भगवान से जानना चाहा। भगवान ने उसका प्रज्ञापन करते हुए बताया–

पुराने ब्राह्मण ऋषि आत्मसंयत और तपस्वी होते थे। वे पांच प्रकार के इंद्रिय-सुखों को त्याग कर आत्मकल्याण के काम में लगे रहते थे।

उन ब्राह्मणों के पास न पशु होते थे, न हिरण्य और न धान्य। स्वाध्याय यानी 'स्व' का अध्ययन ही उनका धन-धान्य था और वे इस ब्रह्म-निधि का पालन करते हुए इसकी सुरक्षा करते थे।

लोग श्रद्धा से उनके लिए भोजन तैयार कर द्वार पर रखे रहते थे। मांग करने पर योग्य समझ कर उन्हें दान देते थे।

समृद्ध जनपदों और राष्ट्रों के लोग नाना प्रकार के रंगीन वस्त्रों, शयनों और निवास-स्थानों का दान देकर उन्हें पूजते थे।

ब्राह्मण अवध्य थे, अजेय थे, धर्म-रक्षित थे। सभी परिवारों के गृहद्वारों पर उनके प्रवेश के लिए कोई रोक नहीं थी।

पुराने समय के ब्राह्मण अड़तालीस वर्षों तक बाल-ब्रह्मचारी रहते थे तथा विद्या और आचरण की गवेषणा में विचरण करते थे।

गृही जीवन के लिए वे ब्राह्मण न किसी अन्य स्त्री के पास जाते थे और न अपने लिए खरीद कर भार्या लाते थे। परस्पर प्रेमवाली के साथ ही सहवास करना उन्हें प्रिय था।

ऋतुकाल को छोड़कर बीच के निषिद्ध समय में ब्राह्मण कभी मैथुन कर्म नहीं करते थे।

वे ब्रह्मचर्य, शील, सरलता, नम्रता, तप, सौजन्य, अहिंसा तथा क्षमा के प्रशंसक थे।

उनमें से वह जो ब्रह्मा कहलाते थे, गृहस्थ जीवन में प्रवेश ही नहीं करते थे और आजीवन अखंड ब्रह्मचर्य का जीवन जीते थे। वह स्वप्न में भी मैथुन नहीं करते थे।

उनके आचरण का अनुसरण करने वाले अन्य अनेक विज्ञ लोग ब्रह्मचर्य, शील और क्षमा के प्रबल प्रशंसक थे।

वे धार्मिक रीति से चावल, शय्या, घी, तेल मांग कर लाते और यज्ञ करते थे।

भगवान ने यह भी बताया कि–

उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं, नास्सु गावो हनिंसु ते।

– यज्ञ उपस्थित होने पर वे गायों का वध नहीं करते थे।

और तदनंतर भगवान ने गायों के प्रति अपना प्यार प्रदर्शित करते हुए कहा–

यथा माता पिता भाता, अञ्ञे वापि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता, यासु जायन्ति ओसधा॥

– माता, पिता, भाई तथा अन्य बंधुओं सदृश गायें हमारी परम मित्र हैं। उनसे (उनके गोबर की खाद से और उनके बछड़ों-बैलों द्वारा हल जोतने से) वनस्पति तथा औषधियां उत्पन्न होती हैं।

अन्नदा बलदा चेता, वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थवसं ञत्वा, नास्सु गावो हनिंसु ते॥

– ये अन्न, बल, वर्ण तथा सुख देने वाली हैं, ऐसा समझ कर वे गायों का वध नहीं करते थे।

भगवान ने आगे समझाया–

सुखुमाला महाकाया, वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि, किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु, सुखमेधित्थयं पजा। (सु० नि० २९८-३००, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

– सुकुमार, महाकाय, वर्णवंत, यशस्वी ब्राह्मण अपने धर्मों के साथ जब कर्तव्याकर्तव्य में तत्पर थे, तब तक प्रजा सुखी रही।

परंतु दुर्भाग्य से यह अवस्था बिगड़ी। ब्राह्मण तप और त्याग के प्राचीन नैतिक जीवन से पतित हुए। उनके क्रमिक अध:पतन का एक बड़ा सजीव चित्र भी भगवान ने प्रस्तुत किया। यथा–

धीरे-धीरे राजा की विशाल संपत्ति, उसकी समलंकृत स्त्रियों, अच्छे-अच्छे घोड़े-जुते सुंदर बेलबूटेदार रथों और अनेक कमरों वाली कोठियों और भवनों को देख-देख कर उनका मन ललचाया।

उन्हें अपना त्याग तथा तपस्या का सादा जीवन अखरने लगा, उनके मन में कामनाओं के ज्वार उठने लगे।

गोमण्डलपरिब्यूळ्हं, नारीवरगणायुतं।
उळारं मानुसं भोगं, अभिज्झायिंसु ब्राह्मणा॥

– तब उन ब्राह्मणों के मन में गो-मंडल से घिरे, सुंदर नारियों से युक्त विपुल मानुषी भोग की लालसा जागने लगी।

इस तरह पुराने समय के त्यागी सात्त्विक ब्राह्मणों का पतन आरंभ हुआ। उन्होंने ठग विद्या द्वारा राजा को अपने वश में किया।

ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा, ओक्काकं तदुपागमुं।

– तब वे मंत्र रच कर इक्ष्वाकु राजा के पास गये और बोले–

पहूतधनधञ्ञोसि, यजस्सु बहु ते वित्तं, यजस्सु बहु ते धनं।

– तू बहुत धन-धान्य संपन्न है, यज्ञ कर। तू बहुत संपत्तिशाली है, यज्ञ कर।

ततो च राजा सञ्ञत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो।

– उस कारण संयमी रथपति राजा ब्राह्मणों की बातों में आ गया और –

अस्समेधं पुरिसमेधं, सम्मापासं वाजपेय्यं निरग्गळं।
एते यागे यजित्वान, ब्राह्मणानमदा धनं॥

– उसने अश्वमेध, नरमेध, सम्मापास, वाजपेय और निरर्गल नामक यज्ञ किये और पुरोधा ब्राह्मणों को धन दिया।

गावो सयनञ्च वत्थञ्च, नारियो समलङ्कता।
रथे चाजञ्ञसंयुत्ते, सुकते चित्तसिब्बने॥
निवेसनानि रम्मानि, सुविभत्तानि भागसो।
नानाधञ्ञस्स पूरेत्वा, ब्राह्मणानमदा धनं॥ (सु० नि० ३०३-३०७, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

– गायें, पलंग, वस्त्र, समलंकृत स्त्रियां, उत्तम घोड़े-जुते सुसज्जित बेलबूटेदार रथ और धन-धान्य से भरे हुए भव्य भवन उन ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में दिये।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि पूर्वकालीन ब्राह्मण इस प्रकार की विलास की सामग्रियां दान में नहीं लेते थे। त्यागी जीवन के लिए जितनी आवश्यक थी, उतनी ही दक्षिणा स्वीकारते थे। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि राजा को राज्य-वैभव बढ़ने की तथा युद्ध में जीतने की आशाएं बँधा कर ये हिंसक यज्ञ आरंभ किये गये। बदले में स्वयं के लिए विलासमय, वैभवमय जीवन जीने का मार्ग खुला। इस प्रकार त्यागी, तपस्वी ब्राह्मणों का अधःपतन हुआ। इतना ही नहीं, जिसकी एक बार ऊंचाई से फिसलन शुरू हो जाती है, वह न जाने किस गर्त तक जा गिरता है। और यही हुआ। अधःपतन घोर अधःपतन में बदला।

ते च तत्थ धनं लद्धा, सन्निधिं समरोचयुं।

– यों धन प्राप्त होने पर उसे संग्रह, परिग्रह करने का उनका जी चाहा।

जो पहले नितांत अपरिग्रही थे, वे अब परिग्रही होने लगे।

तेसं इच्छावतिण्णानं, भिय्यो तण्हा पवड्ढथ।

– जैसे-जैसे वे इच्छाओं में निमग्न हुए, वैसे-वैसे उनकी तृष्णा और बढ़ती गयी।

ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा, ओक्काकं पुन मुपागमुं।

– तब वे मंत्र रच कर इक्ष्वाकु राजा के पास फिर आये।

(इन नये मंत्रों में अधिक बल है, इनसे राज्य-वैभव और अधिक समृद्ध होगा, ऐसा आश्वासन दिया गया होगा।) एक ओर ब्राह्मणों की तृष्णा बढ़ी। दूसरी ओर राजा की तृष्णा बढ़ी और यज्ञ के नाम पर होने वाला अनर्थ, घोर अनर्थ का रूप लेने लगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि पूर्वकाल के ब्राह्मण निरामिष-भोजी रहे होंगे। हिंसात्मक यज्ञ इसीलिए कराये गये होंगे कि वे भी औरों की भांति मांस-भक्षण कर सकें। सामान्यतया मांस-भक्षण उनके लिए बड़ी लज्जा की बात होती होगी। परन्तु उनके द्वारा यज्ञ के देव-उच्छिष्ट मांस को प्रसाद के रूप में खाया जाना लोगों को बुरा नहीं लगा होगा। इस प्रकार ब्राह्मणों द्वारा

मांस-भक्षण आरंभ हुआ होगा। अन्य प्राणियों का मांस यज्ञ का प्रसाद मान कर खाते-खाते उनके मन में गो-मांस खाने की इच्छा प्रबल हुई होगी। लगता है उस समय तक भारत में कोई गो-वध नहीं करता था। परंतु इन जिव्हा-लोलुप पुरोहितों ने सोचा होगा कि जिस गाय से दूध, दही, मक्खन, घी आदि स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, उसका मांस न जाने कितना स्वादिष्ट होगा। अतः उन्होंने ऐसे मंत्र रचे जो गो-मेध यज्ञ के लिए थे। उन्होंने राजा को आश्वासन दिया होगा कि इन मंत्रों के आधार पर यज्ञ किये जाएं तो उसके राज्य-वैभव में अपार वृद्धि होगी। लोभी पुरोहित और लालची राजा के गठबंधन से देश में पहली बार गो-हत्या हुई।

तब वे नये मंत्र रच कर फिर राजा इक्ष्वाकु के पास गये।

गो-वध के लिए उसके मानस को तैयार करने के लिए दुष्मंत्रणा दी कि–

यथा आपो च पथवी च, हिरञ्ञं धनधानियं,

– जैसे पानी, पृथ्वी, हिरण्य और धन-धान्य हैं,

एवं गावो मनुस्सानं, परिक्खारो सो हि पाणिनं।

– वैसे ही गाय मनुष्यों के लिए है। वह प्राणियों के लिए उपभोग की वस्तु है।

यों प्रेरित कर राजा से गो-वध यज्ञ कराया।

ततो च राजा सञ्ञत्तो, ब्राह्मणेहि रथेसभो,

– उस प्रकार उन ब्राह्मणों की बातों में आकर संयमी रथपति राजा ने,

नेका सतसहस्सियो, गावो यञ्ञे अघातयि।

– अनेक सौ हजार गायों का यज्ञों के लिए हनन करवाया।

ततो देवा पितरो च, इन्दो असुररक्खसा।
अधम्मो इति पक्कन्दुं, यं सत्थं निपती गवे॥

– इस पर देवता, पितर, इंद्र, असुर और राक्षस–

– चीख उठे कि यह बड़ा अधर्म हुआ जो कि गौ पर शस्त्र गिरा।

इससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि इससे पूर्व अपने देश में गो-हत्या नहीं होती थी। गो-हत्या का यह पहला कु-अवसर आया। भगवान बुद्ध को गौ के प्रति बहुत प्यार था। तभी उन्होंने कहा–

न पादा न विसाणेन, नास्सु हिंसन्ति केनचि।

– गौएं किसी की हिंसा नहीं करती हैं; न पांव से, न सींग से, न किसी अन्य अंग से।

गावो एळकसमाना – वे (गायें) भेड़ जैसी (निरीह) होती हैं।

सोरता कुम्भदूहना – भोली होती हैं, दूहने से घड़े भर दूध देने वाली होती हैं।

ता विसाणे गहेत्वान – उन्हें सींग से पकड़ कर,

राजा सत्थेन घातयि – राजा ने शस्त्र से उनका वध करवाया। (सु० नि० ३०८-३१२, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

जब तक यज्ञ अन्न, तिलहन और घृत आदि से होता रहा, तब तक तो गनीमत थी। परंतु जैसे ही यज्ञस्थल ने पशुओं के बूचड़खाने का रूप ले लिया वैसे ही सदाचार का जीवन जीने वाले पूज्य तपस्वी ब्राह्मणों

का जीवन कसाई का सा गर्हित जीवन हो गया और इस हत्या को धर्म का जामा पहनाने के कारण वे साधारण कसाई से भी कहीं अधिक गये-गुजरे हो गये। तदनंतर जब यज्ञस्थल पर गो-वध होने लगा तो उनकी गर्हित अवस्था भयंकर हो उठी। उनके साथ-साथ ऐसे यज्ञ करवाने वाले और उसमें सहयोग देने वाले समाज का भी घोर अधःपतन हुआ, जिससे कि वे असीम दुःख संतप्त हुए।

भगवान ने कहा–

तयो रोगा पुरे आसुं – पहले केवल तीन ही रोग थे,

इच्छा अनसनं जरा – इच्छा, भूख और जरा।

पसूनञ्च समारम्भा – पशुओं की हत्या करने से,

अट्ठानवुतिमागमुं – अट्ठानवे रोग हो गये। (सु० नि० ३१३, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त)

धर्म के नाम पर पशु हत्या आरंभ हुई। यही अनर्थ हुआ, अधर्म हुआ। धर्म के नाम पर जब गो-हत्या आरंभ हुई तब तो घोर अनर्थ हुआ, घोर अधर्म हुआ। धर्म के नाम पर चल रहे इस अधर्म को, अनर्थ को रुकवाना ही भगवान बुद्ध को अभीष्ट था, ताकि जिस दोष में सारा समाज निमग्न हो गया था, उसे दोषमुक्त किया जा सके। जिसके कारण ब्राह्मण समाज का अधःपतन हो गया था, उससे उसे उबारा जा सके। जहां-जहां अवसर आया, भगवान ने इस दूषित प्रथा को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया; प्रज्ञा और करुणा से परिपूर्ण होकर प्रयत्न किया।

अहिंसामय यज्ञ

कूटदंत ब्राह्मण

उन दिनों भगवान बुद्ध मगध की चारिका करते हुए अंबलट्ठिक उद्यान में विहार कर रहे थे। वहां खाणुमत नामक ब्राह्मणग्राम था, जिसे मगधराज बिंबिसार ने कूटदंत ब्राह्मण को जीवन-यापन के लिए प्रदान कर दिया था। इस कारण कूटदंत महाधनसंपन्न था।

उन दिनों ब्राह्मण कूटदंत एक बहुत बड़े यज्ञ की तैयारी में निमग्न था। यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए उसने सैकड़ों गायों, बैलों, बछड़ों, बछड़ियों और भेड़-बकरियों को बांध रखा था। अंबलट्ठिक में भगवान के आगमन की सूचना पाकर वह उनसे मिलने गया।

भगवान ने जब सम्यक संबोधि प्राप्त की थी, तब उन्हें पूर्वजन्म स्मरण की विद्या प्राप्त हुई थी। इस विद्या के बल पर वे अपने अनगिनत पूर्वजन्मों की घटनाओं को चल-चित्र की भांति देख सकते थे। पूर्वकाल के ब्राह्मण कैसे हुआ करते थे, यह उन्होंने इसी विद्या के बल पर जाना था। पूर्वकाल के अहिंसामय यज्ञ कैसे होते थे, यह भी इसी विद्या से जान कर समय-समय पर लोगों को बताते थे। इस कारण उनकी यह भी प्रसिद्धि फैल गयी थी कि वे पूर्व काल की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा को जानते हैं। ब्राह्मण कूटदंत के घर महायज्ञ का आयोजन था, अतः उसने भगवान बुद्ध से पूछा कि पूर्वकाल की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा – **सोळसपरिक्खारा तिविधा यञ्ञ-सम्पदा** – कैसी हुआ करती थी?

भगवान ने पुरातन काल के महाप्रतापी महाराज महाविजित तथा उनके पंडित, ब्राह्मण पुरोहित की वार्ता का उदाहरण देकर अपने विद्याचरण संपन्न चित्त से कूटदंत को प्राचीन भारत की सोलह परिष्कार सहित त्रिविध यज्ञ-संपदा समझायी।

पुराने जमाने में जब कोई राजा बृहद् यज्ञ संपन्न करना चाहता तो राजपुरोहित उस पर रोक लगाता था। यदि राज्य में कहीं भी अराजकता होती, लूटपाट होती, बटमारी होती और लोग अपने आपको असुरक्षित महसूस करते, तो पुरोहित उसे यज्ञ के अनुकूल अवसर नहीं मानता और वह राजा को यज्ञ कराने की अनुमति नहीं देता था।

जिस देश में भुखमरी होगी वहां भूखे लोग राजदंड की परवाह न करके लूटपाट मचायेंगे। एक ओर ऐसी गरीबी हो और दूसरी ओर राजा पुत्र-कलत्र या यश-कीर्ति प्राप्त करने के लिए या पड़ोसी का राज्य छीन कर अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए अथवा शत्रु का नाश करने के लिए यज्ञ करवाये, तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है?

ब्राह्मण पुरोहित ने राजा से कहा कि पहले यह लूटपाट बंद होनी चाहिए। राजा जब दस्युओं को वध, बंधन, देश-निष्कासन आदि दंडों द्वारा समाप्त करने लगा, तब पुरोहित ने फिर रोक लगायी। पुरोहित ने कहा – दंड द्वारा सही सुधार नहीं हो सकता। एक बार दब भी जाय, तो ऐसी अराजकता पुनः पुनः सिर उठाती रहेगी। हो सकता है और भी जोरों से सिर उठाए। उसे संपूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। इसके लिए व्यावहारिक कदम उठाने होंगे। इस निमित्त पुरोहित ने मंत्रणा दी कि प्रजा में जो कृषि की रुचि रखते हैं उन्हें बोने के लिए बीज दें और जब तक फसल तैयार न हो तब तक उनके भोजन पानी का प्रबंध करें। जिनको वाणिज्य की रुचि है उन्हें वाणिज्य करने के लिए पर्याप्त मात्रा में पूंजी प्रदान करें। जो नौकरी करना चाहते हैं उन्हें राज्य की ओर से नौकरी देकर भत्ता, वेतन प्रदान करें। इस प्रकार लोग काम में लग जायेंगे, तो अन्य लोगों को उत्पीड़ित नहीं करेंगे। उनकी आय से राज्य की आय भी बढ़ेगी। देश पीड़ा-रहित, निष्कंटक और क्षेमपूर्ण होगा।

मनुस्सा मुदा मोदमाना उरे पुत्ते नच्चेन्ता अपारुतघरा मञ्ञे विहरन्ति। (दी० नि० १.३३८, कूटदन्तसुत्त)

लोग हर्षित, मुदित, अपने बच्चों को गोद में खेलाते, नचाते हुए घर खुला छोड़ कर विहार करेंगे।

देश में सुरक्षा और निर्भयता फैलेगी क्योंकि देश में बेरोजगारी और भुखमरी नहीं रहेगी और वही महायज्ञ संपन्न करने का अनुकूल समय होगा।

जब ऐसी सुखद सुरक्षा की अवस्था आ जाय तब ही पुरोहित राजा को यज्ञ कराने की मंत्रणा देता था। परंतु यज्ञ के लिए कुछ एक अन्य आवश्यक अपेक्षाएं भी थीं। पुरोहित उनका स्पष्टीकरण करता था।

उन दिनों महायज्ञ करने के पहले देश के चार महत्वपूर्ण संगठनों की अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक थी। यथा – जनपदों और निगमों के क्षत्रिय परिषद, अमात्य परिषद, ब्राह्मण परिषद तथा अन्य गृहस्थ परिषद की अनुमतियां।

ये चारों अनुमतियां यज्ञ की चार परिष्कार-शुद्धियां मानी जाती थीं।

इन चारों परिषदों की अनुमति न हो तो यज्ञ शुद्ध नहीं माना जाता था।

इसके अतिरिक्त यज्ञ करने वाले राजा को आठ अंगों से युक्त होना आवश्यक होता था।

(१) माता और पिता दोनों ओर से सुजात होना।

(२) सुंदर, सुदर्शनीय होना।

(३) शीलवान होना।

(४) प्रभूत धन-धान्य, कोष और कोष्ठागार संपन्न होना।

(५) बलवती चतुरंगिणी सेना से युक्त, तेजस्वी और यशस्वी होना।

(६) श्रद्धापूर्वक दान देने वाला होना।

(७) बहुश्रुत और अर्थज्ञ होना।

(८) मेधावी, पंडित होना।

राजा के ये आठ गुण यज्ञ की आठ परिष्कार-शुद्धियां मानी जाती थीं।

जैसे राजा में, वैसे ही यज्ञ करने वाले पुरोहित में भी ये चार योग्यताएं और सद्गुण होने आवश्यक थे –

(१) माता-पिता दोनों ओर से सुजात।

(२) अध्यायक, मंत्रधर और त्रिवेद पारंगत।

(३) शीलवान।

(४) मेधावी, पंडित।

पुरोहित के ये चार गुण भी यज्ञ की चार परिष्कृतियां यानी शुद्धियां होती थीं।

यों यज्ञ का इन चार जोड़ आठ जोड़ चार यानी सोलह परिष्कारों से, शुद्धियों से परिपूर्ण होना आवश्यक माना जाता था। ऐसे आदर्श यज्ञ की तीन विधाएं और पूरी करनी पड़ती थीं।

(१) यज्ञ केवल पितर और देवों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही नहीं बल्कि राजा की ओर से ब्राह्मणों और अन्य याचकों को भरपूर दान देने के लिए भी किया जाता था। अतः सोलह परिष्कारों से शुद्ध होने के अतिरिक्त राजा को यह भी समझाया जाता था कि इतनी बड़ी धनराशि खर्च करने के कारण दान देने के पूर्व, दान देते हुए या दान देने के पश्चात वह क्षुब्ध न हो, प्रसन्नचित्त ही रहे।

(२) ऐसे यज्ञ में प्रजा की ओर से अनेक लोग सम्मिलित होते थे जिनमें से कुछ शील-सदाचार से परिपूर्ण, तो कुछ अपरिपूर्ण होते थे। राजा को समझाया जाता था कि वह इन शील-विहीन लोगों के प्रति मन में जरा भी द्वेष न उत्पन्न करे। जो सदाचारी हैं, उनके प्रति मन में मोद जगाये और जो सदाचारी नहीं हैं, उनके प्रति उपेक्षा-भाव रखे। उन दिनों ऐसे शुद्ध यज्ञों में गायें, भेड़-बकरियां, मुर्गे, सूअर आदि नहीं मारे जाते थे। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, खांड से ही यज्ञ की पूर्णाहुति होती थी। नौकर-चाकर, दास-दासियों से अश्रुमुख बेगार नहीं ली जाती थी। वे प्रसन्नचित्त से, स्वेच्छापूर्वक सेवा करें तो करें अथवा न करें तो न करें।

(३) जनपद निगमों से आयी हुई चारों परिषद भी यज्ञ भूमि के चारों ओर, चारों दिशाओं में छोटी-छोटी यज्ञशालाएं स्थापित कर अपनी ओर से प्रभूत दान देकर इस महायज्ञ में भागीदार होती थीं।

इस प्रकार सर्वथा अनुकूल परिस्थिति में जो यज्ञ होता था उसमें –

इतिमे चत्तारो अनुमतिपक्खा – इस प्रकार चारों परिषदों के चार अनुमति पक्ष होते थे,

राजा महाविजितो अट्ठहङ्गेहि समन्नागतो – महाविजित यजमान राजा आठ अंगों से युक्त होता था,

पुरोहितो ब्राह्मणो चतुहङ्गेहि समन्नागतो – राजपुरोहित ब्राह्मण चार अंगों से युक्त होता था।

इन सोलह परिष्कृतियों यानी शुद्धियों के अतिरिक्त उपरोक्त

तिस्सो विधा – तीन विधाएं (होती थीं)। (दी० नि० १.३३९-३४२, कूटदन्तसुत्त)

यों पुरातन काल में सोलह परिष्कार अंगों से युक्त त्रिविध यज्ञ होते थे, जो सर्वथा हिंसा-विहीन यज्ञ थे। इसे सुनकर वहां उपस्थित सभी ब्राह्मणों ने उल्लास प्रकट करते हुए कहा –

अहो यञ्ञो, अहो यञ्ञसम्पदा। (दी० नि० १.३४८, कूटदन्तसुत्त)

– धन्य है ऐसा यज्ञ, धन्य ऐसी यज्ञ-संपदा।

कूटदंत तो विस्मय-विभोर हो गया, अवाक रह गया। उसे यों लगा कि भगवान किसी से सुनी-सुनायी बात नहीं बोल रहे बल्कि यों बोल रहे हैं जैसे उस समय स्वयं उपस्थित थे। इस पर भगवान ने कहा कि ये सारी घटनाएं उनके एक पूर्व जन्म में घटी थीं और उस समय के ब्राह्मण राजपुरोहित वे स्वयं ही थे।

यह सुन कर ब्राह्मण कूटदंत बड़ा प्रभावित हुआ और उसने पूछ लिया कि इससे उन्नत भी कोई और यज्ञ होता है क्या? इस पर भगवान ने इससे प्रणीततर यज्ञ की व्याख्या की, जो अधिक फलदायी और कम खर्चीला है। उस यज्ञ के बारे में भगवान ने समझाया –

(१) शीलवान गृहत्यागियों को नित्य दान देना,

(२) त्रिशरण यज्ञ,

(३) शिक्षापद यज्ञ,

(४) शील यज्ञ,

(५) समाधि यज्ञ,

(६) प्रज्ञा यज्ञ।

इन्हें विस्तार से समझाने के बाद भगवान ने कहा –

इमाय च, ब्राह्मण, यञ्ञसम्पदाय अञ्ञा यञ्ञसम्पदा उत्तरितरा वा पणीततरा वा नत्थि।

(दी० नि० १.३५३, कूटदन्तसुत्त)

– हे ब्राह्मण, इस यज्ञ-संपदा से उत्तरोत्तर और प्रणीततर कोई और अन्य यज्ञ-संपदा नहीं होती, अर्थात यही सर्वोत्तम यज्ञ-संपदा है।

ब्राह्मण कूटदंत भगवान के इस वचन से अत्यंत प्रभावित हुआ और बोला कि मैं अपनी यज्ञशाला में वध के लिए बँधे हुए सभी पशुओं को –

मुञ्चामि – मुक्त करता हूं,

जीवितं देमि – जीवनदान देता हूं।

हरितानि चेव तिणानि खादन्तु – वे हरी-हरी घास चरें,

सीतानि च पानीयानी पिवन्तु – शीतल जल पिएं।

सीतो च नेसं वातो उपवायतूति – उनके लिए ठंडी हवाएं बहें। (दी० नि० १.३५४, कूटदन्तसुत्त)

इस प्रकार समझदार ब्राह्मण कूटदंत विद्याचरणसंपन्न भगवान की आर्य धर्मदेशना के कारण अनार्य धर्म के दूषण से दूषित होते-होते बच गया।

उद्गतशरीर ब्राह्मण

उद्गतशरीर नामक धनवान ब्राह्मण के यहां महान यज्ञ का आयोजन था। उसने यज्ञ की पूरी तैयारी कर ली थी। सैकड़ गाय, बैल, बछड़े, बछड़ियां, भेड़, बकरियां यज्ञशाला में यज्ञ-स्तंभ के समीप बांध दी गयी थीं। यज्ञ आरंभ करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया। वहां भगवान ने उसे समझाया कि इस प्रकार के हिंसक यज्ञ करने वाला व्यक्ति तीन प्रकार के दुष्कर्म करता है। पहला है मानसिक दुष्कर्म, जबकि वह इतने पशुओं की हत्या करने का मनःसंकल्प करता है। दूसरा है वाचिक दुष्कर्म, जबकि वह पशु-हत्यारों को निरीह पशुओं पर शस्त्र चलाने के लिए वाणी से आदेश देता है। तीसरा है शारीरिक दुष्कर्म, जब वह यज्ञ के लिए लाये गये प्रथम पशु की स्वयं हत्या करता है। इस प्रकार पुण्य कमाने के स्थान पर वह अपुण्य कमाता है। शुभ कर्म करने के स्थान पर अशुभ कर्म करता है। सुगति, स्वर्ग का मार्ग खोजने के स्थान पर दुर्गति, नरक के मार्ग पर आरूढ़ होता है। उद्गतशरीर भाग्यशाली था। इतना बड़ा दुष्कर्म करने के पूर्व वह भगवान से मिलने चला गया और उनकी करुणासिक्त वाणी से उसका हृदय परिवर्तन हो गया। उसकी मान्यता तो यही थी कि इतना बड़ा यज्ञ करके वह महान पुण्य कर्म संपादन करेगा, पर अब बात समझ में आयी कि यह तो वस्तुतः अपुण्य-कर्म है, पाप-कर्म है। वध-शाला में बँधे सभी पशुओं को उसने मुक्त कर दिया और भगवान के बताये मार्ग पर चल कर सही माने में पुण्यलाभी हुआ। (अ० नि० २.७.४७, दुतियअग्गिसुत्त)

तप-त्याग करते हुए अपुण्य कमाते थे

लगता है उन दिनों सारे देश में यज्ञमार्गी लोगों में यह मिथ्या धारणा पुष्ट हो चुकी थी कि ये हिंसक यज्ञ महान पुण्य फल देने वाले हैं। लोग बड़ी श्रद्धा से, भक्ति से, तप और त्याग से इन यज्ञों का संपादन करते-कराते थे। महाधनवान राजा हो या ब्राह्मण, यज्ञ के दिनों बड़ा त्याग का जीवन जीता था। विलास-वैभव से युक्त महलों को छोड़ कर यज्ञशाला की कच्ची कुटिया में गोबर लिपी नंगी धरती पर सोता था। समान रूप-रंग के बछड़े वाली किसी एक ही गाय के मात्र एक ही थन से प्राप्त हुआ दूध का आहार लेता था। इस प्रकार ऊपर-ऊपर से तपस्वी का जीवन जीता था, अपने आपको कष्ट भी देता था, पर काम तो घिनौना ही करता था। उस तथाकथित धार्मिक यज्ञ में बहुत गायें, बहुत बछड़ियां, बहुत बैल, बहुत बछड़े, बहुत भेड़ें, बहुत बकरियां मारी जाती थीं। उन्हें बांधने के लिए बहुत से कच्चे पेड़ काटे जाते थे। वेदी के लिए बहुत कुश काटा जाता था। यजमान राजा सबसे पहली बलि चढ़ाने के लिए अपने हाथों केवल पहला पशु काटता था, कुछ एक पशु पुरोहित ब्राह्मण काट लेता होगा, पर सैकड़ की तादाद में पशुओं की हत्या करने के लिए गांव, नगर में इतने कसाई भी कहां से मिलते? अतः नौकर-चाकरों से यह दुष्कर्म जबरन कराया जाता था। वे न चाहते हुए भी अश्रु-मुख होकर ऐसा दुष्कर्म करते थे। उन्हें दंड से धमकाया जाता था। वे भयभीत होकर रोते हुए ऐसा जघन्य कर्म करते थे।

येपिस्स ते होन्ति दासाति वा पेस्साति वा कम्मकराति वा

– जो दास थे, नौकर थे, मजदूर थे,

तेपि दण्डतज्जिता भयतज्जिता

– वे भी डंडे और भय से तर्जित हो कर, डराये धमकाये जा कर,

अस्सुमुखा रुदमाना – आंसू बहाते हुए, रोते हुए,

परिकम्मानि करोन्ति – (ऐसा जघन्य) काम पूरा करने में लगे हुए थे। (सं० नि० १.१.१२०, यञ्ञसुत्त)

यों पवित्र यज्ञ के नाम पर अत्यंत अपवित्र कर्म ही किया-कराया जाता था।

महाराज प्रसेनजित

हम देखते हैं कि किसी दुःस्वप्न से भयभीत हो कर अपने भविष्य की सुरक्षा से चिंतित हुए महाराज प्रसेनजित ने ऐसे ही एक बृहद हिंसात्मक यज्ञ का आयोजन किया था, परंतु सौभाग्य से यज्ञ आरंभ करने से पूर्व वह भी भगवान से मिलने चला गया। लोगों के मन में यह भ्रांति गहराई से समा गयी थी कि इन हिंसक यज्ञों से अनिष्ट दूर होता है और इष्ट संपन्न होता है। भगवान ने इस मिथ्या मान्यता से कोशल-नरेश को उबारा, उसे पशु हत्या के दुष्फल से बचाया और हजारों निरपराध प्राणियों की हत्या रुकवायी।

गो-हत्या का दुष्फल

एक प्रसंग में भगवान ने बताया कि गो-घातक की कैसी दुर्गति होती है।

एसो, भिक्खवे, सत्तो इमस्मियेव राजगहे गोघातको अहोसि।

– भिक्षुओ, यह सत्त्व इसी राजगृह में गो-हत्या करने वाला था।

सो तस्स कम्मस्स विपाकेन – वह इस कर्म के विपाक से,

बहूनि वस्ससतसहस्सानि निरये पच्चित्वा – अनेक लाख वर्षों तक नरक में पचता-पकता रहा और

तस्सेव कम्मस्स विपाकावसेसेन – उस कर्म के बचे हुए फल-विपाक के कारण,

एवरूपं अत्तभावपटिलाभं पटिसंवेदयति – अब ऐसा दुःखद जीवन जी रहा है।

(सं० नि० १.२.२०२, अट्ठिसुत्त)

भगवान करुणा-सागर थे। उनकी करुणा उन निरीह, निरपराध, मूक, असहाय पशुओं पर तो उमड़ी ही, साथ-साथ उन अज्ञानी लोगों पर भी उमड़ी, जो धर्म के नाम पर कितना बड़ा अधर्म कर रहे थे। जो पुण्य के नाम पर कितना बड़ा पाप कमा रहे थे। जो अर्थ के भ्रम में कितना अनर्थ संग्रह कर रहे थे। जो इन दुष्कर्मों के कारण कितना बड़ा दुष्फल भुगतने वाले थे। इसी करुणा-विगलित हृदय से उन्होंने सभी हिंसक यज्ञों का भरपूर विरोध किया। यद्यपि वे सभी यज्ञों के विरोधी नहीं थे। न वे सभी यज्ञों के प्रशंसक थे।

सभी यज्ञ प्रशंसनीय नहीं हैं

उज्जय नामक ब्राह्मण ने जब यह सुना कि भगवान यज्ञों की प्रशंसा भी करते हैं तो वह भगवान के पास आया और उसने उनसे यह प्रश्न पूछा–

भवम्पि नो गोतमो यञ्ञं वण्णेतीति?

– क्या आप गोतम सभी यज्ञों की प्रशंसा करते हैं?

भगवान ने कहा – मैं न सभी यज्ञों की प्रशंसा करता हूं और न सभी की निंदा। जिन अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, सम्मापास, वाजपेय तथा निरर्गल जैसे यज्ञों में गौओं की, भेड़-बकरियों की, मुर्गी-सूअरों की तथा अन्य प्राणियों की हत्या होती है, मैं उनकी प्रशंसा नहीं करता। ऐसे यज्ञों में –

न उपसङ्कमन्ति अरहन्तो वा अरहत्तमग्गं वा समापन्ना।

– न अरहंत जाते हैं और न अरहंत मार्ग पर आरूढ़ आर्यजन।

जिस यज्ञ में प्राणियों की हत्या नहीं होती और जिनमें नित्य दान का कार्यक्रम होता है, वैसे अहिंसक यज्ञ ही अनुकूल यज्ञ हैं, मैं उनकी प्रशंसा करता हूं। ऐसे यज्ञों में अरहंत या अरहंत मार्गारूढ़ आर्यजन सम्मिलित होते हैं। दक्षिणा देने योग्य पुण्यक्षेत्र-सदृश संतों को दान देकर प्रसन्न-चित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह –

यञ्ञो च विपुलो होति, पसीदन्ति च देवता। (अ० नि० १.४.३९, उज्जयसुत्त)

– महान यज्ञ होता है और देवता उससे प्रसन्न होते हैं।

उदायी ब्राह्मण

एक बार उदायी नामक ब्राह्मण ने भी भगवान से यह प्रश्न किया कि क्या आप भी यज्ञ की प्रशंसा करते हैं?

उसके लिये भी भगवान का यही उत्तर था कि जो अभिसंस्कृत, निरारंभ अर्थात अहिंसक यज्ञ है, वही प्रशंसनीय है, अन्य नहीं।

महज एक कर्मकांड के रूप में किया गया यज्ञ भी प्रशंसनीय नहीं है। यज्ञ तभी प्रशंसनीय है जबकि उससे संविभाग करने की अर्थात दान देने की कुशल प्रक्रिया संपन्न होती है। अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप, भृगु जैसे पुराने ऋषि यज्ञों में संविभाग करते थे अर्थात दान देते थे। इसी प्रकार के दान-युक्त यज्ञ प्रशंसनीय होते हैं। दान वही है जो बदले में कुछ पाने की भावना के बिना दिया जाता है। वही उत्तम दान होता है। उत्तम दान देने वाला दानी समझता है कि –

अपि च खो चित्तालङ्कारचित्तपरिक्खारं दानं देति। (अ० नि० २.७.५२, दानमहप्फलसुत्त)

– वह दान इसलिए देता है कि दान चित्त का अलंकरण है, दान चित्त का आवश्यक परिष्करण है।

अहिंसक यज्ञ में जो संविभाग का अर्थात निष्काम दान का समावेश है वही प्रशंसनीय है, वही चित्त का अलंकरण है, परिष्करण है।

आस्तिकवाद नास्तिकवाद

तिपिटक का पारायण करने पर हम यह देखते हैं कि उन दिनों आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या आज की व्याख्याओं से सर्वथा भिन्न थी। जो लोग कर्म और कर्मफल के वैज्ञानिक सिद्धांत को नहीं मानते थे

और इसलिए यज्ञ, होम, दान को नहीं स्वीकार करते थे; न माता-पिता की सेवा को महत्त्व देते थे, ऐसे लोग नास्तिक कहलाते थे। भगवान ऐसी मान्यता को मिथ्या-दृष्टि कहते थे। (दी० नि० १.१७१, सामञ्ञफलसुत्त)

जो लोग कर्म और कर्मफल के नैसर्गिक सिद्धांत को मानते थे वे यज्ञ, होम, दान तथा माता-पिता की सेवा आदि के सत्फल को स्वीकार करते थे। अतः आस्तिक कहलाते थे। भगवान ऐसी मान्यता को सम्यक-दृष्टि कहते थे। (अ० नि० १.३.११८, विपत्तिसम्पदासुत्त)

अतः दान देने की दृष्टि से भगवान द्वारा होम, यज्ञ का समर्थन स्वाभाविक था बशर्ते कि वह हिंसक न होकर अहिंसक हो।

धर्म-यज्ञ

सर्वथा दूषित हिंसक यज्ञों की तुलना में दान-समन्वित अहिंसक यज्ञ अच्छे हैं, प्रसंशनीय हैं, परंतु जो उनसे भी कहीं अच्छे हैं, भगवान ने उन्हें धर्म-यज्ञ कहा।

द्वेमे, भिक्खवे, यागा – भिक्षुओ, दो प्रकार के यज्ञ होते हैं।

कतमे द्वे? – कौन से दो प्रकार के?

आमिसयागो च, धम्मयागो च – आमिष-यज्ञ और धर्म-यज्ञ।

एतदग्गं, भिक्खवे, इमेसं द्विन्नं यागानं यदिदं धम्मयागो। (अ० नि० १.२.१४३, दानवग्ग)

– इन दोनों में जो धर्म-यज्ञ है वही श्रेष्ठ है, अग्र है।

यहां धर्म-यज्ञ का अभिप्राय शील, समाधि और प्रज्ञा का जीवन जीने से है। यही ऐसा यज्ञ है जिससे सभी पुराने कर्म-संस्कार जल कर भस्म हो जाते हैं और साधक नितांत भव-विमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

अग्नि परिचर्या; एक कर्मकांड

तीन प्रकार की अग्नियां

अहिंसक यज्ञ भी यदि केवल अग्नि परिचर्यारूपी कर्मकांड हो तो वह किस काम का? इस विषय पर भगवान ने उद्गतशरीर ब्राह्मण को स्पष्टतया समझाया। उन्होंने तीन प्रकार की अग्नियों को बुझाने और तीन प्रकार की अग्नियों को सतत प्रज्वलित रखने का उपदेश दिया।

तयोमे, ब्राह्मण, अग्गी पहातब्बा परिवज्जेतब्बा न सेवितब्बा।

– ब्राह्मण, इन तीन प्रकार की अग्नियों का त्याग कर देना चाहिए, उन्हें दूर कर देना चाहिए, उनका सेवन नहीं करना चाहिए।

कतमे तयो – कौन सी तीन?

रागग्गि, दोसग्गि, मोहग्गि – राग-अग्नि, द्वेष-अग्नि, मोह-अग्नि।

फिर भगवान ने कहा –

तयो खो ब्राह्मण, अग्गी सक्कत्वा गरुं कत्वा मानेत्वा पूजेत्वा सम्मा सुखं परिहातब्बा।

– ब्राह्मण, तीन अग्नियां ऐसी हैं जिनका सत्कार करना चाहिए, जिनका गौरव करना चाहिए, जिन्हें मान देना चाहिए, जिन्हें पूजना चाहिए तथा जिनका भली प्रकार से सुखपूर्वक वहन करना चाहिए।

कतमे तयो – कौन सी तीन?

आहुनेय्यग्गि, गहपतग्गि, दक्खिणेय्यग्गि। (अ० नि० २.७.४७, दुतियअग्गिसुत्त)

– आह्वानयोग्य अग्नि, गृहपति अग्नि, दक्षिणार्ह अग्नि।

फिर भगवान ने इन तीनों की इस प्रकार व्याख्या की –

(१) आह्वानयोग्य अग्नि कौनसी होती है?

जो माता-पिता हैं ये सत्कार-भाजन अग्नि हैं, आह्वानयोग्य अग्नि हैं। माता-पिता रूपी अग्नि से ही सबका आना हुआ, जन्म हुआ। इसलिए इस **आहुनेय्य** अग्नि को प्रदीप्तमान रखना चाहिए अर्थात माता-पिता का सतत सत्कार करते रहना चाहिए, इनका गौरव, सम्मान, पूजन करते रहना चाहिए तथा इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए, इनका भरण-पोषण करते रहना चाहिए।

(२) गृहपति अग्नि कौनसी है?

जो पुत्र-कलत्र, दास-नौकर हैं, ये गृहपति अग्नि हैं। इस अग्नि को सतत देदीप्यमान रखना चाहिए। इनका सदा सत्कार, गौरव, सम्मान, पूजन करते रहना चाहिए। इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए, इनका भरण-पोषण करते रहना चाहिए।

(३) दक्षिणार्ह अग्नि कौनसी है?

जो श्रमण, ब्राह्मण विग्रह-विवाद से विरत रहते हैं, क्षमा और विनम्रता में निरत रहते हैं, अपने आपका दमन और शमन करने वाले होते हैं, अपने राग, द्वेष और मोह की अग्नि बुझाकर परिनिर्वाण को प्राप्त करने वाले होते हैं, ये दक्षिणार्ह अग्नि हैं, इसे सदा देदीप्यमान रखना चाहिए। इनका सदा सत्कार, गौरव, पूजन, सम्मान करते रहना चाहिए। इन्हें भली-भांति सुखपूर्वक रखते हुए इनका वहन करते रहना चाहिए। इनकी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना चाहिए।

गृहस्थों के लिये इन तीनों अग्नियों को सतत प्रदीप्त रखना कितना कल्याणप्रद है! भगवान के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने यही किया।

सुंदरिक भारद्वाज

उन दिनों अनेक लोग अग्नि-परिचर्या के कर्मकांड में ही उलझे हुए थे। वे हिंसक यज्ञ नहीं करते थे, परंतु अहिंसक यज्ञ करते हुए भी उसमें का जो दान पक्ष था उसे भुला दिया था। उनके लिये अग्नि-परिचर्या केवल निरर्थक कर्मकांड बन कर रह गयी थी। ऐसे कर्मकांड में उलझे हुए सुंदरिक भारद्वाज को भगवान ने समझाया –

मा ब्राह्मण दारु समादहानो, सुद्धिं अमञ्जि बहिद्धा हि एतं।
न हि तेन सुद्धिं कुसला वदन्ति, यो बाहिरेन परिसुद्धिमिच्छे॥

– हे ब्राह्मण, इन लकड़ियों को जलाने में तुम अपनी शुद्धि मत मान बैठो। यह तो मात्र बाहरी कर्मकांड है। जो इन बाहरी क्रियाओं द्वारा अपनी शुद्धि की कामना करते हैं उन्हें कुशलमार्गी विज्ञजन इस कर्मकांड से शुद्ध होना नहीं बताते।

– हे ब्राह्मण, मैं यह दारुदाह छोड़ कर अपने भीतर की ज्योति जलाता हूं। मेरे भीतर यह ज्योतिर्मय अग्नि सतत जलती रहती है। चित्त सतत समाहित रहता है। मैं अरहंत हूं। ब्रह्मचर्य का जीवन जीता हूं।

भीतर की अग्नि क्या है? और उसमें क्या जलाया जाता है? इसे समझाते हुए भगवान ने कहा –

मानो हि ते ब्राह्मण खारिभारो, कोधो धुमो भस्मनि मोसवज्जं।
जिव्हा सुजा हदयं जोतिठानं, अत्ता सुदन्तो पुरिसस्स जोति॥

(सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

– हे ब्राह्मण, अभिमान ही खरिया भरा अन्न है; क्रोध धूआं है; मिथ्या वचन भस्म है; जिव्हा स्रुवा है और हृदय अग्नि प्रज्वलित करने का स्थान यानी हवन-कुंड है। आत्म-दमन ही मनुष्य की प्रज्वलित ज्योति है।

सुंदरिक को सही मार्ग मिला। उसका कल्याण हुआ।

अग्गिक भारद्वाज

अग्गिक भारद्वाज कुक्कुठानगर के ब्राह्मण कुल में जन्मा था। वह ब्राह्मणों के शास्त्रों में पारंगत था। वयस्क होने पर घर-बार छोड़कर वह वन में कठिन तपश्चर्या करने के लिए चला गया। वहां वह अग्नि की उपासना करने लगा। उसकी मान्यता थी कि इससे उसकी शुद्धि होगी यानी विकारों से विमुक्ति होगी। उसे अमरत्व प्राप्त होगा। सौभाग्य से वह भगवान के संपर्क में आया। उनकी कल्याणी वाणी सुनी और शील, समाधि, प्रज्ञारूपी विमुक्ति मार्ग को स्वीकार कर विपश्यना का अभ्यास करते हुए वह नितांत विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ, अरहंत हुआ। यों मिथ्या कर्मकांडों से छुटकारा पाकर अत्यंत संतुष्ट-प्रसन्न हुआ। उसने देखा कि उसके अनेक ब्राह्मण-बंधु गलत रास्ते पर पड़े हैं। उनके प्रति करुणा का भाव जगा कर वह उन्हें उद्बोधन देने गया। उनमें से कुछ एक ने उसकी तीव्र भर्त्सना की। परंतु अनेक संगी-साथी उन निरर्थक कर्मकांडों से छुटकारा पाकर मुक्ति के सही मार्ग पर आरूढ़ हो गये। उन ब्राह्मणबंधुओं को उसने जो अपने अनुभव सुनाये, वे हर्षमय उद्गार मुक्तिपथ के इतिहास में चिरस्थायी प्रकाश-स्तंभ बन गये। उसने कहा –

अयोनि सुद्धिमन्वेसं, अग्गिं परिचरिं वने।

– अज्ञानपूर्वक आत्मशुद्धि की गवेषणा करता हुआ मैं वन में अग्नि-परिचर्या करता रहा।

सुद्धिमग्गं अजानन्तो, अकासिं अमरं तपं॥

– वास्तविक विशुद्धि मार्ग को नहीं जानते हुए अमरत्व के लिए मैंने कठोर तप किया।

तं सुखेन सुखं लद्धं, पस्स धम्मसुधम्मतं।

– (शरीर सुखाने वाले उस कठिन अग्नि तप को त्याग कर) मैंने सरलता से ही, सुखपूर्वक परम सुख प्राप्त कर लिया। अहो, देखो, धर्म की सुधर्मता!

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

– मैंने बुद्ध की शासन-शिक्षा पूरी करते हुए तीनों विद्याएं प्राप्त कर लीं।

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, इदानि खोम्हि ब्राह्मणो।

– पहले मैं (नाम का) ब्रह्मबंधु ब्राह्मण था, अब (यथार्थतः) ब्राह्मण हूं।

तेविज्जो न्हातको चम्हि, सोत्तियो चम्हि वेदगू॥ (थेरगा० २१९-२२१, अङ्गणिकभारद्वाजत्थेरगाथा)

– अब मैं सही माने में त्रैविद्य हूं, स्नातक हूं, श्रोत्रिय हूं, वेदज्ञ हूं।

उरुवेल काश्यप

उरुवेल काश्यप अपने पांच सौ शिष्यों के साथ अग्नि-परिचर्या में लगा हुआ था। उसका छोटा भाई नदी काश्यप तीन सौ शिष्यों के साथ और दूसरा भाई गया काश्यप दो सौ शिष्यों के साथ इसी अग्नि-परिचर्या में लगा हुआ था। उरुवेल काश्यप भगवान के संपर्क में आया, परंतु उसे अपने मार्ग पर अटूट विश्वास था। इस कारण मन में बड़ा अहंकार था। वह अपने आपको जीवन्मुक्त अरहंत मानता था। अतः भगवान में प्रातिहारियों के, ऋद्धियों के विशिष्ट गुण देखते हुए भी उनकी ओर आकर्षित नहीं हो सका। लेकिन कुछ समय पश्चात जब उसे भगवान की कल्याणी-वाणी समझ में आ गयी तब उस जटिल संन्यासी ने अपने पांच सौ शिष्यों सहित जटाएं, दाढ़ी, मूंछ मुंडवा ली और अग्निहोत्र की सारी सामग्रियां निरंजना नदी में बहा कर, भगवान की बतायी हुई साधना में लग कर कृत-कृत्य हुआ, भवमुक्त हुआ, जीवन्मुक्त हुआ। उस समय उसके मुँह से धर्म के ये उद्गार निकले–

यशस्वी गोतम की ऋद्धियों को देख कर भी ईर्ष्या और अभिमान के कारण मैं उन्हें नमन न कर सका। मेरे मनोचिंतन को जान कर उन नरसारथी ने मुझे मेरा दोष दिखाया और इससे मुझे धर्म-संवेग हुआ और अद्भुत रोमांच हुआ।

पुब्बे जटिलभूतस्स, या मे सिद्धि परित्तिका।
ताहं तदा निराकत्वा, पब्बजिं जिनसासने॥

– पहले जटा-जूटधारी रहते मुझे जो सम्मान-सत्कार मिलता था, उसे त्याग कर मैं जिन शासन में प्रव्रजित हुआ।

पुब्बे यञ्ञेन सन्तुट्ठो, कामधातुपुरक्खतो।

– पहले काम लोकों की आशा में यज्ञ से संतुष्ट रहता था,

पच्छा रागञ्च दोसञ्च, मोहञ्चापि समूहनिं॥

– बाद में राग, द्वेष और मोह को मैंने समूल नष्ट कर दिया।

यस्स चत्थाय पब्बजितो, अगारस्मानगारियं।
सो मे अत्थो अनुप्पत्तो, सब्बसंयोजनक्खयो॥

(थेरगा० ३७७, ३७८, ३८० उरुवेळकस्सपत्थेरगाथा)

– सारे बंधनों से विमुक्त होने के जिस उद्देश्य से घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुआ था, उसे मैंने प्राप्त कर लिया।

अग्नि-परिचर्या में संलग्न अधिकांश लोग **कामधातु पुरक्खतो** ही हुआ करते थे। उनका एकमात्र लक्ष्य मृत्यु के बाद किसी कामभोगमय देवलोक में जन्म लेना ही था जिसे कि वे अज्ञानतावश अमर मानते थे। इस कर्मकांड का कोई सांदृष्टिक लाभ तो था नहीं। केवल संपरायिक याने परलोक के लाभ की आशा में ये लोग अपना सारा जीवन बिता देते थे, जब कि शील, समाधि, प्रज्ञा का धर्म-यज्ञ सांदृष्टिक फलदायी होता है। अभी इसी जीवन में फल देता है। यहीं चित्त की शुद्धि आरंभ हो जाती है। इस धर्म-यज्ञ द्वारा अनेक लोग मुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हुए। कइयों ने इसी जीवन में मुक्त अवस्था का साक्षात्कार किया।

नदी काश्यप

अपने बड़े भाई के समान मुक्त अवस्था प्राप्त करके छोटे भाई नदी काश्यप ने जो उद्गार प्रकट किये, वे बुद्ध और उनकी शिक्षा की महानता के मंगल उद्‌घोष हैं। उसने कृतज्ञता-भरे हृदय से कहा – मानो मेरे लिए ही बुद्ध निरंजना नदी के तट पर आये। उनसे धर्मदेशना सुन कर मैंने मिथ्यादृष्टि का त्याग कर दिया।

यजिं उच्चावचे यञ्ञे, अग्गिहुत्तं जुहिं अहं।
एसा सुद्धीति मञ्ञन्तो, अन्धभूतो पुथुज्जनो॥

– इन्हें शुद्धि का कारण मान कर मैंने अनेक यज्ञों का अनुष्ठान किया और अग्नि-होत्र किया। मैं अंधा था, धर्म से पृथक पड़ा हुआ था।

असुद्धिं मञ्ञिसं सुद्धिं, अन्धभूतो अविद्दसु।

– अशुद्धि को शुद्धि मानता हुआ मैं अंधा था, अनजान था।

जुहामि दक्खिणेय्यग्गिं, नमस्सामि तथागतं।

– अब मैं दक्षिणार्ह अग्नि की उपासना करता हूं, तथागत को नमस्कार करता हूं।

मोहा सब्बे पहीना मे, भवतण्हा पदालिता।
विक्खीणो जातिसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो॥(थेरगा० ३४१-३४४, नदीकस्सपत्थेरगाथा)

– मेरे सारे मोह नष्ट हो गये हैं। भव-तृष्णा विदीर्ण हो गयी है। भव-संसरण समाप्त हो गया है। अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है।

मिथ्या मान्यताओं और कर्मकांडों के जंजाल से निकल कर अपने भाई की भांति नदी काश्यप भी कृत-कृत्य हुआ, भवमुक्त हुआ, अरहंत हुआ।

संगारव

कुछ लोगों की मान्यता में अग्नि यज्ञ करना-कराना ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सत्कर्म था। गृह त्याग कर मुक्ति बोध में लग जाने को वे एकांशी पुण्य कर्म मानते थे। संगारव ब्राह्मण उनमें से एक था। वह भगवान के पास आया, तो उसने यही प्रश्न उठाया। उसने कहा – हम ब्राह्मण यज्ञ करते भी हैं, कराते भी हैं। हम अनेक लोगों के भले का काम करते हैं या यों कहें, हम अनेक व्यक्तियों के पुण्यलाभ के मार्ग का अनुगमन करते हैं, परंतु जो लोग घर-बार छोड़ कर प्रव्रजित होते हैं, वे केवल अपना ही दमन-शमन करते हैं,

अपनी ही मुक्ति के काम में रत रहते हैं। वे अकेले ही परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। अतः प्रव्रजित होना केवल एक व्यक्ति के लाभ का मार्ग है या यों कहें, वह एक शरीर वाला पुण्य मार्ग है, एकांगी पुण्य-मार्ग है; जबकि हमारा अनेकांगी पुण्य-मार्ग है।

उसकी इस मिथ्या मान्यता का खंडन करते हुए भगवान ने उसे समझाया कि कोई एक व्यक्ति अपने श्रम द्वारा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, तथागत हो जाता है, तो यह लाभ वह अपने तक सीमित नहीं रखता। बड़े करुण चित्त से उसे बांटता है। जिस मार्ग पर चल कर वह स्वयं विद्याचरणसंपन्न हुआ, उसी मार्ग को आख्यात करता है। उस पर चलने के लिए लोगों को प्रेरित करता है। तथागत की देशना के अनुसार अनेक लोग आचरण करते हैं और यहीं इसी जीवन में अपना कल्याण साध लेते हैं। ऐसे लोग –

तानि खो पन होन्ति अनेकानिपि सतानि अनेकानिपि सहस्सानि अनेकानिपि सतसहस्सानि।

(अ० नि० १.३.६१, सङ्गारवसुत्त)

– अनेक सौ भी होते हैं, अनेक सहस्र भी होते हैं, अनेक लाख भी होते हैं।

यह सुन कर ब्राह्मण संगारव ने स्वीकार किया कि प्रव्रज्या का पथ भी एकांशी नहीं, बल्कि अनेक व्यक्तियों के कल्याण के लिए अनेकांशी पुण्य पथ है। तब पास बैठे आनंद ने संगारव से पूछ लिया – यज्ञ और प्रव्रज्या इन दोनों में कौन-सा मार्ग कम खर्चीला है, कम झंझटिया है और अधिक फल देने वाला है, अधिक परिणाम देने वाला है? संगारव समझते हुए भी इस प्रश्न का उत्तर टालने लगा, तब भगवान ने समझाया कि प्रव्रज्या-मार्ग पर चलने में तीन प्रकार के प्रातिहार्य (असाधारण ऋद्धियां) प्राप्त होते हैं। जैसे कि –

(१) ऋद्धि प्रातिहार्य – ऋद्धि के बल पर अनेक प्रकार के चमत्कारों का अनुभव करता है। जैसे एक से अनेक और अनेक से पुनः एक होना। अंतर्धान होना, प्रकट होना, आकाश में उड़ना, पानी पर चलना, जमीन में डुबकी लगाना आदि-आदि।

(२) देशना प्रातिहार्य – ऐसी सिद्धि प्राप्त करता है जिससे परचित्त ज्ञान उपजता है और दूसरे के चित्त में जो विचार चलता है, उसे प्रकाशित कर दे सकता है।

(३) अनुशासनी प्रातिहार्य – धर्म की ऐसी कल्याणी शिक्षा देने की क्षमता प्राप्त करता है कि चिंतन-मनन के स्तर पर ही नहीं बल्कि व्यवहार के स्तर पर जो करणीय है उसे करने की और जो अकरणीय है, उसे न करने की प्रेरणा देता है, उसका उचित मार्गनिर्देशन करता है।

संगारव ने इस तीसरी ऋद्धि को अधिक कल्याणकारिणी माना और तब उसने पूछा कि हे गोतम, क्या आप गोतम के अतिरिक्त कोई दूसरा भिक्षु भी ऐसा है, जो इन तीनों प्रातिहार्यों से संपन्न है?

तब भगवान ने इसका उत्तर देते हुए बताया –

न खो, ब्राह्मण, एकंयेव सतं, न द्वे सतानि, न तीणि सतानि, न चत्तारि सतानि, न पञ्च सतानि, अथ खो भिय्योव, ये भिक्खू इमेहि तीहि पाटिहारियेहि समन्नागताति।

– हे ब्राह्मण, न केवल एक सौ, न दो सौ, न तीन सौ, न चार सौ, न पांच सौ बल्कि इससे भी कहीं अधिक ऐसे भिक्षु हैं, जो इन प्रातिहार्यों से संपन्न हैं।

यह सुन कर संगारव ने पुनः प्रश्न किया कि ऐसे ऋद्धिमान भिक्षु कहां देखे जा सकते हैं? वे कहां विहार करते हैं?

उस समय भगवान एक विशाल भिक्षु संघ के साथ चारिका कर रहे थे। उन्होंने कहा –

इमस्मिंयेव खो, ब्राह्मण, भिक्खुसङ्घे। (अ० नि० १.३.६१, सङ्गारवसुत्त)

– ब्राह्मण, इसी भिक्षु संघ में (उन्हें देखा जा सकता है)।

ब्राह्मण संगारव यह सुन कर अत्यंत आश्चर्यचकित हुआ और ऐसी आशुफलदायिनी मंगलमयी शिक्षा का लाभ उठाने के लिए तत्काल भगवान का श्रद्धालु उपासक बन गया।

वत्सगोत्र (वच्छगोत्त)

उन दिनों लोगों में यह अंध-विश्वास फैला हुआ था कि भिन्न-भिन्न कर्मकांड अथवा उपक्रमों के साधन द्वारा मरणोपरांत विशुद्धि याने विमुक्ति प्राप्त होती है। अनेक यह नहीं जानते थे कि ऐसी भी कोई विद्या है जो यहीं इसी जीवन में विमुक्ति रस चखाती है और इसके अभ्यास द्वारा अनेक लोगों ने विमुक्ति रस चखा भी है। वत्सगोत्र नामक एक ऐसा ही भ्रांत व्यक्ति भगवान के पास आया और उसने भगवान की शिक्षा के व्यापक प्रसार पर अपना अज्ञान प्रकट किया। तब भगवान ने उसे समझाया –

एक नहीं, सौ नहीं, दो सौ नहीं, तीन सौ नहीं, चार सौ नहीं, पांच सौ नहीं बल्कि उससे भी कहीं अधिक भिक्षु उनकी शिक्षा का अनुगमन कर मुक्त अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं।

इसी प्रकार पांच सौ से भी कहीं अधिक भिक्षुणियां मुक्त अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुकी हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारी गृही उपासक अनागामी अवस्था प्राप्त कर चुके हैं। वे अब इस कामलोक में पुनः जन्म लेनेवाले नहीं हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारिणी गृही उपासिकाएं अनागामी अवस्था प्राप्त कर चुकी हैं। वे अब इस कामलोक में पुनः जन्म लेनेवाली नहीं हैं।

पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारी गृही उपासक सकदागामी या स्रोतापन्न हैं। वे (मुक्ति के स्रोत में पड़ गये हैं; स्वयं निर्वाण का साक्षात्कार कर चुके हैं, अतः) सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान हैं।

और पांच सौ से कहीं अधिक धवल वस्त्रधारिणी उपासिकाएं हैं, जो सकदागामी हैं या स्रोतापन्न हैं। वे (मुक्ति के स्रोत में पड़ गयी हैं; स्वयं निर्वाण का साक्षात्कार कर चुकी हैं, अतः) सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान हैं।

यह सुन कर वत्सगोत्र को विश्वास हुआ कि भगवान की शिक्षा सर्व प्रकार से परिपूर्ण है। इससे केवल शास्ता ही नहीं बल्कि उनके लाखों श्रावक भी लाभान्वित हुए हैं। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर उसने भगवान की शरण ग्रहण की और स्वयं प्रव्रजित होकर, उनसे विपश्यना साधना सीख कर, उसका निरंतर अभ्यास करते हुए अचिरकाल में ही कृत-कृत्य हुआ, मुक्त अवस्था प्राप्त कर अरहंत हुआ।

अपनी मुक्ति के उद्गार प्रकट करते हुए वत्सगोत्र ने कहा –

परिचिण्णो मे भगवा, परिचिण्णो मे सुगतो। (म० नि० २.२००, महावच्छसुत्त)

– मैंने भगवान की महानता को पहचान लिया है, मैंने सुगत की महानता को पहचान लिया है।

जिस साधना का अभ्यास कर अकेला शास्ता ही मुक्त हो, वह लोकमंगलकारी कैसे होगी? भगवान द्वारा सिखायी हुई साधना केवल उनकी ही नहीं बल्कि उनके जीवनकाल में ही अनेकों की मुक्ति का कारण बनी। अन्य अनेक प्रसंगों में भी भगवान ने साधना-फल प्राप्त अनेक श्रावकों की संख्या गिनायी है।

आयुष्मान नंदक की शिष्याएं

आयुष्मान नंदक की शिष्याओं के बारे में एक बार भगवान ने यह घोषणा की –

तासं, भिक्खवे, पञ्चन्नं भिक्खुनिसतानं या पच्छिमिका भिक्खुनी सा सोतापन्ना अविनिपातधम्मा नियता सम्बोधिपरायना। (म० नि० ३.४१५, नन्दकोवादसुत्त)

– भिक्षुओ, उन पांच सौ भिक्षुणियों में से जो सबसे पिछड़ी है, वह भी स्रोतापन्न है, अधोगति से विमुक्त है, निर्वाण नियत है, संबोधिपरायण है।

पांच सौ भिक्षु

एक बार भगवान पांच सौ भिक्षुओं के संघ के साथ विहार कर रहे थे। तब किसी प्रसंगवश उन्होंने आनंद से कहा –

इमेसं हि, आनन्द, पञ्चन्नं भिक्खुसतानं यो पच्छिमको भिक्खु; सो सोतापन्नो अविनिपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणोति। (दी० नि० २.२१७, महापरिनिब्बानसुत्त)

– आनंद, इन पांच सौ भिक्षुओं में से जो सबसे पिछड़ा है, वह भी स्रोतापन्न है, अधोगति से विमुक्त है, निर्वाण नियत है, संबोधिपरायण है।

अनेक अरहंत

ऐसा ही एक प्रसंग हम और देखते हैं। उन दिनों भगवान राजगृह के कलंदकनिवाप में विहार कर रहे थे। प्रातः गोचरी के लिए जाने के पूर्व समीप के मोरनिवाप में जा निकले। यह सकुलुदायी का परिव्राजकाराम था। सकुलुदायी ने सम्मान के साथ भगवान को ऊंचे आसन पर बिठाया और स्वयं नीचे आसन पर बैठ कर उनसे वार्त्तालाप करने लगा।

सकुलुदायी ने इस बात की प्रशंसा की कि भगवान का श्रावक संघ अत्यंत अनुशासित है और भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु है। यह भगवान जैसे शास्ता की महानता के कारण ही है। भगवान ने उसे समझाया कि संघ के अनुशासित होने का प्रमुख कारण यह है कि भगवान स्वयं अनुशासन का जीवन जीते हैं और उनकी श्रद्धा का प्रमुख कारण है भगवान द्वारा दी गयी धर्मशिक्षा। उन्होंने इसे विस्तार से समझाया। यह चर्चा समाप्त करते हुए भगवान ने कहा –

न खो पनाहं, उदायि, सावकेसु अनुसासनिं पच्चासीसामि।

– उदायि, मैं श्रावकों में अनुशासन की आकांक्षा नहीं करता।

अञ्ञदत्थु ममयेव सावका अनुसासनिं पच्चासीसन्ति। (म० नि० २.२४५, महासकुलुदायिसुत्त)

– बल्कि श्रावक मेरे ही अनुशासन का इंतजार करते हैं और वे उसे इसी प्रकार दोहराते हैं।

शास्ता स्वयं अनुशासित जीवन नहीं जीयेगा तो श्रावकों को किस बलबूते पर अनुशासित कर सकेगा भला!

और फिर शिक्षा भी ऐसी गंभीर दी जाती थी कि जिसका पालन करने वाला व्यक्ति शास्ता जैसी जीवनमुक्त अवस्था स्वयं प्राप्त कर लेता था और स्वभावतः अनुशासित हो जाता था। इस संदर्भ में भगवान ने कहा –

तत्र च पन मे सावका बहू अभिञ्ञावोसानपारमिप्पत्ता विहरन्ति। (म० नि० २.२४७, महासकुलुदायिसुत्त)

– वहां इस धर्मशिक्षा में मेरे बहुत से श्रावक **अभिञ्ञावोसान** हैं, अभिज्ञा पारमी प्राप्त कर विहार करते हैं।

यह भव-मुक्त अरहंतों की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुँचे हुए व्यक्ति को सायास अनुशासित नहीं होना पड़ता। वह स्वभाव से ही अनायास अनुशासित जीवन जीता है। यही पुरातन आर्य परंपरा है। भगवान इसी पुरातन आर्य परंपरा वाले आर्य धर्म को पुनः संस्थापित किया चाहते थे। सारा भारतीय समाज निकम्मी, निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं में उलझ गया था। कर्मकांडों में जकड़ गया था। विषैले जातिवाद में आकंठ डूब गया था। शुद्ध धर्म से पृथक पड़ गया था। उसे पुनः धर्म के मार्ग पर आरूढ़ करना था, प्रतिष्ठित करना था। ब्राह्मण वर्ग बहुत शिक्षित होने के कारण समाज का अग्रणी था और यही वर्ग धर्मच्युत हुए जा रहा था। उसके पतन से सारे समाज का पतन हो रहा था। उसके उत्थान में सारे समाज का उत्थान समाया हुआ था। उन्हें सही मार्ग पर आरूढ़ किए बिना समाज के अन्य वर्गों का उत्थान कठिन था, क्योंकि वे ही समाज का नेतृत्व करते थे। अतः उन भटके हुओं को सही मार्ग दिखाना आवश्यक था। भगवान ने अत्यंत करुण चित्त से यही किया।

भगवान के इस कुशल अभियान से अनेक लोगों का कल्याण हुआ, उनकी धर्म शिक्षा से अनेक लोग लाभान्वित हुए। परंतु कुछ ऐसे लोग भी थे, जो इस शिक्षा से कुपित होते थे और अपना कोप भगवान की निंदा करके प्रकट करते थे।

सुभ माणवक

एक बार तोदेय्य पुत्र सुभ माणवक श्रावस्ती के जेतवन विहार में भगवान से मिलने आया। उसने भगवान से कहा – ब्राह्मण ऐसा मानते हैं कि गृहस्थ ही परमार्थ सत्य का परम ज्ञान प्राप्त कर सकता है, प्रव्रजित नहीं। अधिकतर ब्राह्मण गृहस्थ थे जबकि सभी श्रमण प्रव्रजित थे।

भगवान ने उसे समझाया कि शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलें तो दोनों ही उस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। अशुद्ध मार्ग पर चलें, तो दोनों ही प्राप्त नहीं कर सकते।

तदनंतर सुभ माणवक ने कहा कि सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग, इन पांच धर्मों का ब्राह्मण प्रज्ञापन करते हैं।

भगवान ने पूछ लिया कि क्या वे इन पांचों का स्वयं अनुभव करके इनके शुभ फलों का प्रज्ञापन करते हैं?

सुभ को उत्तर देना पड़ा कि ऐसा तो नहीं है।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि क्या उनके पुरखों ने भी इस बात का दावा किया था कि वे स्वयं अनुभव करके ही इसका शुभ फल प्रज्ञापित करते हैं?

सुभ के पास इसका भी नकारात्मक ही उत्तर था। इस उत्तर को सुन कर भगवान ने कहा कि यह तो अंध-वेणी परंपरा हुई; अंधों की कतार हुई जिसमें न आगे वाला, न बीच वाला और न पीछे वाला ही देख पाता है। जिस सच्चाई को किसी ने देखा नहीं, उसे अपनी अनुभूति पर उतारा नहीं, उसका कोई कैसे प्रज्ञापन कर सकता है?

यह सुन कर सुभ माणवक चिढ़ उठा, कुपित हो उठा, खिसिया उठा और नाराज होकर यह मान बैठा कि–

समणो गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गोतम पापी है। (म० नि० २.४६६, सुभसुत्त)

और फिर अपना कोप प्रकट करता हुआ कह उठा कि–

उक्कट्ठा के सुभगवन का स्वामी ब्राह्मण औपमन्यव पौष्करसाति ऐसा मानता है कि लोग उत्तर-मनुष्य-धर्म यानी अलौकिक शक्ति और निर्वाण की अनुभूति का मिथ्या दावा करते हैं। यह अवस्था किसी को प्राप्त नहीं है।

इस पर भगवान ने पूछ लिया कि क्या औपमन्यव पौष्करसाति सभी श्रमण ब्राह्मणों के चित्त की बात जान गया है?

इसके उत्तर में सुभ माणवक को कहना पड़ा कि वह अपनी दासी पूर्णिमा के मन की बात भी नहीं जान सकता। सभी श्रमण ब्राह्मणों के मन की बात वह भला क्या जाने!

गरज यह कि अनेक लोग भगवान की महानता को समझते हुए भी अपने हीन भाव के कारण खिसिया कर ऐसी बातें कह जाते थे। भगवान अनुभव को महत्त्व देते थे। लोग परंपरागत मान्यता की सुनी-सुनायी बातों पर केवल चर्चा करने को महत्त्व देते थे। जब यह तथ्य सामने आता तब वे खिसिया उठते थे।

जानुस्सोणि ब्राह्मण

इसी प्रकार खिसियाया हुआ जानुस्सोणि ब्राह्मण भगवान पर आक्षेप करता हुआ बोल उठा–

भवम्पि नो गोतमो ब्रह्मचारी पटिजानाति।

– क्या आप गोतम भी अपने आपको ब्रह्मचारी मानते हैं?

इसके उत्तर में भगवान ने सहज भाव से कहा–

अहं हि, ब्राह्मण, अखण्डं अच्छिद्दं असबलं अकम्मासं परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरामि।

(अ० नि० २.७.५०, मेथुनसुत्त)

– हे ब्राह्मण, मैं अखंडित, अछिद्र, निर्दोष, निष्कलंक, परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करता हूं।

ऐसी और इस जैसी अनेक बातों का सामना करते हुए भी भगवान अविचलित रह कर करुण चित्त से लोक कल्याण में लगे रहे।

श्रामण्य ब्राह्मण्य की पुनर्स्थापना

भगवान का लक्ष्य स्पष्ट था। ब्राह्मणों ने अपना ब्राह्मण्य खो दिया था। उनको पुनः ब्राह्मण्य में स्थापित करना था। श्रमणों ने अपना श्रामण्य खो दिया था। उनको पुनः श्रामण्य में स्थापित करना था। भगवान ने समझाया कि –

यतो खो, कस्सप, भिक्खु अवेरं अब्यापज्जं मेत्तचित्तं भावेति,

– हे काश्यप, जब भिक्षु वैर और द्रोह छोड़ कर मैत्री भावना करता है,

आसवानञ्च खया अनासवं चेतोविमुत्तिं पञ्ञाविमुत्तिं दिट्ठेव धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरति।

– तब चित्त मलों के क्षय होने से चित्त की निर्मलता से प्राप्त हुई विमुक्ति और प्रज्ञा से प्राप्त हुई विमुक्ति को इसी जीवन में स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, विहार करता है।

अयं वुच्चति, कस्सप, भिक्खु समणो इतिपि ब्राह्मणो इतिपि।

– हे काश्यप, वस्तुतः वही भिक्षु श्रमण कहलाता है, ब्राह्मण कहलाता है।

उन दिनों ब्राह्मण अथवा श्रमण कहलाने वाले अधिकतर लोग इस व्याख्या से बहुत दूर पड़ गये थे। धर्म की इस सही व्याख्या के अनुसार वे ब्राह्मण अथवा श्रमण कहलाने योग्य नहीं थे। भगवान ने समझाया –

तस्स चायं सीलसम्पदा चित्तसम्पदा पञ्ञासम्पदा अभाविता होति असच्छिकता,

– वह जो शीलसंपदा, ध्यानसंपदा और प्रज्ञासंपदा की भावना नहीं करता, उनका साक्षात्कार नहीं करता,

अथ खो सो आरकाव सामञ्ञा आरकाव ब्रह्मञ्ञा। (दी० नि० १.३९७, महासीहनादसुत्त)

– वह श्रामण्य से दूर है, वह ब्राह्मण्य से दूर है।

श्रमण का श्रामण्य इसी में है कि वह सुशील हो, ध्यानी हो, स्थितप्रज्ञ हो। ब्राह्मण का ब्राह्मण्य भी इसी में है कि वह सुशील हो, ध्यानी हो, स्थितप्रज्ञ हो। श्रमण श्रामण्य में स्थापित हों, ब्राह्मण ब्राह्मण्य में स्थापित हों; भगवान को यही अभीष्ट था और वे अत्यंत करुणचित्त से इसी दिशा में प्रयत्नशील रहे।

अधिकतर ब्राह्मण सही ब्राह्मणत्व से बहुत दूर थे। तीनों वेदों का पाठ करने के कारण वह अपने आपको त्रैविद्य मानते थे और इसी कारण अपने आपको महान मानते थे। वे नाना प्रकार के कर्मकांडों में उलझे थे। सही ब्राह्मण बनाने वाले धर्म वे छोड़ चुके थे। इसी ओर संकेत करते हुए किसी एक प्रसंग में भगवान ने कहा –

तेविज्जा ब्राह्मणा ये धम्मा ब्राह्मणकारका ते धम्मे पहाय वत्तमाना,

– त्रैविद्य ब्राह्मण, जो ब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उन्हें छोड़ कर,

ये धम्मा अब्राह्मणकारका ते धम्मे समादाय वत्तमाना एवमाहंसु।

– जो अब्राह्मण बनाने वाले धर्म हैं, उनसे युक्त होते हुए कहते हैं –

इन्दमव्हयाम, सोममव्हयाम, वरुणमव्हयाम, ईसानमव्हयाम, पजापतिमव्हयाम, ब्रह्ममव्हयाम, महिद्धिमव्हयाम, यममव्हयाम। (दी० नि० १.५४४, तेविज्जसुत्त)

– हम इंद्र का आह्वान करते हैं, सोम का, वरुण का, ईशान का, प्रजापति का, ब्रह्मा का, महर्द्धि का, यम का आह्वान करते हैं।

आह्वान करने मात्र से इन देव ब्रह्माओं की प्राप्ति कैसे हो सकती है भला? भगवान ने समझाया कि जैसे कोई नदी के इस तट पर खड़ा हो और परले तट को आह्वान करे – ऐ नदी के परले तट, तू यहां आजा। तो क्या आह्वान करने मात्र से परला तट इस तट पर खड़े व्यक्ति के पास चला आयेगा? परले तट का दर्शन करना हो तो नदी को स्वयं पार करना होता है। परंतु पार कैसे करे? इस तट वाले जिस व्यक्ति के हाथ पीछे की ओर सांकल से और किसी मजबूत खूंटे से बँधे हों, वह पार कैसे पहुँचेगा? यानी जो व्यक्ति विकारों से बँधा हो, वह ब्रह्मा से कैसे मिल पायेगा भला? जो व्यक्ति इसी तट पर कपड़े से शरीर और मुँह ढक कर सोया हो, वह परले तट तक कैसे पहुँच पायेगा भला? यानी जो व्यक्ति पांचों नीवरणों से आवृत हो, आबद्ध हो, वह आवरणहीन ब्रह्मा को साक्षात कैसे देख सकेगा भला?

ब्रह्मा अपरिग्रही है और जो ब्राह्मण परिग्रही हैं वे ब्रह्मा के समीप कैसे पहुँच सकते हैं? ब्रह्मा वीतराग है, वीतद्वेष है, वीतक्लेश है। जो ब्राह्मण रागयुक्त हैं, द्वेषयुक्त हैं, क्लेशयुक्त हैं उनका ब्रह्मा से कैसे मिलाप हो सकता है? ऐसे किसी ब्राह्मण के लिए या यों कहें, ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए ब्रह्मा की सलोकता यानी उसके साथ मेल होना संभव नहीं है।

उन दिनों भगवान ने त्रैविद्य ब्राह्मणों के बारे में कहा कि वे मार्ग से भटक कर विपत्ति को प्राप्त हो गये हैं। वे मानो सूखे में तैरने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इदं तेविज्जानं ब्राह्मणानं तेविज्जाइरिणन्तिपि वुच्चति, तेविज्जाविवनन्तिपि वुच्चति, तेविज्जाब्यसनन्तिपि वुच्चति। (दी० नि० १.५५२, तेविज्जसुत्त)

इन त्रैविद्य ब्राह्मणों की त्रिविद्या को वीरान कांतार भी कह सकते हैं, निर्जन वन भी कह सकते हैं, दुर्भाग्य भी कह सकते हैं।

ब्रह्म सलोकता

एक बार वासिष्ठ और भारद्वाज भगवान से मिलने आये। वासिष्ठ आचार्य पौष्करसाति का शिष्य था और भारद्वाज आचार्य तारुक्ष का। उनका कहना था कि ब्रह्मलोक तक पहुँचने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छांदोग्य ब्राह्मण, छंदावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण आदि अलग-अलग ब्राह्मण अलग-अलग मार्ग बताते हैं। परंतु भारद्वाज का दावा था कि उसके गुरु तारुक्ष की जो मान्यता है, वही मार्ग सीधा और गंतव्य तक शीघ्र पहुँचाने वाला है, जबकि वासिष्ठ का दावा था कि उसके गुरु पौष्करसाति की जो मान्यता है, वही मार्ग सीधा और शीघ्र पहुँचाने वाला है।

उनकी बात सुन कर भगवान ने पूछ लिया कि क्या इनमें से किसी भी मार्ग को अपना कर, आज के त्रैविद्य ब्राह्मणों में से किसी एक ने भी ब्रह्मा को अपनी आंखों से देख लिया है?

दोनों ने कहा – नहीं, हे गोतम, ऐसा दावा तो कोई नहीं करता।

भगवान ने फिर पूछा कि क्या इन आचार्य, प्राचार्यों की सात पीढ़ी तक भी किसी ने ब्रह्मा को अपनी आंखों से देख लेने का दावा किया है?

उत्तर था – नहीं, हे गोतम।

इस पर भगवान ने फिर पूछा कि इन त्रैविद्य ब्राह्मणों के पुरातन पूर्वज – अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगीरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप और भृगु – जिनके गीतों का अनुगान आज के ब्राह्मण करते हैं, जिनके भाषित वचनों का अनुवाचन करते हैं, क्या उन्होंने भी यह दावा किया था कि जो ब्रह्मा है, उसे हम जानते हैं, उसे हमने देखा है?

उत्तर मिला – नहीं, हे गोतम।

इस पर भगवान ने कहा – कैसी विचित्र स्थिति है! कैसी विडंबना है! जिसे स्वयं न देखा, न जाना उस तक पहुँचने का मार्ग उपदेशते हैं। यह तो अंध-वेणी परंपरा हुई। जैसे अंधों की पांति एक दूसरे से जुड़ी हो। न आगे वाला देख सकता है, न बीच वाला, न पीछे वाला। जिस चांद-सूरज को सब देखते हैं, वहां तक भी पहुँचने का मार्ग नहीं जानते। तो जिस ब्रह्मा को और ब्रह्मलोक को देखा ही नहीं, वहां तक पहुँचने का मार्ग ये कैसे बताते हैं भला?

जैसे कोई व्यक्ति किसी देश की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी को प्राप्त करने की कामना करता है, परंतु यह भी नहीं जानता कि वह कौन है। क्षत्रियाणी है या ब्राह्मणी? वैश्याणी है या शूद्राणी? यह भी नहीं जानता कि उसका क्या नाम है, क्या गोत्र है। यह भी नहीं जानता कि वह लंबी है या मँझोली है, या नाटी। गोरी है या सांवली? जिसे जानता नहीं, जिसे कभी देखा नहीं, उसे प्राप्त करने की कामना करता है तो यह अत्यंत हास्यास्पद बात ही होगी।

जैसे कोई व्यक्ति चौराहे पर आकर किसी महल पर चढ़ने के लिए सीढ़ी बनाना चाहता हो, परंतु यह भी नहीं जानता कि वह महल कौन सा है। कैसा है? पूर्व दिशा में है कि पश्चिम दिशा में? उत्तर दिशा में है कि दक्षिण दिशा में? वह ऊँचा है, नीचा या मँझोला? जिसे कभी देखा नहीं, जिसे कभी जाना नहीं, उस महल तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बना रहा हो, तो यह अत्यंत हास्यास्पद बात ही होगी।

यह सुन कर उन ब्राह्मण युवकों ने भगवान से पूछा कि क्या आप ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग बता सकते हैं?

भगवान ने उत्तर दिया – किसी गांव का व्यक्ति पड़ोसी गांव में बार-बार आता-जाता हो, उससे कोई पूछे कि पड़ोसी गांव जाने का रास्ता कौन सा है, तो उत्तर देने में उससे देर हो सकती है या भूल हो सकती है, परंतु मुझसे कोई ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग पूछे तो उसे बताने में न मुझसे देर हो सकती है, न भूल।

ब्रह्मानञ्चाहं वासेट्ठ, पजानामि ब्रह्मलोकञ्च, ब्रह्मलोकगामिनिञ्च पटिपदं।

– हे वासिष्ठ, मैं ब्रह्मा को जानता हूं, ब्रह्मलोक को जानता हूं और ब्रह्मलोक जाने का मार्ग जानता हूं।

यथा पटिपन्नो च ब्रह्मलोकं उपपन्नो, तञ्च पजानामि। (दी० नि० १.५५४, तेविज्जसुत्त)

– जिस पर आरूढ़ होकर कोई व्यक्ति ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है, उस मार्ग को भी जानता हूं।

यह सुन कर वासिष्ठ माणवक बहुत प्रभावित हुआ और उसने कहा कि आप हमें ब्रह्मा की सलोकता (सान्निध्य) का मार्ग बतायें, ब्रह्मा तक पहुँच सकने का मार्ग बतायें?

उल्लुम्पतु भवं गोतमो ब्राह्मणिं पजं। (दी० नि० १.५५५, तेविज्जसुत्त)

– हे गोतम, आप हम ब्राह्मणिक प्रजा का उद्धार करें।

तब भगवान ने इसे सविस्तार समझाया। एक व्यक्ति तथागत की शरण आता है, शील-संपन्न होकर पांचों नीवरण दूर करता है। इससे उसका चित्त प्रमुदित होता है, प्रीति से भरता है। उसका शरीर स्थिर होता है, शांत होता है। वह सुख अनुभव करता हुआ चित्त को एकाग्र कर लेता है। ऐसा व्यक्ति द्रोहरहित चित्त से मैत्री भावना का अभ्यास करता है, मैत्री को विपुल बनाता है, अपरिमित बनाता है और उसी मैत्री चित्त से सारे लोकों को स्पर्श करता है। यह ब्रह्माओं की सलोकता का मार्ग है। ब्रह्मलोक तक पहुँचाने वाला मार्ग है।

वह व्यक्ति इसी प्रकार अपरिमित करुणा का, अपरिमित मुदिता का, अपरिमित उपेक्षा का अभ्यास करता है। इस प्रकार चारों ब्रह्म-विहारों का अभ्यास परिपूर्ण करता है। यह ब्रह्माओं की सलोकता का मार्ग है। ब्रह्मलोक तक पहुँचाने वाला मार्ग है।

ऐसे व्यक्ति का चित्त वैर, द्वेष और क्लेश से मुक्त होता है। ब्रह्मा का चित्त भी वैर, द्वेष और क्लेश से मुक्त है। ऐसा व्यक्ति वशवर्ती होता है, ब्रह्मा भी वशवर्ती है। ऐसा व्यक्ति अपरिग्रही होता है, ब्रह्मा भी अपरिग्रही है। ऐसे व्यक्ति की ब्रह्मा से समानता होती है, मेल होता है।

सो ते अपरिग्गहो भिक्खु – ऐसा अपरिग्रही भिक्षु,

कायस्स भेदा परं मरणा – काया छोड़ कर मरने पर,

अपरिग्गहस्स ब्रह्मुनो सहब्यूपगो भविस्सति।

– अपरिग्रही ब्रह्मा की सलोकता को, सान्निध्य को प्राप्त होगा,

ठानमेतं विज्जति – इसकी संभावना है। (दी० नि० १.५५७, तेविज्जसुत्त)

जातीयता का मिथ्या अभिमान

भगवान के इन्हीं उपदेशों की गूंज हमें परवर्ती संतों की धर्मवाणी में सुनायी देती है, जब संत नानक कहते हैं –

जाति का गरब न करीअहु कोई।
ब्रह्मु बिन्दे (जाने) सो ब्राह्मण होई॥

परंतु जिन्हें अपनी जाति और वर्ण की उच्चता का मिथ्या अभिमान हो, वे ब्रह्मविहार का अभ्यास क्यों करेंगे? अभ्यास नहीं करेंगे तो ब्रह्मा की सलोकता कैसे प्राप्त करेंगे? जो अभ्यास करेगा वह प्राप्त कर ही लेगा, भले वह किसी जाति का हो। उनके पास नये-नये प्रव्रजित हुए वासिष्ठ और भारद्वाज ब्राह्मणों को भगवान ने यही समझाया –

चारों वर्णों में कोई दु:शील, दुष्कर्मी होते हैं, कोई सुशील, सत्कर्मी। चारों वर्णों में अच्छे-बुरे लोग होते हैं। चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का व्यक्ति यदि दुष्कर्मी है तो निंदनीय है, यदि सत्कर्मी है तो प्रशंसनीय है।

इमेसं हि, वासेट्ठ, चतुन्नं वण्णानं यो होति भिक्खु अरहं खीणासवो...

– वासिष्ठ, इन्हीं चार वर्णों में से कोई व्यक्ति घर-बार छोड़, भिक्षु होकर अरहंत क्षीणास्रव होता है...

सो नेसं अग्गमक्खायति – वह उन सब में अग्र कहलाता है।

धम्मेनेव, नो अधम्मेन – धर्म से ही, अधर्म से नहीं।

धम्मो हि, वासेट्ठ, सेट्ठो जनेतस्मिं, दिट्ठे चेव धम्मे अभिसम्परायञ्च। (दी० नि० ३.११६, अग्गञ्ञसुत्त)

– लोगों में धर्म ही श्रेष्ठ है, इस लोक में भी और परलोक में भी।

जाति के मद में अंधे हुए लोग इस सच्चाई को नहीं समझ पाते थे, तो अपनी ही हानि करते थे। भगवान विद्यासंपन्न थे यानी प्रज्ञासंपन्न थे। अतः इस सच्चाई को खूब समझते थे। भगवान चरणसंपन्न थे यानी करुणासंपन्न थे। अतः करुण भाव से उनका उद्धार किया चाहते थे। जो जो समझदार थे, वे इस बात को बड़ी जल्दी समझ जाते थे कि–

कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥ (म० नि० ३.३८७, अनाथपिण्डिकोवादसुत्त)

– कर्म, विद्या, धर्म और शीलसंपन्न उत्तम जीवन – इनसे मरणशील मनुष्य शुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, न कि गोत्र से या धन से।

परंतु अनेक लोग ऐसे भी थे, जो इस सच्चाई को जरा भी महत्त्व नहीं देते थे। वे अपनी परंपरागत मान्यताओं से बुरी तरह आबद्ध थे, जकड़े हुए थे। उनका कथन था–

यदिदं भो, गोतम, ब्राह्मणानं पोराणं मन्तपदं इतिहितिहपरम्पराय पिटकसम्पदाय, तत्थ च ब्राह्मणा एकंसेन निट्ठं गच्छन्ति –

– हे गोतम, ब्राह्मणों का यह जो पुराना मंत्रपद है, उस परंपरा के धर्मग्रंथ संपदा में ब्राह्मणों की एकनिष्ठ मान्यता है और वह यह कि–

इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं – यही सच है और सब झूठ। (म० नि० २.४२७, चङ्कीसुत्त)

प्रत्यक्ष की अनुभूति उनमें से किसी एक को भी नहीं थी। परंतु अपने परंपरागत ग्रंथों के प्रति ऐसा अंध-विश्वास था कि कोई बात कितनी भी न्यायसंगत क्यों न हो, वे उसे स्वीकारने को बिल्कुल तैयार नहीं थे। हमारी परंपरागत मान्यता ही सत्य है और सब मिथ्या है, इस अंध-विश्वास में ही वे जकड़े रहते थे।

उनमें से जो भगवान के समीप आ गये और उनकी जीवनचर्या से परिचित हो गये, वे तो यह कह ही उठते थे–

सुतं मेतं, भन्ते, ब्रह्मा मेत्ताविहारी – भंते, मैंने सुना है कि ब्रह्मा मैत्रीविहारी होते हैं।

तं मे इदं, भन्ते, भगवा सक्खिदिट्ठो – भंते, सो मैंने भगवान को साक्षात देख लिया।

भगवा हि, भन्ते, मेत्ताविहारी – भंते, भगवान ही मैत्रीविहारी हैं। (म० नि० २.५३, जीवकसुत्त)

ब्राह्मणिक परंपरा सत्य, तप, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और त्याग – पांच धर्म मानती थी। भगवान भी इन्हें अच्छा बताते थे, परंतु वे केवल मानने तक ही सीमित न रह कर, उनके धारण करने पर बल देते थे और धारण करना सिखाते थे।

चित्तस्साहं एते परिक्खारे वदामि – यदिदं चित्तं अवेरं अब्याबज्झं, तस्स भावनाय।

(म० नि० २.४६९, सुभसुत्त)

– मैं इन पांचों की साधना को वैररहित तथा दोषरहित चित्त बनाने वाला परिष्कार कहता हूं।

लेकिन इन पांच धर्मों का पालन तो करे नहीं, केवल पाठ ही करे तो क्या लाभ होगा? इनका पालन करने से ही चित्त वैररहित, द्वेषरहित बनता है और मैत्री भावना का अभ्यास करके ही कोई व्यक्ति सही माने में ब्राह्मण बनता है, ब्रह्मलोकगामी बनता है। अन्यथा थोथे कर्मकांडों में, थोथी मान्यताओं में ही उलझा रह कर अपनी भी हानि करता है तथा औरों की भी हानि करता है।

ब्राह्मण धनंजानि

हमने देखा राजगृह के तण्डुलपाल द्वार में रहने वाला गृही ब्राह्मण धनंजानि पहली धर्मपरायणा पत्नी के देहांत होने पर दूसरी अधार्मिक पत्नी के दुष्प्रभाव के कारण शुद्ध सनातन आर्य धर्म का मार्ग छोड़ कर गलत रास्ते पड़ गया। वह राजा और ब्राह्मण गृहपतियों दोनों को ठगने का काम करने लगा। हम नहीं कह सकते, वह किस प्रकार दोनों को ठगता था। परंतु उसके गुरु भदंत सारिपुत्त ने उसे समझाया –

अत्थि खो, धनञ्जानि, अञ्ञेसं हेतुका धम्मिका कम्मन्ता, येहि सक्का मातापितरो चेव पोसेतुं, न च पापकम्मं कातुं, पुञ्ञञ्च पटिपदं पटिपज्जितुं। (म० नि० २.४४८, धनञ्जानिसुत्त)

– हे धनंजानि, अन्य लाभदायक धार्मिक कर्मांत यानी पेशे होते हैं, जिनसे माता-पिता का (परिवार का) पोषण किया जा सकता है। परंतु पाप-कर्म नहीं करने चाहिये, पुण्य-मार्ग पर ही प्रतिपन्न होना चाहिये।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि धर्म के नाम पर उसने ऐसा पेशा अपनाया होगा जो पाप की ओर ले जाने वाला था, पुण्यमय नहीं था।

मिथ्या मान्यताओं और थोथे कर्मकांडों का मार्ग सरल था। आम जनता इसमें उलझी हुई थी। अतः इनके जरिये गलत पेशा अख्तियार कर लोगों को ठगा जा सकता था। परंतु ठगने वाला यह नहीं जान पाता था कि दूसरों को ठगते हुए वह स्वयं अपने आपको भी ठग रहा है। औरों की हानि करते हुए वह अपनी भी हानि ही कर रहा है। सर्वथा हानिप्रद गलत आजीविका अपना कर धनंजानि धर्मच्युत हुआ। यदि सारिपुत्त उसे नहीं बचाते, तो वह अपना इहलोक ही नहीं बिगाड़ता, परलोक भी बिगाड़ता। भगवान ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा –

धम्मेन न वणिं चरे। (उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

– धर्म के नाम पर वाणिज्य-व्यापार न करने लगे, यानी धर्म को रोजी-पेशा न बना ले, धर्म को आजीविका का माध्यम न बना ले।

हमने पहले देखा है कि भगवान स्वयं किसी को पद्यमयी गाथा गा-सुना कर बदले में उसका भोजन तक स्वीकार नहीं करते थे – **गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं।** (सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

वे औरों को भी यही उपदेश देते थे – **धम्मेन न वणिं चरे।** (उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

परंतु धर्म जिनके लिए व्यवसाय हो गया था, वे लोगों को कर्मकांडों में ही उलझाए रखना चाहते थे।

कर्मकांड

आज की भांति उन दिनों भी अनेक कर्मकांड प्रचलित थे। लोग उन कर्मकांडों से शुद्ध, मुक्त हो जाने की मिथ्या मान्यता मानते थे। पुरोहितवर्ग इन मिथ्या मान्यताओं के भँवर में स्वयं भी डूबा हुआ था, अनेक गृहस्थों को भी डुबो रहा था। उन दिनों जो अनेक कर्मकांड प्रचलित थे, उनमें से एक था नदी-स्नान।

गया काश्यप

इस संबंध में उरुवेल काश्यप के भाई गया काश्यप के उद्गार ध्यान देने योग्य हैं। उसने मुक्ति के हर्ष में कहा –

पहले मैं प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीन बार गया की फल्गु नदी में उतरता था। पहले मेरी यह मान्यता थी कि पूर्व जन्मों में मैंने जो पाप किये थे, उन्हें अब नदी स्नान द्वारा बहा रहा हूं, परंतु भगवान के संपर्क में आकर धर्म-गंगा में डुबकी लगी तो –

निन्हातसब्बपापोम्हि, निम्मलो पयतो सुचि।
सुद्धो सुद्धस्स दायादो, पुत्तो बुद्धस्स ओरसो। (थेरगा० ३४८, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– मैंने (वस्तुतः) सब पाप धो डाले। मैं निर्मल हूं, पवित्र हूं, शुद्ध हूं। शुद्ध हुए बुद्ध का शुद्ध उत्तराधिकारी हूं, बुद्ध का औरस-पुत्र हूं।

ओगय्हट्ठङ्गिकं सोतं, सब्बपापं पवाहयिं।

– अष्टांगिक मार्ग रूपी स्रोत में डुबकी लगा कर मैंने सारे पाप प्रवाहित कर दिये हैं।

तिस्सो विज्जा अज्झगमिं, कतं बुद्धस्स सासनं। (थेरगा० ३४९, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– मैंने तीनों विद्याएं प्राप्त कर ली हैं, मैंने बुद्ध की शिक्षा पूरी कर ली है।

फल्गु नदी में नहाने से क्या मिलता भला? परंतु अनेक लोग इसी अंध-मान्यता में उलझे हुए थे।

सुंदरिक भारद्वाज

एक बार भगवान ने अपना प्रवचन समाप्त करते हुए कहा कि जो व्यक्ति साधना द्वारा सारा मैल धोकर अनास्रव, अरहंत हो जाता है वह –

भिक्खु, सिनातो अन्तरेन सिनानेन। (म० नि० १.७८, वत्थसुत्त)

– भिक्षु अंतःस्नान द्वारा स्नात यानी नहाया हुआ हो जाता है।

पास बैठे सुंदरिक भारद्वाज ने भगवान का पूरा उपदेश तो सुना नहीं, केवल अंतिम बोल उसके कान में पड़े। इसे भी वह ठीक से न समझ पाया। स्नान शब्द की भनक कान में पड़ी तो वह अपनी अंध-मान्यता की धुन में झट बोल उठा –

गच्छति पन भवं गोतमो बाहुकं नदिं सिनायितुं?

– क्या आप गोतम स्नान के लिए बाहुका नदी चलेंगे?

भगवान ने पूछ लिया – हे ब्राह्मण, यह बाहुका नदी क्या है? क्या करेगी बाहुका नदी भला?

– हे गोतम, बाहुका नदी लोकमान्य है। वह बहुतों द्वारा पवित्र मानी जाती है और कहा –

बाहुकाय पन नदिया बहुजनो पापकम्मं कतं पवाहेतीति।

– बहुत से लोग अपने किये पापों को बाहुका नदी में बहाते हैं।

तब भगवान ने सुंदरिक भारद्वाज को समझाया –

बाहुका, अधिकक्का, गया और सुंदरिका में, सरस्वती, प्रयाग अथवा बाहुमती में कलुषित कर्मों वाला मूढ़ व्यक्ति चाहे रोज नहाये, पर वह शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुंदरिका, क्या करेगा प्रयाग और क्या करेगी बाहुका नदी? वह किसी कलुषित चित्त वाले पापकर्मी व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकती।

सुद्धस्स वे सदा फग्गु, सुद्धस्सुपोसथो सदा।
सुद्धस्स सुचिकम्मस्स, सदा सम्पज्जते वतं।

– जो शुचिकर्मी, शुद्धचित्त व्यक्ति है, उसके लिए तो सदा सर्वत्र ही फल्गु है, सदा ही उपोसथ है, उसके व्रत तो सदा ही पूरे होते रहते हैं।

इधेव सिनाहि ब्राह्मण – हे ब्राह्मण, तू यहीं (इस धर्म-गंगा में) स्नान कर।

यह धर्म-गंगा क्या है?

सब्बभूतेहि करोहि खेमतं – सारे प्राणियों के प्रति कुशल-क्षेम का भाव रख।

सचे मुसा न भणसि, सचे पाणं न हिंससि।
सचे अदिन्नं नादियसि, सद्दहानो अमच्छरी॥

– यदि तुम असत्य भाषण नहीं करते हो, प्राणी हिंसा नहीं करते हो, चोरी नहीं करते हो, यदि तुम सद्धर्म के प्रति श्रद्धालु हो तथा तुममें मात्सर्य नहीं है,

किं काहसि गयं गन्त्वा, उदपानोपि ते गया। (म० नि० १.७९, वत्थसुत्त)

– तो तुम गया जाकर क्या करोगे? तुम्हारे लिए तो छोटा सा तालाब ही गया है।

लगता है यही धर्म-वाणी आज की हिंदी तक छनती हुई चली आयी और यह मुहावरा लोक प्रसिद्ध हो गया – "जब मन चंगा, तो कठौती में गंगा"।

एक बार भगवान गया गये हुए थे। वहां देखा बहुत से जटाधारी संन्यासी कड़ाके की सर्दी में नदी में डुबकियां लगा रहे हैं। यह देख कर भगवान ने कहा –

न उदकेन सुची होति, बह्वेत्थ न्हायती जनो। (उदा० ९, जटिलसुत्त)

– यहां अनेक लोग नहाते हैं, परंतु इससे चित्त शुद्धि नहीं होती।

आगे चल कर इसी सच्चाई की अभिव्यंजना करते हुए नानक जैसे महान संत ने कहा –

"सुचै सुच न होवई जो सुचै लख बार॥"

– शरीर को लाख बार धोकर स्वच्छ कर लेने पर भी मन स्वच्छ नहीं होता।

और कहा –

सोच करे दिवस अरु राति। मन को मैल न तन ते जाति।

– रात और दिन नहाता रहता है। लेकिन तन धोने से मन का मैल दूर नहीं होता।

लोक कल्याण के लिए भगवान को धर्म का सत्य स्वरूप, शुद्ध स्वरूप स्थापित करना था। लोक मंगल ही अभीष्ट था उन महाकारुणिक को। धर्म के नाम पर भटके हुए लोगों को सही दिशा-निर्देश करना था। चित्त की शुद्धि तो सभी का लक्ष्य था, परंतु लोग उसे किसी नदी के जल में खोजते थे। यही भटकन थी। इसी से लोगों को दूर करना था।

तपो च ब्रह्मचरियञ्च, तं सिनानमनोदकं। (सं० नि० १.१.५८, उप्पथसुत्त)

– चित्त शुद्धि के लिए तप और ब्रह्मचर्य का स्नान करना होगा न कि जल का।

और कहा –

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, सो सुची सो च ब्राह्मणो। (ध० प० ३९३, ब्राह्मणवग्ग)

– जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही सही माने में ब्राह्मण है।

सचमुच –

बाहितपापोति ब्राह्मणो। (ध० प० ३८८, ब्राह्मणवग्ग)

– जिसने अपने पाप बहा दिये हैं, वही सही माने में ब्राह्मण है।

परन्तु पाप पानी में नहीं बहाये जा सकते। पाप-शुद्धि पानी से नहीं हो सकती।

कायसुचिं वचीसुचिं, चेतोसुचिं अनासवं।
सुचिं सोचेय्यसम्पन्नं, आहु निन्हातपापकं। (अ० नि० १.३.१२२, दुतियसोचेय्यसुत्त)

वस्तुतः शुद्ध व्यक्ति तो वही है, जिसने अपने कायिक कर्मों को शुद्ध कर लिया, वाचिक कर्मों को शुद्ध कर लिया, चैतसिक (मानसिक) कर्मों को शुद्ध कर लिया, जो अनास्रव हो गया, जो पापों को धोकर शुचि-संपन्न हो गया।

क्या यह शुचि-संपन्नता किसी नदी-नहान से प्राप्त हो सकती है भला?

इसके लिए तो –

धम्मो रहदो ब्राह्मण सीलतित्थो, अनाविलो सब्भि सतं पसत्थो।
यत्थ हवे वेदगुनो सिनाता, अनल्लगत्ताव तरन्ति पारं।

(सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत्त)

– हे ब्राह्मण, धर्म सरोवर है, निर्मल शील जिसके घाट हैं, जो संतों द्वारा प्रशंसित है। ज्ञानीजन इसमें स्नान करते हैं और बिना भीगे पार उतर जाते हैं।

ऐसे धर्म-सरोवर में स्नान करके ही कोई व्यक्ति शुचि-संपन्न होता है और सही ब्राह्मण बनता है।

नदी-स्नान से इस स्नान की क्या तुलना हो सकती है। प्रकृति के जो बँधे-बँधाये नियम हैं जिनके अनुसार –

अत्तना हि कतं पापं, अत्तना सङ्किलिस्सति।
अत्तना अकतं पापं, अत्तनाव विसुज्झति।

– अपने द्वारा किया गया पाप अपने आपको मैला करता है। अपने द्वारा न किया गया पाप अपने आपको शुद्ध करता है।

सुद्धी असुद्धि पच्चत्तं, नाञ्ञो अञ्ञं विसोधये। (ध० प० १६५, अत्तवग्ग)

– शुद्धि और अशुद्धि अपने ही किये होती है। कोई दूसरा किसी दूसरे को विशुद्ध नहीं कर सकता।

न सुद्धि सेचनेनत्थि। (जा० १.१४.६९, उद्दालकजातक)

– किसी के द्वारा जल छिड़क दिये जाने पर कोई शुद्ध नहीं हो जाता।

किसी नदी में नहाने से अथवा किसी नदी का जल छिड़कवाने से कोई व्यक्ति अपने कर्मों के दुष्फल भोगने से बच नहीं सकता।

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥ (ध० प० १२७, पापवग्ग)

– न अंतरिक्ष में, न समुद्र के बीच, न पर्वत की गुफा में प्रवेश कर और न ही संसार में (अन्य) कोई ऐसा स्थान है, जहां स्थित होकर कोई अपने पापकर्मों के (दुष्फल से) बच सके।

पूर्णा थेरी

बुद्ध-पुत्री पूर्णा थेरी ने इसी को इन शब्दों में व्यक्त किया –

सचे भायसि दुक्खस्स, सचे ते दुक्खमप्पियं।
माकासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो॥
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा।
न ते दुक्खा पमुत्यत्थि, उपेच्चापि पलायतो॥ (थेरीगा० २४६-२४८, पुण्णाथेरीगाथा)

– यदि तुझे दुःख से भय है, यदि तुझे दुःख प्रिय नहीं लगता, तो प्रकट या छिपे रूप से कोई पाप कर्म मत कर। अब या भविष्य में यदि तू पाप कर्म करेगा, तो दुःख से तेरी मुक्ति संभव नहीं। चाहे कहीं जा, चाहे कहीं भाग, पर तुझे दुःख से छुटकारा नहीं मिलेगा।

सचमुच यदि कोई व्यक्ति दुष्कर्म कर ले, तो दुःख उसका पीछा नहीं छोड़ता।

मनसा चे पदुट्ठेन, भासति वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति, चक्कंव वहतो पदं॥ (ध० प० १, यमकवग्ग)

– प्रदुष्ट चित्त से यदि वाणी का या शरीर का कर्म कर लेता है तो उसके पीछे दुःख ऐसे ही लग जाता है जैसे कि गाड़ी से जुते बैल के पीछे गाड़ी का चक्का लग जाता है।

भगवान के ये बोल उस बुद्ध-धीता को खूब याद थे, तभी उसने कहा, पाप कर्म करके चाहे जहां भागे, दुःख से छुटकारा नहीं मिल सकेगा।

पूर्णा प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडिक की क्रीत दासी थी। घर के लिए पानी भरने का काम करती थी। कड़ाके की सर्दी में सुबह-सुबह पानी भरने के लिए उसे नदी में उतरना पड़ता था। एक दिन उसने देखा एक ब्राह्मण उस सर्दी में नदी में उतर कर ठंडे पानी में डुबकियां लगा रहा है। पूछने पर उसने उत्तर दिया –

दकाभिसेचना सोपि, पापकम्मा पमुच्चति।

– जल के अभिषेक से मुझे पाप कर्मों से मुक्ति मिलेगी।

इस पर पूर्णा दासी ने ब्राह्मण को फटकारते हुए कहा –

को नु ते इदमक्खासि, अजानन्तस्स अजानको।

– अरे, यह तुझे किसने कह दिया? यह तो किसी अज्ञानी द्वारा किसी अज्ञानी को दिया गया उपदेश है।

दकाभिसेचना नाम, पापकम्मा पमुच्चति।

– यदि पानी के नहान द्वारा पाप कर्मों से विमुक्ति हो जाती तो –

सग्गं नून गमिस्सन्ति, सब्बे मण्डूककच्छपा।
नागा च सुसुमारा च, ये चञ्ञे उदके चरा॥ (थेरीगा० २३९-२४१, पुण्णाथेरीगाथा)

– ये सारे मेंढ़क और कछुए, पानी के सांप और मगरमच्छ तथा अन्य सभी जलचर निश्चित रूप से स्वर्गगामी हो जाते।

मानो परवर्ती नाथों, सिद्धों और संतों को विपश्यिनी पूर्णा द्वारा स्वस्थ चिंतनधारा प्रदान की गयी।

उसने आगे कहा – यदि जल स्नान से पापमुक्ति होती तो फिर भेड़-बकरी, सूअर और मुर्गे को मार कर उनका मांस बेचने वाले कसाई तथा मछुए, जल्लाद, चोर, डाकू और अन्य पापी लोग पाप कर्म करके नदी में स्नान करके क्या पापमुक्त हो जाते हैं?

यह सुन कर ब्राह्मण को होश आया और वह मिथ्या मार्ग छोड़ कर सन्मार्ग पर लग गया।

भगवान की शिक्षा के संपर्क में जो आया उसने यह भली-भांति समझ लिया कि अपने पाप कर्मों को धो डालने के लिए केवल एक ही रास्ता है और वह यह है कि काया, वाणी और चित्त से मौन रह कर भीतर धर्म की गंगा में डुबकी लगाए।

कायमुनिं वचीमुनिं, मनोमुनिमनासवं।
मुनिं मोनेय्यसम्पन्नं, आहु निन्हातपापकं॥ (इतिवु० ६७, मोनेय्यसुत्त)

– काया, वाणी और चित्त से मौन संपन्न, अनास्रव मुनि ही (धर्म गंगा में) नहा कर पाप को बहा देने वाला कहा जाता है।

यही अपने भीतर का सही धर्म स्नान है।

भगवान के जीवन काल की एक घटना –

नंदक लिच्छवी

उन दिनों भगवान वैशाली के महावन की कूटागारशाला में विहार कर रहे थे। लिच्छवियों का महामात्य नंदक भगवान से मिलने आया। नमन-अभिवादन कर वह एक ओर बैठ गया। भगवान ने मुक्तिप्रदायक धर्मपंथ की चर्चा की और कहा कि यह सब मैं किसी श्रमण या ब्राह्मण के मुँह से सुन कर नहीं कह रहा हूं, यानी यह कोई सुनी-सुनायी बात नहीं है। मैंने इसे स्वयं जाना है, देखा है और अनुभव किया है, तभी कह रहा हूं।

नंदक अत्यंत श्रद्धाभाव से दत्तचित्त होकर सुन रहा था। सुनते-सुनते अपने भीतर उदय-व्यय की सच्चाई का अनुभव करने लगा। इतने में उसका नौकर यह याद दिलाने आया कि स्नान का समय हो गया है। नंदक को यह विघ्न बड़ा अटपटा लगा। वह अपने नौकर को चुप कराते हुए बोला –

अलं दानि, भणे, एतेन बाहिरेन नहानेन – अरे भणे, बाहरी स्नान तो बहुत किया।

अलमिदं अज्झत्तं नहानं भविस्सति, यदिदं – भगवति पसादोति। (सं० नि० ३.५.१०२६, नन्दकलिच्छविसुत्त)

– अब तो यह भीतरी स्नान ही पर्याप्त है जो कि भगवान के प्रति जागी हुई श्रद्धा में निहित है।

इस स्नान के लिए तो पानी की भी आवश्यकता नहीं होती।

भगवान ने ठीक ही कहा –

तपो च ब्रह्मचरियञ्च, तं सिनानमनोदकं। (सं० नि० १.१.५८, उप्पथसुत्त)

– तप और ब्रह्मचर्य का स्नान बिना पानी का स्नान है।

वस्तुतः बिना पानी का यह भीतरी स्नान ही कल्याणकारी है, पापविमोचक है, बाहरी नहीं। परंतु जब समाज में धर्म का शुद्ध स्वरूप लोप हो जाता है तब अंध-मान्यताएं ही लोगों को अपना गुलाम बना लेती हैं। इन मान्यताओं के आधार पर कुछ स्वार्थी लोग औरों को ठगते हैं। औरों को ठगने वाले अनेक नासमझ लोग अपने आप स्वयं द्वारा ठगे जाते हैं। धर्म के नाम पर घोर पाखंड, छल-छद्म, प्रवंचना, धोखाधड़ी, अंधविश्वास, थोथे कर्मकांड, निरर्थक बाह्याडंबर और देह-दंडन आदि चल पड़ते हैं। यही होने लगा था। उन्हें दूर करना ही भगवान को अभीष्ट था। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए महाकारुणिक भगवान सतत लोक मंगल में लगे रहे।

पाखंडी ब्राह्मण

भगवान उन दिनों वैशाली की कूटागारशाला में विहार करते थे। उन्होंने देखा वैशाली का एक पाखंडी ब्राह्मण एक वृक्ष की डाल पर सिर नीचा करके लटका हुआ था। वह लोगों को धमकी देते हुए कह रहा था – मुझे गाय दो, स्वर्ण-मुद्राएं दो, सेविकाएं दो अन्यथा मैं यहीं से गिर कर आत्महत्या कर लूंगा और यदि ऐसा हुआ तो मेरे शाप से यह सारा नगर नष्ट हो जाएगा।

यह सुन कर लोग अत्यंत भयभीत हो उठे। लोगों को ठगने के लिए उसने जटा बांध रखी थी, मृग-चर्म पहन रखा था। वह रोज नदी में स्नान किया करता था। इसी से लोग उसे धार्मिक व्यक्ति समझते थे। लोगों को ठगने के लिए यह दिखावा पर्याप्त था। इसे देख कर भगवान ने कहा–

किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि॥ (ध० प० ३९४, ब्राह्मणवग्ग)

– हे दुर्बुद्धि, इन जटाओं से तेरा क्या बनेगा और क्या बनेगा मृग-चर्म पहनने से? तेरा मन भीतर ही भीतर गहरे विकारों से भरा है और तू बाहर बाहर से अपने शरीर को धोता है।

गुण-दोष

गुण-दोष सब में होते हैं। दोष केवल ब्राह्मणों में ही नहीं थे। दोष सभी में समा गये थे। गुण भी केवल ब्राह्मणों में ही नहीं, सभी में थे। जहां दोष थे, वहां उन्हें दूर करने के लिए भगवान उनका प्रकाशन करते थे। जहां गुण थे, वहां उन्हें बढ़ावा देने के लिए उनका प्रकाशन करते थे। इसी संदर्भ में भगवान ने कहा–

नाहं ब्राह्मण, उच्चाकुलीनता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उच्चाकुलीनता पापियंसोति वदामि।

– हे ब्राह्मण, न मैं उच्चकुलीनता को अच्छा बताता हूं न बुरा।

नाहं ब्राह्मण, उळारवण्णता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उळारवण्णता पापियंसोति वदामिगछ#)

– हे ब्राह्मण, न मैं उच्च वर्ण को अच्छा बताता हूं न बुरा।

नाहं ब्राह्मण, उळारभोगता सेय्यंसोति वदामि, न पनाहं ब्राह्मण, उळारभोगता पापियंसोति वदामि।
(म० नि० २.४३७, एसुकारीसुत्त)

– हे ब्राह्मण, न मैं भोग-संपन्नता को अच्छा बताता हूं, न बुरा।

अच्छा या बुरा होना, श्रेष्ठ या हीन होना न किसी कुल पर निर्भर करता है, न वर्ण पर और न ही धनसंपन्नता पर।

जो शील-सदाचार का जीवन जीता है, वही श्रेष्ठ है। जो दु:शील-दुराचार का जीवन जीता है, वही हेय है। चाहे वह इस कुल का हो या उस कुल का। चाहे वह इस वर्ण का हो या उस वर्ण का। चाहे वह धनवान हो या धनहीन। लोगों में वस्तुतः धर्म ही श्रेष्ठ है –

धम्मोव सेट्ठो जनेतस्मिं। (दी० नि० ३.११७, अग्गञ्ञसुत्त)

कोई व्यक्ति अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारे; वह चाहे जिस कुल-गोत्र का हो, परंतु यदि वह शीलवान है, संयतचित्त है, स्थितप्रज्ञ है और मन के मैल से मुक्त है और यों अरहंत अवस्था प्राप्त कर आचरण ही नहीं बल्कि तीनों विद्याओं से भी संपन्न हो गया है, तो वह पूज्य है, प्रशंसनीय है। तीनों विद्याओं से संपन्न हो गया अर्थात–

(१) उसमें पूर्व जन्मों का ज्ञान जग गया,

(२) उसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो गयी, और

(३) वह आस्रव-क्षय की मुक्त अवस्था का स्वयं अनुभव कर चुका।

ये तीनों विद्याएं प्राप्त कर लेने पर ही कोई व्यक्ति त्रैविद्य बनता है। केवल पुस्तकों का पाठ करने मात्र से कोई त्रैविद्य नहीं हो जाता।

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञावोसितो मुनि॥ (ध० प० ४२३, ब्राह्मणवग्ग)

– जो पूर्व जन्मों को जानता है, जो (दिव्य दृष्टि द्वारा) स्वर्ग-नरक को देख पाता है, जो अपने जन्म-क्षय को प्राप्त कर चुका है; वही अभिज्ञान-प्राप्त मुनि है, वही सिद्धि-प्राप्त सिद्ध पुरुष है।

एताहि तीहि विज्जाहि, तेविज्जो होति ब्राह्मणो।
तमहं वदामि तेविज्जं, नाञ्ञं लपितलापनं॥ (अ० नि० १.३.६०, जाणुस्सोणिसुत्त)

– इन तीन विद्याओं को जान लेने के कारण ही कोई त्रैविद्य ब्राह्मण होता है। मैं ऐसे को ही त्रैविद्य कहता हूं। आलाप-प्रलाप करने वाले किसी अन्य व्यक्ति को नहीं; केवल पाठ करने वाले को नहीं।

भगवान ने कहा कि जो विद्या और चरणसंपन्न है, वही श्रेष्ठ है। उसे ही सनत्कुमार ब्रह्मा ने भी श्रेष्ठ कहा है।

ब्रह्मुनापेसा, महानाम, सनङ्कुमारेन गाथा भासिता।

– हे महानाम, सनत्कुमार ब्रह्मा ने भी यही गाथा गायी है।

विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे। (म० नि० २.३०, सेखसुत्त)

– जो विद्याचरणसंपन्न है वही देव मनुष्यों में सबसे श्रेष्ठ है।

धर्म मार्ग पर चल कर इस अवस्था पर पहुँचे हुए अथवा पहुँचने के लिए प्रयत्नशील लोगों की बुद्ध सराहना करते थे, परंतु अधर्म के मार्ग पर चल कर लोगों को ठगने वाले अथवा यों कहें कि अपने आपको ठगने वाले लोगों को सही राह पर लाने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। उन्हें उनका दोष दिखाते थे। ऐसे लोग चाहे ब्राह्मणों में से हों या श्रमणों में से हों या अन्य परिव्राजक अथवा आजीवकों में से हों अथवा स्वयं उनके यहां प्रव्रज्या लेकर भिक्षु का बाना पहनने वालों में से हों, गुणवंत के गुणों की प्रशंसा इसलिए करते थे ताकि उसे सन्मार्ग पर आरूढ़ रहने का प्रोत्साहन मिले तथा औरों को सन्मार्ग की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा मिले। दोषपूर्ण व्यक्तियों का दोष इसलिए दर्शाते थे ताकि उनमें दोषों से उन्मुक्त होने की प्रेरणा जागे, औरों में भी दोषों से उन्मुक्त होने की प्रेरणा जागे। समाज का एक बहुत बड़ा तबका धर्म के नाम पर ढोंग, दिखावे, बाह्याडंबर और थोथे कर्मकांडों में डूबा हुआ था। उसे उबारना ही भगवान का सुष्ठु मंतव्य था।

उन दिनों मुक्ति की खोज में कुछ लोग नंगे रहते थे, कुछ शरीर पर धूल, राख, कीचड़ आदि मलते थे। कुछ लंबे उपवास करते थे, कुछ जटा बढ़ाते थे। कुछ कड़ी भूमि पर सोते थे और कुछ उकड़ूं बैठ कर कायकष्ट का उपक्रम करते थे। ऐसे लोगों को लक्ष्य करके ही भगवान ने कहा –

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का, नानासका थण्डिलसायिका वा।
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं, सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं॥ (ध० प० १४१, दण्डवग्ग)

– जिस व्यक्ति के धर्म संबंधी सारे संदेह नहीं मिट पाये याने जो अभी धर्म से दूर मिथ्या मान्यताओं में उलझा हुआ है, उसकी चित्त-शुद्धि न नग्न रहने से, न जटा बढ़ाने से, न कीचड़ लपेटने से, न उपवास करने

से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल मलने से और न उकडूं बैठ कर कायकष्ट का उपक्रम करने से ही हो सकती है।

आखिर मैल है क्या? शुद्धि किसकी है? शुद्धि किस प्रकार होती है? इसी की विशद अभिव्यंजना भरी पड़ी है सारी बुद्ध-वाणी में। जैसे कहा गया –

मला वे पापका धम्मा, अस्मिं लोके परम्हि च। (ध० प० २४२, मलवग्ग)

– इस लोक में और परलोक में पापकर्म ही मैल हैं।

इसी मैल के कारण –

पुनप्पुनं गब्भमुपेति मन्दो – मंदबुद्धि व्यक्ति बार-बार गर्भ में पड़ता है। (ध० प० ३२५, नागवग्ग)

चित्त के इस पापवर्द्धक स्वभाव को बदलने के लिए तथागत ने विपश्यना की वैज्ञानिक विधि खोज निकाली जिसका प्रयोग करके –

अनुपुब्बेन मेधावी, थोकं थोकं खणे खणे।
कम्मारो रजतस्सेव, निद्धमे मलमत्तनो॥ (ध० प० २३९, मलवग्ग)

– मेधावी व्यक्ति अपने मन के मैल को उसी प्रकार शनैः शनैः दूर करे, जैसे सुनार चांदी के मैल को क्षण-क्षण, थोड़ा-थोड़ा, क्रमशः दूर करता है।

मन के राग और द्वेष आदि मैल किसी नदी या सरोवर के जल से भला कैसे दूर हो सकते हैं? किन्हीं बाह्य आडंबरों या थोथे कर्मकांडों से कैसे दूर हो सकते हैं? इसी को लक्ष्य कर भगवान ने कहा –

भिक्षुओ, मैं चीवर धारण करने वाले के चीवर धारण कर लेने मात्र को श्रामण्य नहीं कहता। इसी प्रकार नग्न रहने वाले के नग्न रहने मात्र को, शरीर पर कीचड़ लपेटने वाले के कीचड़ लपेट लेने मात्र को, जल में निवास करने वाले के जल में निवास करने मात्र को, सदा वृक्ष के नीचे रहने वाले के सदा वृक्ष के नीचे रहने मात्र को, खुले आकाश के तले रहने वाले के खुले आकाश के तले रहने मात्र को, सदा खड़े रहने वाले के सदा खड़े रहने मात्र को, बीच-बीच में निराहार रहने वाले के बीच-बीच में निराहार रहने मात्र को, मंत्रपाठी के मंत्रपाठ करने मात्र को, जटाधारी के जटा धारण करने मात्र को मैं श्रामण्य नहीं कहता।

(म० नि० १.४३५, चूळअस्सपुरसुत्त)

यदि इन बाह्याडंबरों और कर्मकांडों के करने से लोभ, द्वेष, क्रोध, वैर, अमर्ष, निष्ठुरता, ईर्ष्या, मात्सर्य, शठता, माया, पापेच्छा और मिथ्या-दृष्टि दूर हो जाती, तो इन विकारों से छुटकारा पाना सरल हो जाता। फिर तो बचपन में ही घरवाले किसी को वैसी-वैसी वेश-भूषा पहना देते, उससे वैसा वैसा कर्मकांड करवा लेते और वह तभी सरलता से मैल-मुक्त हो जाता, परंतु ऐसा होता कहां है? ये सारे आडंबर, ये सारे कर्मकांड धोखा देने वाले हैं। जो विद्याचरणसंपन्न बुद्ध होंगे, वे लोगों को इन जंजालों से बाहर निकालेंगे। भगवान ने यही किया।

जैसे किसी नदी में स्नान कर लेने से मन के मैल धुल जाने की मान्यता बेतुकी है, वैसे ही सिर पर राख मल लेने से और जटा बांध लेने से मानस के निर्मल हो जाने की मान्यता भी बेमानी है। ऐसे लोग जो जटा बांध लेने का ढोंग तो करते हैं, परंतु जिनके मानस में विकारों की जटाएं बँधी रहती हैं, गांठें बँधी रहती हैं, उलझनें समायी रहती हैं, उनकी इस दयनीय अवस्था को देख कर भगवान से जब पूछा गया –

अन्तोजटा बहिजटा, जटाय जटिता पजा।
तं तं गोतम पुच्छामि, को इमं विजटये जटन्ति॥

– भीतर भी जटा, बाहर भी जटा। लोग इन जटाओं में किस प्रकार उलझे हैं। हे गोतम इन जटाओं से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

तब इन जटाओं की जटिलता से छुटकारा पाने के लिए भगवान ने मार्ग दिखाते हुए कहा –

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं॥

– कोई समझदार व्यक्ति शील में प्रतिष्ठित होकर समाधि और प्रज्ञा की साधना- भावना करता है। वह पका हुआ तपस्वी भिक्षु इस जटा की उलझनों को सुलझा लेता है।

मात्र बाहरी दिखावों से कोई मुक्त नहीं हो सकता। उसे भीतर की सफाई करनी होती है। चित्त को विकारों से नितांत निर्मल करना होता है, तभी मुक्त अवस्था प्राप्त होती है।

येसं रागो च दोसो च, अविज्जा च विराजिता।
खीणासवा अरहन्तो, तेसं विजटिता जटा॥ (सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– जिनके राग, द्वेष और अविद्या रूपी मोह दूर हो चुके हैं, ऐसे आस्रवमुक्त अरहंतों की जटा सुलझ चुकी है।

शुद्धि भीतर की होती है, बाहर की नहीं। इसीलिए जिन दूषित चित्त वाले वर्णवादियों को अपने गौर वर्ण का अभिमान था, उनके लिए कहा गया –

न ब्राह्मणो बहिवण्णो, अन्तो वण्णो हि ब्राह्मणो।

– बाहर के वर्ण यानी गोरे रंग से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता, भीतर के वर्ण से ही ब्राह्मण होता है।

यस्मिं पापानि कम्मानि, स वे कण्हो सुजम्पतीति॥ (थेरगा० १४०, वसभत्थेरगाथा)

– हे सुजंपति, जिसके कर्म पापमय हैं, वह (भीतर से) काला ही है। (बाहर से कितना ही गौरवर्ण क्यों न हो।)

जिसके कर्म काले हैं, उसका मन काला है। जिसका मन काला है उसको ऊपर का गौर वर्ण ब्राह्मण नहीं बना सकता। बाहर का रंग चाहे जैसा हो, परंतु यदि मन उजला है, तो कर्म उजले होंगे ही। कर्म उजले होंगे तो ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण ही कहलाने योग्य होगा। सही माने में ब्राह्मण होने के लिए विकार-विमुक्त होना अनिवार्य है।

यस्स रागो च दोसो च, मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० प० ४०७, ब्राह्मणवग्ग)

– जिसके चित्त से राग, द्वेष, मान, म्रक्ष आरे के सिरे से सरसों के दानें की तरह गिर पड़े हैं, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

चन्दंव विमलं सुद्धं, विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीभवपरिक्खीणं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० प० ४१३, ब्राह्मणवग्ग)

– जो चंद्रमा सदृश विमल, शुद्ध, स्वच्छ और निष्कलुष है, जिसकी सारी भव-तृष्णा नष्ट हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

इस प्रकार ब्राह्मण हुआ व्यक्ति स्वभावतः पूर्ण अहिंसक हो जाता है।

निधाय दण्डं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० प० ४०५, ब्राह्मणवग्ग)

– जो चर-अचर सभी प्राणियों पर प्रहार करने से विरत रहता है, जो न स्वयं हत्या करता है न औरों को हत्या करने की प्रेरणा देता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

ऐसा निर्मल-चित्त व्यक्ति न यज्ञ के लिए जीवों की हत्या करता-करवाता है; न सप्राण पेड़ों को काटता-कटवाता है। ऐसा विकार-विमुक्त व्यक्ति न औरों को बाहरी दिखावे द्वारा ठगता है, न अपने आप को, न स्वयं थोथे कर्मकांडों में उलझता है, न औरों को उलझाता है।

परंतु ऐसे भवतीर्ण व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। अधिकतर भटकने वाले ही होते हैं। तभी कहा गया –

अप्पका ते मनुस्सेसु, ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा, तीरमेवानुधावति। (ध० प० ८५, पण्डितवग्ग)

– मनुष्यों में पार जाने वाले तो थोड़े ही हैं। बाकी लोग तो इस तीर पर ही दौड़ लगाते रहते हैं।

परले तट पर जाने के लिए बीच की विकारों की नदी को पार करना होता है, जो शील, सदाचार का पालन करते हुए समाधि द्वारा चित्त को एकाग्र करके प्रज्ञा द्वारा चित्त का प्रक्षालन करने से ही संभव होता है। शील-समाधि-प्रज्ञा का अभ्यास छोड़ कर अन्य किन्हीं क्रियाओं में लगे रहना इस तीर पर ही दौड़ लगाते रहने जैसा है। ऐसे भ्रमित लोगों पर भगवान की करुणा उमड़ती थी और वे उन्हें सही दिशा-निर्देशन देते थे।

इस तीर पर दौड़ने वाले अनेक थे और वे भिन्न-भिन्न प्रकार की दौड़ लगाते थे। उनमें से एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है।

पूरण कोलियपुत्र और अचेल सेनिय

उन दिनों भगवान कोलियों के जनपद में विहार कर रहे थे। कोलियपुत्र पूरण और अचेल (निर्वस्त्र) सेनिय उनके दर्शनार्थ आये। पूरण कोलियपुत्र ने गौ-व्रत ले रखा था, यानी गाय-बैल का-सा जीवन जीने का व्रत ले रखा था। इसलिए वह दोनों हाथों और दोनों पांवों के बल पर चौपाये की तरह चलता था। इसी प्रकार अचेल सेनिय ने कुक्कुर-व्रत यानी कुत्ते का-सा जीवन जीने का व्रत ले रखा था। वह पूरण से दो कदम आगे बढ़ा हुआ था; कोई वस्त्र भी नहीं पहनता था। कुत्ते की तरह नग्न रहता था, इसलिए अचेल यानी निर्वस्त्र कहलाता था। जब भगवान से मिलने आया, तब भी उनके सामने कुत्ते की भांति गेंडुली मार कर एक ओर बैठ गया। कोलियपुत्र ने अपने साथी अचेल सेनिय की प्रशंसा करते हुए कहा – यह अनेक वर्षों से बहुत कड़े व्रत का पालन कर रहा है; भूमि पर पड़े भोजन को कुत्ते की भांति ग्रहण करता है। कोलियपुत्र ने भगवान से इस व्रत का फल जानना चाहा।

लगता है उन दिनों कुछ लोग यह मान्यता मानने वाले थे कि इसी जीवन में पशु जैसा जीवन जी लेने से भविष्य में उस योनि से मुक्ति मिल जाती है। भगवान ने करुण चित्त से दोनों को धर्म समझाया, प्रकृति के नियम समझाये।

भूता भूतस्स उपपत्ति होति – जो जैसा है, उसकी वैसी ही उत्पत्ति होती है। यानी –

यं करोति तेन उपपज्जति – जैसे कर्म करता है, वैसे ही उत्पन्न होता है।

कम्मदायादा सत्ता – प्राणी अपने ही कर्मों के वारिस हैं, उत्तराधिकारी हैं।

(म० नि० २.८१, कुक्कुरवतिकसुत्त)

दोनों को शुद्ध धर्म की बात समझ में आयी। इस जीवन में पशुओं का-सा जीवन जीते रहेंगे, तो चित्त की वैसी ही चेतना बनी रहेगी। परिणामतः मर कर वैसी ही योनि में जन्म मिलेगा। दोनों का होश जागा, उनका कल्याण जागा और वे सही मार्ग पर आरूढ़ होकर मंगललाभी हुए।

कठोर व्रत

उस समय देश में ऐसे अनेक लोग थे, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के देह-दंडन के कठोर व्रत पालते थे। उनमें से कई ऐसे भी थे, जो केवल लाभ और यश पाने के लोभ में ऐसा करते थे।

इस संबंध में वैशाली के एक अचेल का प्रसंग द्रष्टव्य है।

अचेल कोरमत्तक

अचेल कोरमत्तक ने जीवन भर नग्न रहने का व्रत ले रखा था। वह ब्रह्मचर्य का पालन करता था। उसने वैशाली के उदयन, गोतमक, सत्ताम्र और बहुपुत्र नामक चार चैत्यों की सीमाओं के बाहर न जाने का व्रत ले रखा था। परंतु साथ-साथ यह व्रत भी ले रखा था कि वह दाल-भात नहीं खायेगा; केवल मांस खायेगा और मदिरा पीयेगा। उसके कठोर व्रतों को देख कर अनेक लोग उसके प्रशंसक हो गये थे और इस कारण वह प्रचुर लाभ-सत्कार प्राप्त करता रहता था।

अनेक कठोरव्रती

ऐसे अनेक लोग थे जो लाभ-सत्कार पाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कठोर व्रत पालते थे – जैसे कि नंगा रहना, सभी आचार-विचारों को छोड़ देना, हथचट्टा होना, निमंत्रण द्वारा प्राप्त भिक्षा का त्याग करना, रोक कर दी गयी भिक्षा न लेना, अपने लिए पकायी गयी भिक्षा, लायी गयी भिक्षा, हांडी की भिक्षा, ऊखल के मुँह से निकाल कर दी गयी भिक्षा, पटरा, डंडा, मुँह से निकाली गयी या मूसल के बीच से लायी गयी भिक्षा, भोजन करने वाले दो जनों के बीच से लायी गयी भिक्षा ग्रहण न करना, गर्भिणी, दूध पिलाती या पराये पुरुष के पास गयी स्त्री से भिक्षा न लेना, चंदे से प्राप्त भिक्षा न लेना, आदि आदि। कोई कठोर व्रतधारी व्यक्ति एक ही घर से जो भिक्षा मिली, वही खाता था और एक कौर ही खाता था। कभी दो घरों से जो भिक्षा मिली, वही खाता था और दो कौर खाता था। यों एक-एक घर से एक-एक कौर लेकर ही भोजन करता था। वह एक

दिन बीच में छोड़ कर या दो दिन, चार दिन, पांच दिन, छः दिन, सात दिन बीच में छोड़ कर अथवा आधा महीना बीच में छोड़ कर आहार लेता था। वह सिर, दाढ़ी और मूँछ के बाल नोचता या नुचवाता था। सदा उकडूं बैठता था। कांटों पर, कड़े तख्ते पर या जमीन पर सोता, बैठता था। मैला खाता था। केवल खुली जगह में बिना छत के रहता था। केवल गर्म पानी पीता था। सुबह, दोपहर, शाम – तीन बार जल-शयन करता था। वह इस कठोर तपस्या के कारण अपने को महान समझता था, औरों को तुच्छ समझता था और अपना अहंकार जगाता था। इस कठोर तप के कारण लोगों से जो सत्कार, प्रशंसा पाता, उससे संतुष्ट रहता था। यदि लोग सत्कार, प्रशंसा नहीं करते तो कुपित होता था। औरों का सत्कार हुआ देख कर वह ईर्ष्या से जल-भुन उठता था, मात्सर्य से भर जाता था। आत्म-प्रदर्शन के लिए आवागमन-बहुल स्थान पर बैठता था। आत्म-प्रशंसा करता था। छिप कर दुष्कर्म करता था और पूछने पर झूठ बोलता था। ऐसा व्यक्ति कृतघ्न, ईर्ष्यालु, कृपण, शठ, मायावी, क्रूर, अभिमानी, पापेच्छ, हठीला और जिद्दी होता था। इस प्रकार कठोर तप करते हुए भी अपने मानस को क्लेश-कलुषित रखता था और परिणामतः मुक्ति से दूर रह जाता था।

(दी० नि० ३.५३-६३, उदुम्बरिकसुत्त)

आजीवक जंबुक

ऐसा एक उदाहरण हम आजीवक जंबुक का देखते हैं जो राजगृह नगर के बाहर एक चट्टान पर दिन के समय एक टांग पर खड़ा रहता था और मुँह खोले रखता था। उसने यह बात लोगों में फैला दी थी कि वह केवल हवा पीकर जीता है। जबकि वह रात में सूखी विष्ठा ढूंढ कर खाया करता था। लोगों में उसका यश बहुत फैल चुका था। अंग, मगध के लोग बड़ी संख्या में उसके दर्शनार्थ आते थे और नाना प्रकार की भोजन सामग्री भेंट में चढ़ाते थे, परंतु वह अपनी यश-प्रसिद्धि से ही खुश था। अतः उनकी भेंट नहीं स्वीकारता था। अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए उनके द्वारा भेंट में चढ़ाया हुआ भोजन महीने में एक बार कुश की नोक से खाता था। इससे उसके त्याग और तपस्या की प्रसिद्धि और अधिक फैलती थी। वह इसी में संतुष्ट तथा प्रसन्न रहता था।

सौभाग्य से वह भगवान के संपर्क में आया, धर्म के संपर्क में आया। उसे अपनी भूल समझ में आयी। उसने भगवान से साधना की विधि सीख कर अपना कल्याण साधा। इसके पूर्व जिस गलत मार्ग पर चल रहा था उसका वर्णन उसने इन शब्दों में किया –

भुञ्जन्तो मासिकं भत्तं, केसमस्सुं अलोचयिं।

– महीने में एक बार भोजन करता था, सिर और चेहरे के बाल नोचता था।

एकपादेन अट्ठासिं, आसनं परिवज्जयिं।

– आसन त्याग कर एक पैर पर खड़ा रहता था।

सुक्खगूथानि च खादिं, उद्देसञ्च न सादियिं।

– सूखी विष्ठा खाता था। आमंत्रण द्वारा दिया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करता था।

ऐसे गलत रास्ते पर पड़ा हुआ जंबुक जब भगवान के संपर्क में आया और उनकी शरण ग्रहण की तो शील, समाधि, प्रज्ञा की साधना-भावना करता हुआ तीनों विद्याओं में परिपूर्ण हो मुक्त हुआ, अरहंत हुआ और हर्ष-भरे उद्गार में कह उठा –

सरणगमनं पस्स, पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता, कतं बुद्धस्स सासनं॥

(थेरगा० २८३, २८४, २८६, जम्बुकत्थेरगाथा)

– देखो इस शरणगमन को, धर्म की इस महानता को, सुधर्मता को। मैंने बुद्ध शासन पूरा किया यानी उनकी पूरी शिक्षा ग्रहण की और तीनों विद्याएं प्राप्त कर मुक्त हुआ।

अब उसके पास लोग दर्शनार्थ आते तो उनसे वह यही कहता –

मासे मासे कुसग्गेन, बालो भुञ्जेय्य भोजनं।
न सो सङ्खातधम्मानं, कलं अग्घति सोळसिं॥ (ध० प० ७०, बालवग्ग)

– कोई मूर्ख व्यक्ति यदि महीने-महीने पर कुश की नोक से भोजन करे, तो भी वह धर्म के जानकारों के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हो सकता।

कठोर देह-दंडन की साधना करने वाले सभी लोग ढोंगी और यश-सत्कार लोभी नहीं थे। उनमें से अनेकों के मन में यह गलत धारणा बैठ चुकी थी कि ऐसी कठोर तपस्या से कर्मों की निर्जरा होती है, चित्त शुद्ध होता है और परम विमुक्त अवस्था प्राप्त होती है। ऐसों के प्रति भगवान की विशेष कृपा होनी स्वाभाविक थी, क्योंकि वे स्वयं बुद्ध होने के पूर्व बोधिसत्त्व अवस्था में ऐसे कठोर देह-दंडन की साधना में से लगभग छः वर्षों तक गुजरे थे और उसे सर्वथा निरर्थक पाकर ही उसका त्याग किया था और मुक्ति का मध्यम मार्ग चुना था।

उन्होंने कई बार अपनी दुष्कर तपश्चर्या का वर्णन किया। कोशांबी के बोधि राजकुमार को आपबीती बताते हुए उन्होंने कहा –

"मेरे दांत पर दांत रखने, जिह्वा से तालु दबाने, मन से मन का निग्रह करने से कांख से पसीना छूटता था, जैसे कोई बलवान पुरुष किसी दुर्बल व्यक्ति को शीश और कंधे से पकड़ कर दबाये और संतापित करे...।

"मैंने मुख और नासिका से श्वास का आना-जाना रोक दिया, तब मुझे अत्यधिक शीश-वेदना होती थी, वायु पेट को छेदने लगती थी, काया में अत्यधिक दाह होता था।

"आहार की मात्रा कम कर देने पर मेरा शरीर दुर्बलता की चरम सीमा तक पहुँच गया था। उस अल्पाहार के कारण जैसे वनस्पति आसीतिक की गाँठें, वैसे मेरे अंग-प्रत्यंग हो गये...। जैसे ऊंट का पैर, वैसे मेरे कूल्हे हो गये। जैसे सूओं की पांति, वैसे मेरे पीठ के कांटे हो गये थे। जैसे पुराने मकान की लकड़ी की कड़ियां, वैसी टेढ़ी-मेढ़ी मेरी पसलियां हो गयी थीं। जैसे किसी गहरे कुएं में तारे की परछाईं बहुत गहराई में दीखती है, वैसे मेरी आंखों के गड्ढों में आंखों के तारे दीखते थे। जैसे कच्चा तोड़ा हुआ कड़वा लौकी धूप और हवा से पिचक जाता है, मुरझा जाता है, वैसे मेरे सिर की चमड़ी पिचक गयी थी, मुरझा गयी थी। यदि मैं पेट की चमड़ी को मसलता तो पीठ के कांटे पकड़ में आ जाते थे। यदि मैं पीठ के कांटों को मसलता तो पेट की चमड़ी पकड़ में आ जाती थी। जब मैं पेशाब, पाखाना करता तो अक्सर वहीं भरभरा कर गिर पड़ता

था। जब मैं शरीर को हाथ से मसलता तो सड़ी जड़ वाले रोम झड़-झड़ पड़ते थे…। मेरे शरीर का गोरा रंग नष्ट हो गया था, काला पड़ गया था।"

इस प्रकार की दुष्कर तपश्चर्या करने पर भी विमुक्ति का कोई प्रकाश नहीं दीखा तो इसे त्याग कर मध्यम मार्ग अपनाया और लोगों को भी दो अतियों को त्याग कर आर्य-अष्टांगिक मार्ग पर चलना सिखाया। उन्होंने कहा –

दोनों अंतों को छोड़ कर यह जो आठ अंग वाली मध्यमा आर्य प्रतिपदा है, यही अर्थ-संहिता है, यही आर्यों द्वारा सेवित है, यही निर्वाणोन्मुखी है।

सेय्यथापि, भिक्खवे या काचिमा महानदियो सेय्यथिदं; गङ्गा, यमुना, अचिरवती, सरभू, मही, सब्बा ता समुद्दनिन्ना समुद्दपोणा समुद्दपब्भारा,

– जैसे गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही आदि सभी महानदियां समुद्र की ओर झुकती हैं, ढलती हैं, प्रवहमान होती हैं,

एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं भावेन्तो, अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति, निब्बानपोणो, निब्बानपब्भारो। (सं० नि० ३.५.१३४-१३८, दुतियादिसमुद्दनिन्नसुत्त)

भिक्षुओ, ऐसे ही आर्य अष्टांगिक मार्ग का सेवन करने वाला, आर्य अष्टांगिक मार्ग की साधना-भावना करने वाला भिक्षु निर्वाण की ओर झुकता है, अग्रसर होता है, आगे बढ़ता है।

भगवान ने स्वयं यही बीच का मार्ग अपना कर संबोधि प्राप्त की थी। अतः भूले-भटके गृहत्यागियों को यही सिखाया कि वे न तो कामभोगजनक शिथिलता में पड़ें और न ही देह-दंडन के निरर्थक व्रतों की उग्रता में। वीणा के तार को इतना ढीला भी न हो जाने दें कि उससे झंकार ही न निकले और न ही इतना खींचें कि तार ही टूट जाय।

अच्चारद्धवीरियं उद्धच्चाय संवत्तति।

– अत्यंत प्रयत्नशील होना उद्धतपन का कारण बन जाता है।

अतिसिथिलवीरियं कोसज्जाय संवत्तति। (अ० नि० २.६.५५, सोणसुत्त)

– अत्यंत ढील छोड़ देना आलस्य का कारण बन जाता है।

अतः दोनों के बीच का मार्ग ही सही मार्ग है।

अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो तेसं अग्गमक्खायति। (अ० नि० १.४.३४, अग्गप्पसादसुत्त)

– (इसीलिए) आर्य-अष्टांगिक मार्ग अग्र कहलाता है,

क्योंकि वह निर्वाण की उच्चतम अवस्था तक ले जाने वाला है। तभी कहा गया है –

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो। (ध० प० २७३, मग्गवग्ग)

– मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। और कहा –

एसेव मग्गो नत्थञ्ञो, दस्सनस्स विसुद्धिया। (ध० प० २७४, मग्गवग्ग)

– दर्शन की विशुद्धि के लिए यही एक मार्ग है, अन्य नहीं।

आर्य-अष्टांगिक मार्ग अर्थात शील, समाधि और प्रज्ञा का मार्ग। शील, समाधि और प्रज्ञा की अवहेलना करके कोई कैसे मुक्त हो सकता है भला?

इसीलिए कहा गया –

भद्दको, आवुसो, मग्गो भद्दिका पटिपदा एतस्स निब्बानस्स सच्छिकिरियाय।

(सं० नि० २.४.३१४, निब्बानपञ्हासुत्त)

– हे आयुष्मान, निर्वाण के साक्षात्कार के लिए यह भद्र मार्ग है, भद्र प्रतिपदा है।

शील, समाधि, प्रज्ञा का यह अष्टांगिक मार्ग किसी एक जाति का, किसी एक वर्ग का, किसी एक वर्ण का, किसी एक संप्रदाय का नहीं है। यह सबका है। जो इस पर चले वही मुक्त अवस्था तक पहुँचे। अतः भगवान सभी मार्गभ्रष्ट लोगों के लिए मुक्ति का यह सहज, सरल मार्ग प्रकाशित करते थे और उन्हें मिथ्या भटकन से दूर करते थे। ब्राह्मण वर्ग समाज का अगुआ था, पढ़ा-लिखा था, संपन्न था और जातिवाद तथा हिंसक यज्ञों में रत रह कर अपनी हानि कर रहा था। समाज की भी हानि कर रहा था। समाज के अगुआ होने के कारण बहुत से ब्राह्मण भगवान के संपर्क में आये। भगवान ने उन्हें बार-बार यही समझाया –

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

–न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है, न जन्म से कोई अब्राह्मण।

कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो। (सु० नि० ६५५, वासेट्ठसुत्त)

–कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण।

और इसी प्रकार कहा –

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥ (सु० नि० १४२, वसलसुत्त)

– न जन्म से वृषल (चांडाल) होता है, न जन्म से ब्राह्मण। कर्म से वृषल (चांडाल) होता है, कर्म से ब्राह्मण।

इसी अभिप्राय से जातीय-मद में प्रमत्त हुए सुंदरिक भारद्वाज से भगवान ने कहा था –

मा जातिं पुच्छी, चरणञ्च पुच्छ। (सु० नि० ४६६, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– जाति मत पूछ, चरण यानी आचरण पूछ!

यों जाति के स्थान पर आचरण को महत्त्व देने वाली बुद्धवाणी ने भारतीय जन-जीवन में क्रांति का एक ऐसा शंख बजाया जिसकी गूंज-अनुगूंज चिरकाल तक कायम रही और संतों की वाणी में प्रस्फुटित होती रही। जैसे कि –

– "जात न पूछो संत की…।"

– "जात-पाँत पूछे ना कोय…।"

"बामण, छत्री वैस सूद, जात जनम ते नाहिं।" आदि आदि।

यद्यपि भारतीय समाज पर लगा जातिवाद का यह धब्बा दूर नहीं हो सका, तो भी इन महाकारुणिक के जाति-विरोधी अभियान ने अपना असर दिखाया ही। हर युग के, हर समाज के प्रबुद्ध लोगों ने जातिवाद और

वर्णवाद की भरपूर भर्त्सना ही की। हो सकता है आज के प्रबुद्ध युग में इसका उन्मूलन हो जाय और भगवान बुद्ध का यह अभियान सफलीभूत हो जाय।

परंतु एक क्षेत्र में भगवान की कल्याणी वाणी ने पूर्ण सफलता प्राप्त की और वह था यज्ञों में पशुओं की हत्या। समय पा कर हिंसक यज्ञ देश से सर्वथा उठ गये। इस दिशा में उनकी वाणी का गहरा और फलदायी असर हुआ।

भगवान का ब्राह्मणों से वैर नहीं था, विरोध नहीं था। उनका विरोध था दोषों से। समाज में जहां-जहां दोष आ गये थे, वहां-वहां से उनके निष्कासन का उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। चाहे दोष ब्राह्मणों में थे या श्रमणों में या आजीवकों में या परिव्राजकों में या गृहस्थों में। दोष प्रक्षालन करने वाली उनकी कल्याणी वाणी सबके लिए थी। ब्राह्मणों का ब्राह्मण्य पुनः जागे, श्रमणों का श्रामण्य पुनः जागे, लोगों में शुद्ध धर्म पुनः जागे – यही उन्हें इष्ट था, यही अभीष्ट था। इसी निमित्त वे सब को सत्य का दर्शन करवाते थे। उन्हें मिथ्या मान्यताओं से दूर हटाते थे।

वे श्रमण 'श्रमण' नहीं, वे ब्राह्मण 'ब्राह्मण' नहीं, जो स्वयं सत्य का साक्षात्कार कर, मुक्त हो क्रमशः श्रामण्यफल और ब्राह्मण्यफल न प्राप्त कर लें। (इतिवु० १०३, समणब्राह्मणसुत्त)

यम्ही न माया वसती न मानो, यो वीतलोभो अममो निरासो।
पनुण्णकोधो अभिनिब्बुतत्तो, सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खूति॥

(उदा० २६, पिलिन्दवच्छसुत्त)

– जिसमें न माया है, न अभिमान है, जो निर्लोभ है, आसक्ति और तृष्णा से रहित है, जो क्रोध-मुक्त है, जो निर्वाण प्राप्त है वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है।

लोक-कल्याण के लिए उन्हें ऐसे ब्राह्मण, ऐसे श्रमण, ऐसे भिक्षु तैयार करने थे।

एक ब्राह्मण कहीं से प्रव्रजित होकर भगवान के पास आया और कहने लगा – आपके शिष्य प्रव्रजित हैं, वैसे ही मैं प्रव्रजित हूं।

भगवान ने उससे कहा – घर छोड़ कर मात्र प्रव्रज्या लेने वाले को मैं प्रव्रजित नहीं कहता।

बाहितपापोति ब्राह्मणो, समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं, तस्मा पब्बजितोति वुच्चति॥ (ध० प० ३८८, ब्राह्मणवग्ग)

– ब्राह्मण वह है जिसने पाप को बहा दिया है। श्रमण वह है जो समता का आचरण करता है। प्रव्रजित उसे कहा जाता है जिसने अपने चित्त के मैल दूर कर दिये हों।

केवल नाम के लिए प्रव्रजित होना किस काम का?

एक अन्य ब्राह्मण कहीं से प्रव्रजित होकर भगवान के पास आया और बोला – आप अपने भिक्षुओं को भिक्षु कहते हैं, मैं भी तो भिक्षु हूं। इस पर भगवान ने कहा –

न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता॥ (ध० प० २६६, धम्मट्ठवग्ग)

– परायों के पास जाकर भिक्षा मांगने मात्र से कोई भिक्षु नहीं हो जाता और न ही भिक्षु होता है सांसारिक धर्मों को ग्रहण करने से यानी दुनियादारी के झमेले में पड़ने से।

केवल नाम के लिए भिक्षु होना किस काम का?

योध पुञ्ञञ्च पापञ्च, बाहेत्वा ब्रह्मचरियवा।
सङ्खाय लोके चरति, स वे भिक्खूति वुच्चति॥ (ध० प० २६७, धम्मट्ठवग्ग)

– यहां, इस धर्म मार्ग पर पुण्य और पाप दोनों को छोड़ कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जो ज्ञानपूर्वक लोक में विचरण करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

धर्म धारण न करे तो भिक्षु होना किस काम का?

अनेक ब्राह्मणों की भांति अनेक श्रमण और भिक्षु भी धर्म धारण न कर केवल बाहरी दिखावे और पाखंड में लगे रहते थे। उन्हें भी भगवान ने वैसी ही प्यार भरी फटकार सुनायी जिससे कि वे शुद्ध धर्म को समझें और उसे धारण कर अपना कल्याण साध लें।

उन्होंने समझाया कि भिक्षु वह है जो दोष रूपी दु:खों का छेदन-भेदन करता है, उन्हें छिन्न-भिन्न करता है।

सक्कायदिट्ठि... विचिकिच्छा... सीलब्बतपरामासो... रागो... दोसो... मोहो... मानो भिन्नो होति। इमेसं खो, भिक्खवे, सत्तन्नं धम्मानं भिन्नत्ता भिक्खु होतीति। (अ० नि० २.७.८५, भिक्खुसुत्त)

– (उनके सात संयोजन –) सत्काय-दृष्टि..., संशय..., किसी शील या व्रत के प्रति आसक्ति..., राग..., द्वेष..., मोह... और मान – छिन्न-भिन्न होते हैं। भिक्षुओ, इन सातों में छिन्नता और भिन्नता प्राप्त होती है, तो ही भिक्षु भिक्षु होता है।

जो भिक्षु अपने दोषों को छिन्न-भिन्न करने का प्रयास नहीं करता, वह भिक्षु कहलाने योग्य नहीं है।

भिक्षु हत्थक को झूठ बोलते देख कर भगवान ने उसे धिक्कारा –

न मुण्डकेन समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति॥ (ध० प० २६४, धम्मट्ठवग्ग)

– जो व्रत-त्यागी है, मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता। इच्छा और लोभ में डूबा हुआ व्यक्ति क्या श्रमण होगा भला?

यो च समेति पापानि, अणुं थूलानि सब्बसो।
समितत्ता हि पापानं, समणोति पवुच्चति॥ (ध० प० २६५, धम्मट्ठवग्ग)

– जो छोटे-बड़े पापों का सर्वथा शमन कर लेता है, वह श्रमण इसीलिए कहा जाता है कि उसने अपने पापों को शमित कर लिया है।

कोई व्यक्ति देखने में सुंदर हो। उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली हो। बोलने में चतुर हो, चारुवाक(चार्वाक) हो, तो इससे वह व्यक्ति सात्त्विक साधु नहीं हो जाता। भले ही देखने में वह साधु जैसा लगे।

न वाक्करणमत्तेन, वण्णपोक्खरताय वा।
साधुरूपो नरो होति, इस्सुकी मच्छरी सठो॥ (ध० प० २६२, धम्मट्ठवग्ग)

– कोई व्यक्ति वक्ता होने मात्र से अथवा सुंदर, साधु जैसा उसका रूप होने मात्र से वह साधु नहीं हो जाता, जब कि वह ईर्ष्यालु हो, मत्सरी हो और शठ हो।

यस्स चेतं समुच्छिन्नं, मूलघच्चं समूहतं।
स वन्तदोसो मेधावी, साधुरूपोति वुच्चति॥ (ध० प० २६३, धम्मट्ठवग्ग)

– जिसके ये दोष पूरी तरह उच्छिन्न हो गये हों, जड़ से उखड़ गये हों, वही वीतद्वेष, मेधावी, साधु कहा जाता है।

एक व्यक्ति वाक्पटु हो, पर हो दुःशील तो वह साधु नहीं होता। इसी प्रकार एक मूढ़ व्यक्ति ऐसा हो जो अच्छा वक्ता न होने के कारण लज्जावश चुप्पी साधे रहे और यों मौन रहने के कारण अपने को मुनि कहे तो वह भी वस्तुतः मुनि नहीं होता। उसके लिए भगवान ने कहा –

न मोनेन मुनी होति, मूळ्हरूपो अविद्दसु।
यो च तुलंव पग्गय्ह, वरमादाय पण्डितो॥ (ध० प० २६८, धम्मट्ठवग्ग)

– कोई मूढ़, अविद्वान मौन रहने मात्र से मुनि नहीं हो जाता। जो पंडित है, वह अच्छाई-बुराई को तौलने के लिए मानो तराजू को ठीक से धारण करने वाला है। और –

पापानि परिवज्जेति, स मुनी तेन सो मुनि।
यो मुनाति उभो लोके, मुनी तेन पवुच्चति॥ (ध० प० २६९, धम्मट्ठवग्ग)

– जो दोनों लोकों की अच्छाई-बुराई को माप लेता है और पाप कर्मों का परित्याग कर देता है, वह मुनि ही सही मुनि है। वही मुनि कहलाने योग्य है।

अज्ञानी होने के कारण मौन रहने वाला मुनि नहीं होता, परंतु यदि ज्ञानी हो, आस्रव-विमुक्त हो और अधिष्ठान में अचल बैठा हुआ आर्यमौन का पालन कर रहा हो, तो वह निश्चय ही मुनि है।

कायमुनिं वचीमुनिं, चेतोमुनिं अनासवं।
मुनिं मोनेय्यसम्पन्नं, आहु सब्बप्पहायिनं॥ (अ० नि० १.३.१२३, मोनेय्यसुत्त)

– जिसकी काया मौन है, वाणी मौन है, चित्त मौन है, वह आर्य-मौन संपन्न, अनास्रव, सर्वत्यागी मुनि कहलाता है।

कोई व्यक्ति गले में भिक्षुओं का काषाय वस्त्र तो पहन लेता है, पर दुष्कर्मों में रत रहता है, उसे लक्ष्य करके भगवान ने कहा –

कासावकण्ठा बहवो, पापधम्मा असञ्ञता।
पापा पापेहि कम्मेहि, निरयं ते उपपज्जरे॥ (ध० प० ३०७, निरयवग्ग)

– ऐसे कितने ही पापी, असंयमी हैं, जो (लोगों को ठगने के लिए) गले में गेरुआ वस्त्र डाले रहते हैं। वे अपने पापकर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं।

अनिक्कसावो कासावं, यो वत्थं परिदहिस्सति।
अपेतो दमसच्चेन, न सो कासावमरहति॥ (ध० प० ९, यमकवग्ग)

– चित्त के मैल बिना हटाये जो काषाय वस्त्र पहनता है वह संयम और सत्य से हीन होने के कारण काषाय वस्त्र का अधिकारी नहीं है।

यो च वन्तकसावस्स, सीलेसु सुसमाहितो।
उपेतो दमसच्चेन, स वे कासावमरहति॥ (ध० प० १०, यमकवग्ग)

– जिसने चित्त के मैल दूर कर दिये हैं, जो शील में समाहित है जो संयमित है, और सत्यवादी है, वही काषाय वस्त्र का अधिकारी है।

सन्तकायो सन्तवाचो, सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु, उपसन्तोति वुच्चति॥ (ध० प० ३७८, भिक्खुवग्ग)

– काया से शांत, वाणी से शांत, सुसमाहित शांत भिक्षु, जिसने सांसारिक मैल का वमन कर दिया है, वही उपशांत कहा जाता है।

भिक्षु को यह शांत अवस्था किसी उम्र में भी प्राप्त हो सकती है। इसके लिए पके बाल, पकी उम्र अनिवार्य नहीं है। किसी के पके बाल देख कर ही उसे भिक्षु नहीं कह देना चाहिए। भिक्षु लकुण्टक भद्दिय उम्र में छोटे थे और कद में भी नाटे थे, परंतु मुक्त, अरहंत अवस्था प्राप्त कर चुके थे। नासमझ लोग उनके शरीर को देख कर उन्हें श्रामणेर समझते थे। उनकी यह भ्रांति दूर करते हुए और धर्म को स्पष्ट करते हुए भगवान ने कहा –

न तेन थेरो सो होति, येनस्स पलितं सिरो।
परिपक्को वयो तस्स, मोघजिण्णोति वुच्चति॥ (ध० प० २६०, धम्मट्ठवग्ग)

– सिर के बाल सफेद हो जाने से कोई स्थविर नहीं हो जाता। उसकी आयु अवश्य परिपक्व हुई है पर वह बूढ़ा अज्ञानी ही कहलाता है।

यम्हि सच्चञ्च धम्मो च, अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो, थेरो इति पवुच्चति॥ (ध० प० २६१, धम्मट्ठवग्ग)

– जिसमें सत्य है, धर्म है, अहिंसा है, संयम है, वही विगतमल, धीर स्थविर कहलाता है।

पहीनजातिमरणो, ब्रह्मचरियस्स केवली।
तमहं वदामि थेरोति, यस्स नो सन्ति आसवा॥ (अ० नि० १.४.२२, दुतियउरुवेलसुत्त)

– जो जन्म-मरण के बंधन से मुक्त है, जो ब्रह्मचारी है, केवली है, जिसमें आस्रव नहीं रह गये हैं। मैं उसे स्थविर कहता हूं।

महत्त्व गुणों का है, नाम का नहीं। यदि यथानाम तथागुण हों, तो ही उसका ब्राह्मण या श्रमण या भिक्षु या स्थविर या साधु कहलाना सार्थक है, अन्यथा निरर्थक है। भगवान के संपर्क में एक व्यक्ति आया, जिसका नाम तो था आर्य, परंतु उसकी आजीविका थी मछली मारने की। आर्य नामक उस मछुवे को देख कर भगवान ने कहा –

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियोति पवुच्चति॥ (ध० प० २७०, धम्मट्ठवग्ग)

– जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसक बने रहने पर आर्य कहा जाता है।

एक सम्यक संबुद्ध और दूसरे सम्यक संबुद्ध के बीच के लंबे अंतराल में शब्द छनते हुए चले आते हैं, परंतु उनका सही अर्थ भुला दिया जाता है। कभी कभी उनका दुरुपयोग भी होने लगता है। सम्यक संबुद्ध निरुक्ति प्रतिसंभिदा में, अर्थ प्रतिसंभिदा में, धर्म प्रतिसंभिदा में और प्रतिभान प्रतिसंभिदा में निपुण होते हैं। इसी कारण किसी शब्द की उत्पत्ति को, उसके अर्थ को, उसमें समाये हुए धर्म को अपनी प्रतिभा के बल पर समझते हैं और लोगों को समझाते हैं। लोग शब्दों का धर्ममय सही अर्थ समझते हैं, तो उनका दुरुपयोग करने से बचते हैं। श्रमण, ब्राह्मण, आर्य आदि शब्द बहुत गरिमामय हैं। भगवान ने कहा –

समणोति, भिक्खवे, ब्राह्मणो… वेदगू… भिसक्को… निम्मलो… विमलो… ञाणी… विमुत्तोति भिक्खवे, तथागतस्सेतं अधिवचनं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्साति। (अ० नि० ३.८.८५, समणसुत्त)

– भिक्षुओ, श्रमण, ब्राह्मण…, वेदगू…, भिषक…, निर्मल…, विमल…, ज्ञानी… विमुक्त शब्द तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध के पर्यायवाची हैं, यानी समानार्थी हैं।

जो व्यक्ति आस्रवों से नितांत विमुक्त हो जाता है, वही ऐसे नामों से जाना जाता है।

अयं वुच्चति, भिक्खवे, भिक्खु समणोइतिपि ब्राह्मणोइतिपि न्हातकोइतिपि वेदगूइतिपि सोत्तियोइतिपि अरियोइतिपि अरहंइतिपि। (म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

– भिक्षुओ, ऐसा आस्रवमुक्त भिक्षु श्रमण भी कहलाता है, ब्राह्मण भी, स्नातक भी, वेदज्ञ भी, श्रोत्रिय भी, आर्य भी और अरहंत भी।

भगवान ने इन शब्दों की सही व्याख्या भी प्रस्तुत की।

श्रमण यानी –

समितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापों का शमन हो गया।

ब्राह्मण यानी –

बाहितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराई बहा दी गयी।

स्नातक यानी –

न्हातास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापकर्म सब धुल गये।

वेदगू यानी –

विदितास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसने वेदनाओं के स्तर पर अकुशल धर्म एवं बुराइयों को विदित कर लिया।

श्रोत्रिय यानी –

निस्सुतास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं पापकर्म निःसृत हो गये, निकल गये।

आर्य यानी –

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराइयां दूर हो गयीं।

अरहंत यानी –

आरकास्स होन्ति पापका अकुसला धम्मा – वह जिसके अकुशल धर्म एवं बुराइयां दूर हो गयीं।
(म० नि० १.४३४, महाअस्सपुरसुत्त)

लोक कल्याण के लिए ही सत्य का प्रकाशन करना भगवान बुद्ध का मंतव्य था। इसमें उनका अपना कोई निहित स्वार्थ नहीं था। ब्राह्मण 'सही ब्राह्मण' बने, श्रमण 'सही श्रमण' बने। आर्य 'सही आर्य' बने – यही अभिप्राय था। स्वयं दूषित जीवन जीते हुए भी ऐसे गरिमामय नाम धारण करके कोई अपने आपको धोखे में न रखे। यही लक्ष्य होने के कारण भगवान की वाणी में सर्वत्र मृदुता थी, मधुरता थी, स्निग्धता थी, सौम्यता थी। कभी-कभार आवश्यकतानुसार शब्दों में किंचित कठोरता प्रकट होती भी थी तो उसमें कटुता लेशमात्र भी नहीं होती थी। उनकी वाणी मैत्री और करुणा के भावों से सदा ओत-प्रोत रहती थी। अतः सुनने वाला तत्काल प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। उनका लक्ष्य किसी को नीचा दिखा कर अपमानित करना नहीं होता था, बल्कि नीचे गिरे हुए का होश जगा कर उसे ऊपर उठाना होता था। वे जीवन भर यही करते रहे। कल्याण-कामना से अभिभूत होकर पतितों का उद्धार करते रहे। धर्म-मार्ग से पृथक पड़े लोगों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करते रहे। जब बोलते तो किसी का मन दुखाने के लिए नहीं, बल्कि सोये हुए को जगाने के लिए ही बोलते थे।

भगवान विद्यासंपन्न थे –

अयं खो मे, ब्राह्मण, रत्तिया पठमे यामे पठमा विज्जा अधिगता; अविज्जा विहता विज्जा उप्पन्ना; तमो विहतो आलोको उप्पन्नो।
(अ० नि० ३.८.११, वेरञ्जसुत्त)

– हे ब्राह्मण, रात के प्रथम याम में मुझे यह प्रथम विद्या प्राप्त हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। अंधकार नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

बुद्ध बोधिसंपन्न हुए अर्थात धर्मसंपन्न हुए, विद्यासंपन्न हुए, आलोकसंपन्न हुए। उनका जीवन ज्ञान के आलोक से भर गया। इसी कारण उन्होंने जहां कहीं धर्म का शुद्ध, सत्य स्वरूप विकृत हुआ देखा वहीं उसे तत्काल सुधारने के काम में लग गये।

भगवान चरणसंपन्न हुए यानी गहरे ध्यानों द्वारा ब्रह्मविहारी हुए तो मैत्रीसंपन्न हुए, करुणासंपन्न हुए। उनका जीवन ब्रह्मविहार से ओत-प्रोत हो गया। भारत की धरती पर मैत्री और करुणा मूर्त्तिमंत हो विचरण करने लगी। लोगों ने सजीव मैत्री और करुणा का दर्शन किया। भगवान के हर क्रिया-कलाप में मैत्री ही मैत्री समा गयी, करुणा ही करुणा समा गयी। अतः जब कभी, जिस किसी के दोष सुधारते, तो संबल मैत्री और करुणा का ही रहता। तभी उन्हें अपने जीवन काल में ही इतनी बड़ी सफलता मिली।

उनकी कल्याणी करुणा के दर्शन तिपिटक में स्थान-स्थान पर होते हैं।

अंबष्ठ माणवक

कुछ क्षण पूर्व ही अंबष्ठ माणवक ने भगवान बुद्ध को गालियां दी थीं, शाक्यों को गालियां दी थीं और जब सिद्ध हुआ कि उसका पूर्वज कृष्ण शाक्यों के आदिपुरुष सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु का दासी-पुत्र था, तो उसके साथियों ने अंबष्ठ की भर्त्सना करनी शुरू की, उसे धिक्कारने लगे। लज्जित हुए अंबष्ठ पर उस समय भगवान की महती करुणा उमड़ी। उसे बचाते हुए उन्होंने कहा कि अंबष्ठ का पूर्वज कृष्ण एक महान योगी

था। इस तरह अंबष्ठ को लज्जा-संकोच से उबारा। उसके गुरु ने अंबष्ठ की बदतमीजी के बारे में सुना, तो उसकी ओर से भगवान से क्षमा मांगी। भगवान ने क्षमा करते हुए कहा –"अंबष्ठ माणवक सुखी हो।"

कहीं द्वेष, दुर्भाव का नामोनिशान नहीं। केवल करुणा ही करुणा।

आक्रोशक भारद्वाज

हमने ऊपर देखा कि भगवान के बढ़ते हुए प्रभाव से चिढ़ा हुआ ब्राह्मण आक्रोशक भारद्वाज भगवान के पास गालियां बकते हुए आया। भगवान शांत चित्त रहे और करुण चेतना से उन्होंने उसका गालियों का उपहार अस्वीकार किया। ऐसा करुणापूर्ण व्यवहार देख कर उस ब्राह्मण का जीवन परिवर्तित हो गया।

अंगुलिमाल

हत्यारे अंगुलिमाल पर करुणा उमड़ी, तो स्वयं उसके पास गये। विपुल करुणा और मैत्री की तरंगों से प्रभावित कर उसे नारकीय जीवन से उबारा।

नालागिरि

मनुष्य तो मनुष्य, पशुओं पर भी उनकी करुणा बरसी। यज्ञ की वेदियों पर बलि हेतु बँधे हजारों पशुओं के उन्होंने प्राण बचाये। अपनी ओर दौड़ कर आते हुए दुर्धर्ष हाथी नालागिरि पर भी मैत्री और करुणा की ऐसी वर्षा की कि वह प्रमत्त पशु समीप आया तो शांत होकर उनके चरणों में झुक गया।

बीमार भिक्षु

जैसी करुणा बाहर वालों पर थी, वैसी ही उनके पास प्रव्रजित हुए भिक्षुओं पर भी थी। कोई बीमार हो जाता, तो स्वयं उसे देखने जाते। भिक्षु उन्हें आता देख कर सम्मान में खटिया से उठने लगता तो उसे रोकते। खटिया पर लेटे रहने को कहते और वे स्वयं पास बिछे आसन पर बैठ कर उसे धर्ममयी सान्त्वना के दो शब्द कहते। उसका मनोबल बढ़ाते। एक भिक्षु अत्यंत रुग्ण अवस्था में खटिया पर ही मल-मूत्र में पड़ा था। उसके शरीर के घाव चू रहे थे। स्वयं भगवान ने गर्म पानी से उसकी सेवा-परिचर्या की। उसे नहला-धुला कर स्वच्छ किया। उसके घाव धोये, पोंछे। रोगियों की इसी प्रकार सेवा करने के लिए अन्य भिक्षुओं को प्रोत्साहित किया।

आगंतुक भिक्षु

कोई भिक्षु धर्मचारिका करके थका-मांदा लौटता, तो बड़े प्यार से दो शब्द कह कर उसका श्रम हरते। आते ही पूछते –

कच्चि भिक्खु, खमनीयं, कच्चि यापनीयं – कहो भिक्षु, क्षेमपूर्वक तो हो? कुशल तो है?

कच्चिसि अप्पकिलमथेन अद्धानं आगतो – आते हुए मार्ग में बहुत कठिनाई तो नहीं हुई?

न च पिण्डकेन किलन्तोसीति – भिक्षा मिलने में दिक्कत तो नहीं हुई? (उदा० ४६, सोणसुत्त)

बाप जैसे अपने प्रिय पुत्र का कुशल-क्षेम पूछता है, यों एक-एक भिक्षु पर उनका प्यार उमड़ा पड़ता था। यही प्यार सबके प्रति था। चाहे अंतिम भोजन देने वाले चुंद को आश्वासन-भरा संदेश भिजवा रहे हों, चाहे निरुत्साहित आनंद को ढाढ़स बंधा रहे हों, चाहे जीवन के अंतिम समय मुमुक्षु सुभद्र की धर्म-जिज्ञासा का समाधान कर रहे हों, सर्वत्र उनकी करुणा ही मुखरित होती रही। तिपिटक में ऐसे और न जाने कितने प्रसंग हमारे सामने आते हैं, जो भगवान की प्रज्ञा और करुणा से सराबोर हैं।

प्रज्ञा और करुणा के कारण ही भगवान का व्यक्तित्व अत्यंत प्रभावशाली था। आगंतुक पर उसकी गहरी छाप पड़ती थी। बड़े से बड़ा विरोधी भी उनके सम्मुख हतप्रभ हो जाता था।

निग्रोध परिव्राजक

निग्रोध परिव्राजक ने भगवान की अनुपस्थिति में उनकी बहुत निंदा की। कहा – शून्यागार में रहते-रहते श्रमण गोतम की मति मारी गयी है। श्रमण गोतम सभा से मुँह चुराते हैं। वार्त्तालाप कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए लोगों से दूर-दूर भागते फिरते हैं, जैसे कानी गाय अकेली ही औरों से अलग-अलग भागी फिरती है। यदि श्रमण गोतम इस सभा में आएं तो एक ही प्रश्न द्वारा उन्हें चकरा दूं। उन्हें खाली घड़े की भांति जिधर चाहूं उधर घुमा दूं। इतने में संयोग से भगवान वहां आ पहुँचे। उन्हें आया देख कर निग्रोध परिव्राजक शेखी बघारना भूल गया। उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी और कह उठा – 'पधारें, स्वागत है आपका। भगवान ने बहुत दिनों के बाद यहां आने की कृपा की। भगवान बैठें। यह आसन बिछा है।' यों कह कर उसने भगवान को ऊंचे आसन पर बिठाया और स्वयं नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया।

केवल एक यही नहीं, ऐसे अनेक प्रसंग हमारे देखने में आते हैं। भगवान से प्रव्रजित हुए भिक्षु अथवा भगवान को भोजन के लिए घर पर आमंत्रित करने वाले सद्-गृहस्थ तो स्वभावतः उन्हें सम्मानपूर्वक ऊंचे आसन पर बैठा कर स्वयं नीचे आसन पर बैठते ही थे, परंतु जो भगवान के शिष्य या भक्त उपासक नहीं थे बल्कि निग्रोध की भांति अपने-अपने आश्रम के अधिष्ठाता संन्यासी थे, वे भी भगवान को ऊंचे आसन पर बैठा कर स्वयं नीचे आसन पर बैठा करते थे। चाहे राजगृह के मोरनिवाप का संन्यासी सकुलुदायी हो या श्रावस्ती के आराम तन्दुकाचीर का संन्यासी पोट्ठपाद हो या कोई अन्य।

यह सब भगवान के आकर्षक और चमत्कारिक व्यक्तित्व के कारण होता था। परंतु किसी के व्यक्तित्व से कोई थोड़ी सी देर के लिए भले अभिभूत हो जाय, परंतु सदा के लिए अनुगामी नहीं बन सकता। ये भगवान के करुणासिक्त, प्रज्ञापूर्ण उपदेश ही थे, जो लोगों को आजीवन उनका अनुयायी बना देते थे। और फिर उनसे कल्याणकारी विपश्यना विद्या सीख कर लाभान्वित हो जाने पर तो उनका परम भक्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

मागंधीय

कुरु के कम्मासधम्म का निवासी ब्राह्मण मागंधीय श्रमणों का बड़ा निंदक था। अपने शास्त्रों के आधार पर उन्हें **भूनहू** (भ्रूण-हत्यारे) कह कर अपमानित करता था। उनका दर्शन करना भी बुरा मानता था।

भगवान के प्रति भी उसने ऐसा ही अभद्र व्यवहार किया। परंतु जब उनकी प्रज्ञामयी और करुणा-भरी वाणी सुनी तो प्रभावित होकर कह उठा –

एवं पसन्नो अहं भोतो गोतमस्स – मैं आप गोतम के प्रति श्रद्धालु हूं।

पहोति मे भवं गोतमो तथा धम्मं देसेतुं, यथाहं आरोग्यं जानेय्यं, निब्बानं पस्सेय्यं।

(म० नि० २.२१८, मागण्डियसुत्त)

– आप गोतम मुझे वैसा धर्म-उपदेश दें, जिससे कि मैं आरोग्य को जान सकूं, निर्वाण का साक्षात्कार कर सकूं।

ऐसा हृदय परिवर्तन महज चमत्कारिक व्यक्तित्व से नहीं होता था, महाकारुणिक भगवान की कल्याणी वाणी सुनकर ही होता था।

सकुलुदायी

भगवान बुद्ध की वाणी में सुनी-सुनायी अथवा कपोल-कल्पित बातें नहीं होती थीं। वे जो कुछ कहते थे, अपने निजी अनुभव के आधार पर कहते थे। उनकी वाणी में सच्चाई भरी होती थी। वे सहज, सरल जनभाषा में बोलते थे, जो सबके लिए बुद्धि-गम्य होती थी। उनके अनुयायी भक्त ही नहीं, बाहर के लोग भी जब उन्हें सुनते तो अवाक रह कर उनकी ओर एकटक देखते हुए सुनते ही रह जाते। इस सच्चाई को प्रकट करते हुए राजगृह के परिव्राजकाराम का संन्यासी सकुलुदायी बोला –

यदा पन, भन्ते, भगवा इमं परिसं उपस होति। – जब भंते, भगवान इस परिषद के पास होते हैं,

अथाहञ्चेव अयञ्च परिसा – तब यह परिषद और मैं –

भगवतो मुखं उल्लोकेन्ता निसिन्ना होम – भगवान के मुख की ओर टकटकी लगाये बैठे रहेंगे।

यं नो भगवा धम्मं भासिस्सति, तं सोस्साम – भगवान जो धर्म उपदेश करेंगे, उसे हम सुनेंगे।

(म० नि० २.२७०, चूळसकुलुदायिसुत्त)

उनकी वाणी में सच्चाई थी। निःस्वार्थ लोक मंगल की भावना थी। इसीलिए लोग दत्तचित्त होकर उन्हें सुनते थे।

पोट्ठपाद

भगवान से निकम्मी बहस करते-करते उनकी वाणी की सार्थकता को समझता हुआ संन्यासी पोट्ठपाद कह उठा –

...समणो गोतमो भूतं तच्छं तथं पटिपदं पञ्ञपेति धम्मट्ठिततं धम्मनियामतं।

– श्रमण गोतम यथाभूत सत्य और तथ्य का मार्ग प्रकट करते हैं, जो धर्म-स्थिति और धर्मनियामता का मार्ग है।

धर्म के बँधे-बँधाये नियम होते हैं जो सब पर एक जैसे लागू होते हैं। यह धर्म-स्थिति सबके लिए एक जैसी होती है, अतः भगवान की वाणी में सर्वमान्य सत्य प्रकाशित होता था, जो लोक-कल्याणकारी होता था।

उसे कोई भी समझदार व्यक्ति कैसे नकार सकता था? उसका कोई कैसे विरोध कर सकता था? इसी को लक्ष्य कर संन्यासी पोट्ठपाद ने आगे कहा –

भूतं खो पन तच्छं तथं पटिपदं पञ्ञपेन्तस्स धम्मट्ठितितं धम्मनियामतं।

– इस प्रकार सत्य और तथ्य पर आधारित धर्म-स्थिति और धर्म-नियमों के अनुकूल प्रतिपदा के प्रकाशन को –

कथं हि नाम मादिसो विञ्ञू समणस्स गोतमस्स सुभासितं सुभासिततो नाब्भनुमोदेय्य।

(दी० नि० १.४२१, पोट्ठपादसुत्त)

– मुझ जैसा समझदार व्यक्ति श्रमण गोतम के इस सुभाषित को सुभाषित मान कर अनुमोदन कैसे नहीं करेगा?

सच्चाई-भरी लोकोपयोगी सर्वमान्य वैज्ञानिक बात को कोई कैसे अस्वीकार करता भला!

अचेल काश्यप

एक समय भगवान उजुञ्ञा के पास कण्णकत्थल मृगदाय में विहार कर रहे थे। तब अचेल काश्यप नाम का एक नग्न संन्यासी उनसे मिलने आया। वह बहुत देर तक देह-दंडन की साधना की महत्ता को लेकर भगवान से बहस करता रहा। भगवान ने निकम्मी बहस में न पड़ कर उसे कहा कि जिन-जिन बातों में हमारी असहमति है, उन्हें एक ओर रखें और आओ, जिन-जिन बातों में हमारी सहमति है उन पर विस्तार से चर्चा करें। भगवान ने सच्ची तपश्चर्या का तात्पर्य चित्त-विशुद्धि की उपलब्धि बताया। इसे स्वीकार करते-करते नग्न संन्यासी को धर्म की सही बात समझ में आने लगी और वह उत्साहित होकर बोला –

को हि, भन्ते, भगवतो धम्मं सुत्वा न अत्तमनो अस्स परं विय मत्ताय।

– भगवान से धर्म को सुन कर भला कौन अत्यंत प्रसन्न और संतुष्ट न होगा?

अहम्पि हि, भन्ते, भगवतो धम्मं सुत्वा अत्तमनो परं विय मत्ताय।

– भंते, मैं भी आपसे धर्म को सुन कर अत्यंत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुआ हूं।

अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते – भंते, क्या खूब कहा है आपने; भंते, क्या खूब कहा है आपने।

(दी० नि० १.४०४, महासीहनादसुत्त)

वह भाव-विभोर हो कह उठा – जैसे कोई उल्टे हुए को सीधा कर दे, ढके को उघाड़ दे, भूले-भटके को मार्ग दिखा दे, अंधेरे में तेल का दीपक जला दे ताकि आंखवाले देख सकें। ऐसे ही भगवान ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है।

भगवान के शिष्य

जो भगवान के पास प्रव्रजित हुए, वे भिक्षु भगवान से और उनकी शिक्षा से पूरी तरह प्रभावित थे। वे भगवान की शिक्षा से प्रत्यक्ष लाभान्वित हुए थे। अतः उनके मुँह से कृतज्ञता-भरे प्रशंसा के शब्द निकलने स्वाभाविक थे। एक अवसर पर जेतवन के भिक्षु परस्पर बात कर रहे थे। उन्होंने हर्ष-भरे उद्गार प्रकट किये –

अच्छरिया चेव, आवुसो, तथागता अच्छरियधम्मसमन्नागता च।

– आश्चर्यजनक हैं, आवुस, तथागत और आश्चर्यजनक है उनकी धर्मसंपन्नता।

अब्भुता चेव, आवुसो, तथागता अब्भुतधम्मसमन्नागता च।

– अद्भुत हैं, आवुस, तथागत और अद्भुत है उनकी धर्मसंपन्नता।

(म० नि० ३.१९७, अच्छरियअब्भुतसुत्त)

जानुस्सोणि ब्राह्मण ने यह ठीक ही कहा कि जो कुल-पुत्र घर-बार छोड़ कर आपके पास प्रव्रजित हुए हैं –

भवं तेसं गोतमो पुब्बङ्गमो – आप गोतम उनके अग्रगामी नेता हैं।

भवं तेसं गोतमो बहुकारो – आप गोतम उनके बहुत उपकारी हैं।

भवं तेसं गोतमो समादपेता – आप गोतम उनके उपदेष्टा हैं। (म० नि० १.३४, भयभेरवसुत्त)

इसी कारण यह जन-समुदाय आप गोतम द्वारा साक्षात्कार किए हुए धर्म का अनुगमन करता है।

किसी परंपरागत, काल्पनिक मार्ग का नहीं, बल्कि स्वयं भगवान का देखा-जाना मार्ग। ऐसे मार्ग पर स्वयं चल कर वे उपकृत हुए हैं, कृतार्थ हुए हैं। अतः उनके द्वारा भगवान की प्रशंसा करना स्वाभाविक ही है।

लगभग पैंतालीस वर्षों तक भगवान के सान्निध्य में रहने वाले सारिपुत्त का यह कहना है –

एवंपसन्नो अहं, भन्ते, भगवति – मेरा ऐसा विश्वास है, भंते भगवान, कि –

न चाहु न च भविस्सति न चेतरहि विज्जति अञ्ञो समणो वा ब्राह्मणो वा भगवता भिय्योभिञ्ञतरो यदिदं सम्बोधियं। (दी० नि० २.१४५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– संबोधि में भगवान से बढ़ कर कोई दूसरा श्रमण ब्राह्मण न हुआ, न होगा और न इस समय है।

भगवान को इतने समीप से देखने-परखने वाले सारिपुत्त का यह उद्गार स्वाभाविक है।

परंतु एक सामान्य गृहस्थ ने भी भगवान के बारे में यही कहा –

ये केचिमे तित्थिया वादसीला, आजीवका वा यदि वा निगण्ठा।
पञ्ञाय तं नातितरन्ति सब्बे, ठितो वजन्तं विय सीघगामिं॥

(सु० नि० ३८३, धम्मिकसुत्त)

– जितने भी वाद-विवादी आजीवक या निर्ग्रंथ हैं, वे सब आपसे प्रज्ञा में वैसे ही आगे नहीं बढ़ सकते, जैसे कि खड़ा रहने वाला शीघ्र चलने वाले से।

सचमुच भगवान की प्रज्ञा थी ही ऐसी कि उनके समीपवर्ती लोग ही नहीं, बल्कि थोड़े समय के लिए बातचीत करने के लिए आये हुए अन्य श्रमण, ब्राह्मण भी बातचीत पूरी होने पर उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते थे।

अग्निवत्सगोत्र

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। तब अग्नि नामक वत्सगोत्रीय संन्यासी भगवान से मिलने आया। वह भगवान से ऐसे प्रश्न पूछने लगा जिनका भगवान उत्तर

नहीं देते थे, क्योंकि वे निरर्थक अप्रासंगिक प्रश्न थे। उनका चित्त-विशुद्धि से, संबोधि से या विमुक्ति-निर्वाण से कोई संबंध नहीं था। वे केवल दार्शनिकों के थोथे बुद्धि-विलास और वाणी-विलास से उत्पन्न थे और इसलिए हानिकारक थे। कुछ देर की बातचीत के बाद भगवान ने उसे शुद्ध धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुन कर वह समझ गया कि भगवान निकम्मी, निरर्थक एवं निस्सार बातों में अपना समय नहीं बरबाद करते। वे निस्सार को त्याग कर शुद्ध धर्म का सार ही बताते हैं, जो सर्वहितकारी है, मुक्तिदायी है। इसे समझ कर वह अत्यंत आह्लादित होकर बोल उठा –

हे गोतम, गांव या निगम के समीप कोई महान शाल वृक्ष हो, उसके शाखा-पत्र नष्ट हो जायँ, छाल-पपड़ी नष्ट हो जायँ, गूदा नष्ट हो जाय और वह सार-मात्र में अवस्थित रह जाय; ऐसे ही आप गोतम का यह प्रवचन शाखा-पत्र रहित, छाल-पपड़ी रहित, गूदा रहित, शुद्ध सार-मात्र में अवस्थित है।

(म० नि० २.१९२, अग्गिवच्छसुत्त)

गणक मौद्गल्यायन

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में मिगारमाता के पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। तब गणक नामक मौद्गल्यायन गोत्रीय ब्राह्मण उनसे मिलने आया। वार्त्तालाप के दौरान उसने पूछा – जैसे ब्राह्मणों के अध्ययन में क्रमबद्ध शिक्षा दी जाती है, क्या वैसे ही आपकी धर्म-शिक्षा भी क्रमबद्ध है? भगवान ने धर्म-शिक्षा का क्रमबद्ध ब्यौरा समझाया, जिसे सुन कर गणक आश्चर्यचकित हुआ कि यह शिक्षा निर्वाण अवस्था तक ले जाती है। उसने पूछ लिया कि जिसे शिक्षा दी जाती है, क्या वे सभी निर्वाण अवस्था तक पहुँच जाते हैं? भगवान ने बताया कि कोई कोई पहुँचते हैं, कोई कोई नहीं भी पहुँचते।

इस पर गणक ने पूछा – निर्वाण की विद्यमानता होते हुए भी, निर्वाण तक पहुँचने का मार्ग होते हुए भी और आप जैसा मार्ग-दर्शक होते हुए भी कोई कोई निर्वाण तक क्यों नहीं पहुँच पाते?

भगवान ने उत्तर देने के पहले उसी से प्रति-प्रश्न किया – तुम राजगृह तक का मार्ग खूब जानते हो। कोई तुमसे मार्ग पूछे और तुम पूछने वालों को सही-सही मार्ग बता दो। उनमें से कोई तो ठीक रास्ते चल कर राजगृह पहुँच जाय, कोई कुरास्ते पड़ कर भटक जाय, राजगृह नहीं पहुँचे, तो तुम क्या कहोगे? राजगृह की विद्यमानता होते हुए भी, वहां तक जाने का मार्ग होते हुए भी, तुम्हारे जैसा पथ बताने वाला होते हुए भी वह राजगृह क्यों नहीं पहुँचता?

तो ब्राह्मण ने उत्तर दिया – हे गोतम, मैं इसमें क्या करूं? मैं तो महज मार्ग बताने वाला हूं।

इस पर भगवान ने समझाया – ऐसे ही ब्राह्मण, निर्वाण के रहते हुए भी, निर्वाणगामी मार्ग के रहते हुए भी, मार्ग-दर्शक के रहते हुए भी कोई निर्वाण तक न पहुँचे, तो इसमें मैं क्या करूं? ब्राह्मण, मैं तो केवल मार्ग आख्याता हूं।

एत्थ क्याहं, ब्राह्मण, करोमि? मग्गक्खायीहं, ब्राह्मण, तथागतो। (म० नि० ३.७७, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

गणक मौद्गल्यायन को बात खूब समझ में आयी। वह भाव-विभोर हो कह उठा –

हे गोतम, जैसे मूलगंध में खस सर्वश्रेष्ठ है, सारगंध में लोहित चंदन सर्वश्रेष्ठ है, पुष्पगंध में जूही सर्वश्रेष्ठ है,

एवमेव भोतो गोतमस्स ओवादो परमज्जधम्मेसु। (म० नि० ३.७८, गणकमोग्गल्लानसुत्त)

वैसे ही आजकल के जितने वाद हैं, उनमें आप गोतम का कथन सर्वश्रेष्ठ है।

यह सच है कि कहीं-कहीं भगवान को **मुण्डका, समणका, ईब्भा, कण्हा, बन्धुपादापच्चा** कह कर अथवा **भूनहू समणो गोतमो** कह कर निंदा भी की गयी, परंतु संसार में ऐसा कोई नहीं होता, जिसकी सदा प्रशंसा ही हो, जिसकी कभी निंदा हो ही नहीं। यह लोक-नियम है, लोक-धर्म है।

न चाहु न च भविस्सति, न चेतरहि विज्जति।
एकन्तं निन्दितो पोसो, एकन्तं वा पसंसितो॥ (ध० प० २२८, कोधवग्ग)

– एकमात्र निंदित ही निंदित अथवा एकमात्र प्रशंसित ही प्रशंसित व्यक्ति न था, न होगा और न आजकल है।

मूर्खों द्वारा निंदा या प्रशंसा बेमानी है। परंतु मेधावी, समझदार द्वारा निंदित ही वस्तुतः निंदित होता है। उसके द्वारा प्रशंसित ही वस्तुतः प्रशंसित होता है।

भगवान से मिले बिना, उनकी पूरी बात सुने बिना, कोई व्यक्ति भ्रमवश उनकी निंदा करता था, पर जब कोई समझदार व्यक्ति उनसे मिल कर वार्त्तालाप करता तब अपना भ्रम दूर कर ही लेता था और उसके मुँह से प्रशंसा के शब्द निकलने स्वाभाविक हो जाते थे।

सुभ माणवक

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में रहते थे। भगवान के अनेक भिक्षु अरहंत अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। उनमें से कई धर्मचारिका पर निकल पड़ते, तो भी कोई न कोई श्रावस्ती में रहता ही था। इसीलिए लोगों में इस बात की चर्चा थी कि किसी समय भी –

अविवित्ता सावत्थी अरहन्तेहि – श्रावस्ती अरहंतों से शून्य नहीं रहती। (म० नि० २.४६२, सुभसुत्त)

और उस समय तो श्रावस्ती में स्वयं भगवान विराज रहे थे। अतः भारद्वाज ब्राह्मण माणवक सुभ ने यह सुना तो भगवान से मिलने चला आया। अनेक ब्राह्मणों की भांति वह भी श्रमणों के प्रति पूर्वाग्रह ग्रसित था। अतः भगवान की पूरी बात सुने बिना ही उसके मन में भगवान के प्रति दुर्भाव जागा।

समणो गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गोतम पापी है। (म० नि० २.४६६, सुभसुत्त)

परंतु जब धैर्यपूर्वक उनकी पूरी बात सुनी, तो अत्यंत भाव-विभोर हो उठा। अपने को भगवान का उपासक शिष्य घोषित कर श्रद्धापूर्वक नमन कर चला गया। रास्ते में उसे श्वेत घोड़े जुते हुए, श्वेत रथ पर सवार कोशल का राजपुरोहित जानुस्सोणि ब्राह्मण मिला, जिसके पूछने पर सुभ माणवक ने बताया कि वह भगवान बुद्ध से मिल कर आ रहा है।

इस पर जानुस्सोणि ने –

तं किं मञ्ञसि भवं भारद्वाजो समणस्स गोतमस्स पञ्ञावेय्यत्तियं पण्डितो मञ्ञेति?

– आप भारद्वाज श्रमण गोतम की प्रज्ञा के बारे में क्या मानते हैं, क्या वह पंडित जान पड़ता है?

इसके उत्तर में सुभ माणवक ने कहा –

को चाहं, भो, को च समणस्स गोतमस्स पञ्ञावेय्यत्तियं जानिस्सामि।

– भो, कहां श्रमण गोतम और कहां मैं! मैं कैसे उनकी प्रज्ञा को जानूंगा?

यानी जो उन जैसा प्रज्ञावान होगा, वही उनकी प्रज्ञा को जान सकेगा।

यह सुन कर ब्राह्मण जानुस्सोणि ने कहा –

उळाराय खलु भवं भारद्वाजो समणं गोतमं पसंसाय पसंसति।

– आप भारद्वाज बड़ी उदार वाणी से श्रमण गोतम की प्रशंसा करते हैं।

इस पर सुभ माणवक ने कहा –

को चाहं, भो, को च समणं गोतमं पसंसिस्सामि।

– भो, मैं क्या हूं जो श्रमण गोतम की प्रशंसा करूंगा?

वे तो देव-मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, अतः खूब प्रशंसित हैं ही। कुशल की आराधना के लिए ब्राह्मण जो पांच धर्म बतलाते हैं, श्रमण गोतम उन्हें ही वैर-रहित चित्त से भावना करने के लिए चित्तविशुद्धि सिखाते हैं, अर्थात हम तो केवल सिद्धांत की बात करते हैं। वे उन्हीं सिद्धांतों को व्यवहार में उतारना सिखाते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि यह वही सुभ है, जो भगवान की पूरी बात सुने बिना उनके प्रति ऐसा दूषित विचार रखता था कि – **समणो गोतमो पापितो भविस्सति।**

और अब उनके प्रति इतना श्रद्धालु हो गया।

उसकी यह बात सुन कर कोशल का राजपुरोहित जानुस्सोणि ब्राह्मण श्वेत घोड़े जुते, श्वेत रथ से उतर कर दुपट्टे को जनेऊ की भांति कंधे पर रख कर, जिधर भगवान थे, उस ओर हाथ जोड़ कर, प्रसन्न चित्त से बोल उठा –

लाभा रञ्ञो पसेनदिस्स कोसलस्स – लाभ है कोशल के राजा प्रसेनजित को,

यस्स विजिते तथागतो विहरति अरहं सम्मासम्बुद्धो। (म० नि० २.४७२, सुभसुत्त)

– जिनके विजित राज्य में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध विहार करते हैं।

इसी प्रकार चाहे पिंगियानी, (अ० नि० २.५.१९४, कारणपालीसुत्त) हो, चाहे वात्स्यायन, (म० नि० १.२८८, चूळहत्थिपदोपमसुत्त) सब यही कहते थे कि भगवान की प्रज्ञा को कोई क्या माप कर बतायेगा भला? जो अगाध है उसे कोई क्या गाध सकेगा? जिसके पास गुणों का अक्षय भंडार है, उसे कोई कैसे भली-भांति शब्दों में उतार कर उनकी सही प्रशंसा कर सकेगा? फिर भी लोग भाव-विभोर होकर प्रशंसा करते ही रहते थे।

एक बार जब भगवान वज्जि जनपद में विहार कर रहे थे, तब वहां भी किसी ने भाव-विभोर होकर कहा था –

"वज्जियों का यह बहुत लाभ है कि उनके प्रदेश में भगवान तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध विहार कर रहे हैं।" (म० नि० १.३३१, चूळगोसिङ्गसुत्त)

जहां अरहंत का निवास होता है, वहां के लोगों को तो लाभ होता ही है, उस धरती को भी प्रकृति रमणीय कर देती है।

गामे वा यदि वारञ्ञे, निन्ने वा यदि वा थले।
यत्थ अरहन्तो विहरन्ति, तं भूमिरामणेय्यकं॥ (ध० प० ९८, अरहन्तवग्ग)

– चाहे गांव हो या जंगल, चाहे नीची भूमि हो या ऊंचा स्थल, जहां अरहंत विहार करते हैं, वह भूमि रमणीय ही होती है।

लोगों के लाभ का तो कहना ही क्या? भगवान की सारी शिक्षा लाभ ही लाभ से भरी थी। आखिर भगवान क्या सिखाते थे? जीवन जगत की सार्वजनीन सच्चाइयां ही तो प्रकाशित करते थे। दुःख की सच्चाई, जो कि सार्वजनीन है। निर्धन, धनी, अनपढ़, विद्वान, पुरुष, नारी – सभी दुःख में से गुजरते हैं। जहां कोई अनचाही हुई या मनचाही न हो पायी, वहीं दुःखी हो जाते हैं। दुःखी इसलिए होते हैं कि मनचाही के प्रति बड़ी कामना है, तृष्णा है, चिपकाव है, आसक्ति है। तृष्णा और चिपकाव न हो तो मनचाही न होने मात्र से कोई दुःखी नहीं हो सकता। दुःख का कारण तृष्णा है, आसक्ति है। यह सार्वजनीन सत्य है। यह सच्चाई सब पर लागू होती है। जो दुःख तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है, वह तृष्णा और आसक्ति के न होने पर स्वतः दूर हो जाता है। सीधी-सरल बात है। दुःख के कारण का निवारण होने से दुःख का निवारण स्वतः हो जाता है। और कारण के निवारण का सीधा-सरल, सार्वजनीन मार्ग शील, समाधि और प्रज्ञा का आर्य-अष्टांगिक मार्ग है, जिसे अपना कर कोई भी दुःख-मुक्त हो सकता है। यही शुद्ध धर्म-नियामता है। यह विश्व का विधान है जिसमें किसी का पक्षपात नहीं होता। किसी को ब्रह्मा के पांव से जन्मा बता कर दुत्कारा नहीं जाता। किसी को ब्रह्मा के मुँह से जन्मा बता कर सत्कारा नहीं जाता। धर्म के नियम सबके लिए एक समान हैं। कुदरत का कानून सब पर एक जैसा लागू होता है। यह धर्म नियामता ही शुद्ध धर्म है। इसका कोई कैसे विरोध करता? यही कारण था कि समझदार लोग भगवान से विवाद नहीं करना चाहते थे। इसीलिए आश्वलायन जैसे समझदार ब्राह्मण ने कहा –

समणो खलु, भो, गोतमो धम्मवादी – श्रमण गोतम धर्मवादी है। (म० नि० २.४०१, अस्सलायनसुत्त)

धर्मवादी से वाद करना दुष्कर होता है। मैं श्रमण गोतम के साथ वाद-विवाद नहीं कर सकता।

ब्राह्मण साथियों के दबाव के कारण आखिरकार उसे विवाद के लिए जाना पड़ा और बेचारे को मुँहकी खानी पड़ी, लज्जित होना पड़ा। शुद्ध धर्म का भला कोई क्या विरोध करेगा? यहां तक कि जो नास्तिक थे, वे भी विरोध नहीं कर पाते थे।

नास्तिक शब्द का अर्थ आज बिल्कुल बदल दिया गया। आज तो उसे नास्तिक कहते हैं जो आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानता। परंतु लगभग २६०० वर्ष पूर्व के भारत में यह अर्थ बिल्कुल नहीं था। तब नास्तिक उसे कहते थे, जो कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को नहीं मानता था। भगवान के जीवनकाल में जो छः अन्य आचार्य थे, उनमें से चार तो स्पष्ट नास्तिक थे ही। परंतु इनके अतिरिक्त दो और नास्तिक आचार्यों का वर्णन मिलता है – वर्ष और भण्य का, जो उत्कल देश के निवासी थे। वे दोनों कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को न मानते हुए भी भगवान की शिक्षा का विरोध नहीं कर पाते थे (म० नि० ३.१३६, महाचत्तारीसकसुत्त)।

जब कर्मफल के सिद्धांत को न मानने वाले नास्तिक भी भगवान का विरोध नहीं कर पाते थे, तो कर्मफल के सिद्धांत को मानने वाले श्रमण, ब्राह्मण कैसे विरोध करते? यदि विरोध होता था, तो ऐसे ब्राह्मणों

द्वारा जो पुरोहितगिरी की आजीविका पर आश्रित थे, अथवा ऐसे श्रमणों, ब्राह्मणों द्वारा जो अपनी अपनी अंध-मान्यताओं पर आधारित कर्म-कांडों के प्रति बुरी तरह आसक्त थे। पुरोहितगिरी करने वाले ब्राह्मणों की संख्या तो बहुत कम ही रही होगी। अतः हम देखते हैं कि एक नहीं, दो नहीं, सौ नहीं बल्कि हजारों की संख्या में अन्य ब्राह्मण भगवान की ओर खिंचे चले आये। उनकी शरण ग्रहण की और उनके अनुयायी बन गये। इसी प्रकार अन्य अनेक कर्मकांडी श्रमण, ब्राह्मण और आजीवक भी उनके बताये मार्ग पर चलने लगे। किसी भी समझदार व्यक्ति के लिए भगवान का बताया हुआ धर्ममार्ग स्वीकार्य हो जाना सहज था, क्योंकि उनकी शिक्षा में कहीं कोई दोष नहीं देख पाता था। सुनने वाला यही कह उठता था –

अच्छिद्दं भगवा कथं, अच्छिद्दं सुगतो कथं। (म० नि० २.२७३, चूळसकुलुदायिसुत्त)

– कितना अच्छा है भगवान का कथन! कितना निर्दोष है सुगत का कथन!

और तो और, हम देखते हैं कि पुरोहितवर्ग के भी अनेक ब्राह्मण भगवान की ओर खिंचे चले आये और उनके अनुयायी हो गये।

चंकी ब्राह्मण

उन दिनों ब्राह्मण पुरोहितों को राजाओं की ओर से गांव के गांव और कभी-कभी निगम के निगम दान में दे दिये जाते थे। उस उपजाऊ गांव या निगम की सारी आय ब्राह्मण पुरोहित और उसके वंशजों को मिलती थी जिससे वे बहुत संपत्तिशाली बने रहते थे और उन दिनों की भाषा में महाशाली या महाशाल कहलाते थे। ऐसा ही एक महाशाल ब्राह्मण था – चंकी, जो कोशलेश प्रसेनजित द्वारा प्रदत्त जनाकीर्ण, तृण, काष्ठ, उदक, धान्य संपन्न, राजभोग्य, राजदायज (राजा द्वारा दिया गया) ओपसाद नामक ब्राह्मणग्राम का स्वामी था।

एक बार भगवान चारिका करते हुए ओपसाद पहुँचे और गांव के उत्तर में देववन नामक शालवन में ठहरे। तब तक उनकी यह यश-कीर्ति बहुत फैल चुकी थी कि लोक में भगवान तथागत सम्यक संबुद्ध उत्पन्न हुए हैं जो स्वयं साक्षात्कार कर शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं, जो कि आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है। ऐसे अरहंतों का दर्शन अच्छा होता है।

अतः जब ओपसाद निवासियों को पता चला कि भगवान समीप के शालवन में ठहरे हुए हैं, तो समूह के समूह ग्रामनिवासी ब्राह्मण उनके दर्शनार्थ जाने लगे। चंकी ब्राह्मण ने जब यह देखा, तो लोगों को कहलाया कि जरा रुकें, मैं भी भगवान के दर्शनार्थ आपके साथ चलूंगा। उस समय किसी आयोजन में भाग लेने के लिए चंकी ब्राह्मण के यहां नाना प्रदेशों से आये हुए पांच सौ ब्राह्मण ठहरे हुए थे। उन्हें चंकी ब्राह्मण का श्रमण गोतम के दर्शनार्थ जाना अच्छा न लगा। उन्होंने चंकी को रोका और समझाया कि उन्हें श्रमण गोतम के दर्शनार्थ नहीं जाना चाहिये, बल्कि श्रमण गोतम को ही उनके दर्शनार्थ यहां आना चाहिये। इस निमित्त उन्होंने अपने तर्क प्रस्तुत किये –

१. आप माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक सुजात हैं; जातिवाद के नियमों के अनुसार निर्दोष हैं, अनिंदित हैं।

२. आप महाधनी हैं, महाभोगशाली हैं।

३. आप तीनों वेदों में पारंगत हैं।

४. आप सुदर्शनीय हैं, ब्रह्म वर्ण वाले, ब्रह्म-वर्चस्वी हैं, सुंदर हैं।

५. आप परम शीलवान हैं।

६. आप कल्याणी वाणी बोलने वाले हैं।

७. आप बहुतों के आचार्य-प्राचार्य हैं। तीन सौ ब्राह्मण माणवकों को इस समय मंत्र पढ़ाते हैं।

८. आप कोशल-नरेश प्रसेनजित द्वारा पूजित हैं, सत्कृत हैं, सम्मानित हैं।

९. आप पौष्करसाति जैसे प्रसिद्ध ब्राह्मण द्वारा पूजित हैं, सत्कृत हैं, सम्मानित हैं।

१०. आप ओपसाद ब्राह्मणग्राम के स्वामी हैं।

यह सुन कर चंकी ब्राह्मण ने जो उत्तर दिया, वह ध्यान देने योग्य है। उसने कहा – तो भो, अब मेरी भी सुनो –

१. श्रमण गोतम भी माता-पिता दोनों ओर से सात पीढ़ियों तक सुजात हैं।

२. श्रमण गोतम बहुत धन-संपदा त्याग कर प्रव्रजित हुए हैं।

३. श्रमण गोतम काले केश वाले, तरुण अवस्था में गृह त्याग कर प्रव्रजित हुए हैं।

४. श्रमण गोतम अनिच्छुक माता पिता को अश्रु-मुख रोते छोड़ कर, सिर-दाढ़ी मुँडवा कर काषाय वस्त्र पहन कर प्रव्रजित हुए हैं।

५. श्रमण गोतम अत्यंत दर्शनीय हैं, ब्रह्म-वर्चस्वी हैं, निर्दोष, सुवर्णवर्णी हैं।

६. श्रमण गोतम कल्याणी वाणी बोलने वाले हैं।

७. श्रमण गोतम बहुतों के आचार्य-प्राचार्य हैं।

८. श्रमण गोतम काम-राग से सर्वथा मुक्त हैं।

९. श्रमण गोतम प्रपंचविहीन हैं।

१०. श्रमण गोतम कर्मवादी हैं, क्रियावादी हैं यानी आस्तिक हैं, कर्म और कर्मफल के सिद्धांत को मानने वाले हैं।

११. श्रमण गोतम अनेक ब्राह्मण पुत्रों के निष्पाप अग्रणी हैं, अर्थात अनेक ब्राह्मण उनके श्रद्धालु अनुयायी हैं।

१२. श्रमण गोतम उच्च क्षत्रिय कुल से प्रव्रजित हुए हैं।

१३. श्रमण गोतम महाधनी कुल से प्रव्रजित हुए हैं।

१४. राष्ट्र के ही नहीं, राष्ट्र के बाहर के लोग भी श्रमण गोतम से प्रश्न पूछने आते हैं।

१५. अनेक सहस्र देवताओं ने भी श्रमण गोतम की शरण ग्रहण की है।

१६. श्रमण गोतम का ऐसा मंगल-कीर्ति-शब्द फैला हुआ है कि वे तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध हैं।

१७. श्रमण गोतम महापुरुषीय बत्तीस शरीरलक्षणों से युक्त हैं।

१८. मगध-नरेश राजा प्रसेनजित ने और ब्राह्मण पौष्करसाति ने अपने पुत्रों और भार्याओं सहित श्रमण गोतम की शरण ग्रहण की है।

इन सबके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि श्रमण गोतम ओपसाद ग्राम में आये हैं, अतः हमारे अतिथि हैं और अतिथि हमेशा सत्करणीय होते हैं, माननीय होते हैं, पूजनीय होते हैं। अतः मुझे ही श्रमण गोतम के पास जाना चाहिये, उन्हें मेरे पास नहीं आना चाहिये।

इतना सब कह देने के बाद चंकी ब्राह्मण ने यह भी कहा –

एत्तके खो अहं, भो, तस्स भोतो गोतमस्स वण्णे परियापुणामि।

– यह जो मैं आप गोतम का गुण वर्णन करता हूं,

नो च खो सो भवं गोतमो एत्तकवण्णो।

– वह आप गोतम इतने ही गुण वाले नहीं हैं।

अपरिमाणवण्णो हि सो भवं गोतमो। (म० नि० २.४२५, चङ्कीसुत्त)

– आप गोतम अपरिमाण गुण वाले हैं।

यों अपने साथियों के मना करने पर भी चंकी ब्राह्मण भगवान के पास गया। वहां बहुत देर तक धर्म-संबंधी विशुद्ध चर्चा होती रही। अंत में चंकी ब्राह्मण ने कहा कि मैंने जो कुछ पूछा और आपने उसका जो उत्तर दिया –

तञ्च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्ह अत्तमना।

– वह हमें रुचता है। वह हमें स्वीकार है। हम उससे संतुष्ट हैं, प्रसन्न हैं।

और फिर कहा कि पहले हमारी ऐसी धारणा थी कि –

के च मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा, के च धम्मस्स अञ्ञातारोति।

(म० नि० २.४३५, चङ्कीसुत्त)

– कैसे ये नीच, काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न, मुण्डक श्रमण? और कैसा इनका धर्म-ज्ञान?

परंतु अब आपने हमारे मन में श्रमणों के प्रति प्रेम और आदर-भाव पैदा कर दिया। यों कह कर चंकी ब्राह्मण भगवान का शरणागत उपासक बना।

ब्राह्मण कूटदंत

ब्राह्मण कूटदंत मगधराज बिंबिसार से दान द्वारा प्राप्त, घनी आबादी वाले, उपजाऊ खाणुमत नामक ब्राह्मणग्राम का स्वामी था। वह धन, ऐश्वर्य से आकीर्ण होकर रहता था। एक बार भगवान चारिका करते हुए इस गांव में आ निकले और अंबलट्ठिका में ठहरे।

कूटदंत भगवान के दर्शनार्थ जाने लगा। उसके यहां उस समय एक महान यज्ञ का आयोजन था जिसमें भाग लेने के लिए कई सौ ब्राह्मण अतिथि आये हुए थे। उन ब्राह्मणों ने उन्हें भगवान के पास जाने से रोकना चाहा। उन्होंने भी लगभग वैसे ही तर्क उपस्थित किये जो कि चंकी के मित्र ब्राह्मणों ने किये थे। उन्होंने

अधिक यह कहा कि यदि आप श्रमण गोतम के पास जायेंगे तो आपकी प्रतिष्ठा को आंच आयेगी, आपका यश क्षीण होगा और श्रमण गोतम का यश बढ़ेगा।

बदले में कूटदंत ने भगवान की प्रशंसा में वे सारी बातें कहीं, जो चंकी ने कही थीं और उससे अधिक यह कहा –

१. श्रमण गोतम पास आने वालों को – "आओ, स्वागत" कहकर प्यार से बुलाते हैं।

२. श्रमण गोतम **सम्मोदक** हैं, मोद बढ़ाने वाले हैं।

३. श्रमण गोतम **अब्भाकुटिक** हैं, अकुटिल-भ्रू हैं। उनकी भौंहों में कभी बल नहीं पड़ता – न द्वेष और क्रोध का, न भय और चिंता का।

४. श्रमण गोतम **उत्तानमुख** हैं, याने मुख सीधा रखते हैं, लज्जा से या हीन-भाव से मुँह लटका नहीं देते।

५. श्रमण गोतम पूर्वभाषी हैं। स्वयं पहल करके आगंतुक से बात आरंभ कर देते हैं।

६. श्रमण गोतम चारों परिषदों में सत्कृत हैं।

७. श्रमण गोतम जिस गांव, नगर में विहार करते हैं, उसे अमनुष्य याने भूत, प्रेत आदि नहीं सताते।

८. श्रमण गोतम सभी गणाचार्यों में प्रधान कहे जाते हैं।

९. किसी-किसी श्रमण ब्राह्मण का यश जैसे-तैसे गलत तरीकों से फैल जाता है, श्रमण गोतम का यश वैसे नहीं फैला है।

१०. श्रमण गोतम का यश अनुपम विद्याचरणसंपन्नता के कारण फैला है।

११. राजा बिंबिसार और ब्राह्मण नेता पौष्करसाति ही नहीं, बल्कि कोशल-नरेश प्रसेनजित भी अपने पुत्र, भार्या और अमात्यों सहित श्रमण गोतम का शरणागत हुआ है (दी० नि० १.३३२, कूटदन्तसुत्त)।

भगवान की यह प्रशस्ति सुन कर विरोध करने वाले ब्राह्मणों ने कहा कि आप श्रमण गोतम के जैसे गुण बखान कर रहे हैं, ऐसे गुण वाला व्यक्ति यदि सौ योजन दूरी पर भी हो, तो रास्ते के लिए पाथेय बांध कर हम स्वयं भी उनके दर्शन के लिए जायेंगे। और कूटदंत के साथ-साथ भगवान के दर्शनार्थ वे भी गये। कूटदंत भगवान से मिल कर निहाल हुआ। वह हिंसक यज्ञ से विरत हुआ। उसने स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की। अन्य ब्राह्मणों का भी कल्याण हुआ।

हम देखते हैं, कई लोग ऐसे थे जो अन्य लोगों के द्वारा रोके जाने पर भी भगवान के दर्शनार्थ गये और लाभान्वित हुए, परंतु कुछ ऐसे भी थे जो ऐसी रुकावट के कारण लाभ से वंचित रह गये।

सकुलुदायी

भगवान से धर्म-चर्चा करते हुए सकुलुदायी के मन में बड़ा धर्म-संवेग जागा और उसने भगवान से प्रार्थना की कि वे उसे प्रव्रजित करें। इस पर उसके आश्रमवासी शिष्यों ने एक-जुट होकर विरोध किया और कहा – उदायि, आप श्रमण गोतम के पास प्रव्रजित न हों। आप स्वयं आचार्य होकर किसी के शिष्य न बनें। जैसे कोई बड़ा पात्र छोटा पात्र बन जाय, यही अवस्था आपकी होगी। आप श्रमण गोतम के शिष्य कदापि न बनें (म० नि० २.२६९, चूळसकुलुदायिसुत्त)।

बेचारा सकुलुदायी चाहते हुए भी भगवान के शासन से वंचित रह गया।

एक और उदाहरण सोणदंड का नीचे दिया जा रहा है।

सोणदंड

अपने शिष्यों और साथियों का विरोध सहना आसान नहीं होता। समाज में ऐसे बहुत से लोग थे जो भगवान द्वारा चलाये गये दोष-प्रक्षालन अभियान के विरोधी थे। समझदार लोग उनके शुभ आशय को खूब समझने लगे थे, परंतु इस विरोध के कारण प्रत्यक्षतः उनकी शरण ग्रहण कर सकना और उनका अनुयायी बन जाना साहस का काम था।

सोणदंड मगध-नरेश श्रेणिक बिंबिसार द्वारा प्राप्त चंपा जनपद का स्वामी था जो बहुत आबादी वाला और बहुत उपजाऊ होने के कारण प्रचुर धन-लाभ का स्रोत था। एक बार भगवान चारिका करते हुए चंपा पधारे और अपने संग आये हुए पांच सौ भिक्षुओं के साथ समीपवर्ती गर्गरा पुष्करिणी के तीर पर ठहरे।

तब तक उनकी जो प्रसिद्धि फैली थी, उसे सुन कर चंपा के अनेक गृहस्थ भगवान के दर्शन के लिए उनके पास जाने लगे। यह देख चंपा का राजभोजक सोणदंड भी भगवान के पास जाने के लिए उद्यत हुआ। उसके साथियों ने उसे रोकने की कोशिश की, पर फिर भी वह भगवान से मिलने गया। भगवान से जो धर्म-चर्चा हुई, उसमें भगवान की यह बात उसे पूर्णतया समझ में आ गयी कि सही ब्राह्मण बनने के लिए ब्राह्मण जाति में जन्म लेना और गौरवर्ण का होना तथा वेदपाठी होना अनिवार्य नहीं, किन्तु उसमें शील और प्रज्ञा का होना अनिवार्य है। सोणदंड की इस सहमति को देख कर उपस्थित ब्राह्मणों ने अपनी नाराजगी प्रकट की। परंतु सोणदंड अपनी बात पर दृढ़ रहा। भगवान ने सबको शील और प्रज्ञा की महत्ता पर महत्त्वपूर्ण धर्मोपदेश दिया। इसे सुन कर सोणदंड ने भाव-विभोर हो बुद्ध की शरण ग्रहण की और अगले दिन के भोजन के लिए उन्हें भिक्षु-संघ सहित आमंत्रित किया। सोणदंड ने सबके सामने भगवान का गृहस्थ शिष्य होना स्वीकार किया था। परंतु हो सकता है, इस पर उसने पुनः चिंतन किया हो। उसके मन में अपने समाज के लोगों के विरोध का भय जागा होगा। अतः भोजन-दान के पश्चात उसने भगवान से निवेदन किया –

हे गोतम, यदि परिषद में बैठे हुए आसन से उठ कर मैं आप गोतम का अभिवादन करूं, तो वह परिषद मुझे तिरस्कृत करेगी। यदि परिषद तिरस्कृत करेगी, तो मेरा यश क्षीण होगा। जिसका यश क्षीण हो जाता है, उसका भोग भी क्षीण हो जाता है। यश से ही हमें भोग मिले हैं। अतः परिषद में बैठा हुआ मैं केवल हाथ जोड़ूं, तो आप उसे मेरा खड़े होकर सम्मान करना मान लें। यदि मैं परिषद में बैठा हुआ सिर से अपनी पगड़ी हटाऊं, तो आप उसे मेरा सिर से नमन करना मान लें। इसी प्रकार यदि मैं यान में बैठा हुआ यान से उतर कर आपका अभिवादन करूं, तो यह देख कर परिषद मेरा तिरस्कार करेगी। इसलिए यान पर बैठा हुआ ही यदि मैं अपनी चाबुक का डंडा ऊपर उठाऊं, तो आप गोतम उसे मेरा यान से उतरना मान लें। और यदि यान पर बैठा ही अपना हाथ उठाऊं, तो उसे आप मेरा सिर से किया गया अभिवादन मान लें।

(दी० नि० १.३००, सोणदण्डसुत्त)

बेचारा सोणदंड! भगवान के प्रति पूर्ण श्रद्धा जागने पर भी, उनका गृहस्थ अनुयायी हो जाने पर भी अपने समाज द्वारा तिरस्कृत होने के भय से भयभीत था। परंतु सभी लोग ऐसे नहीं थे। अनेक ऐसे भी थे जो अपने समाज की परिषद के सामने भगवान का अभिवादन करने में गौरव अनुभव करते थे।

ब्राह्मण ब्रह्मायु

भगवान उन दिनों पांच सौ भिक्षुओं के महा भिक्षु-संघ के साथ विदेह प्रदेश में चारिका कर रहे थे। उन्हीं दिनों विदेह की राजधानी मिथिला नगरी में ब्राह्मणों का वरिष्ठ नेता एक सौ बीस वर्षीय ब्राह्मण ब्रह्मायु रहता था, जो ब्राह्मणिक वैदिक शास्त्र में पूर्ण निष्णात था और महापुरुष-लक्षण शास्त्र का यथेष्ट ज्ञाता था। जब उसने भगवान की मंगल यश-कीर्ति सुनी कि वे सम्यक संबुद्ध हैं और शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं, तब उसके मन में हुआ कि ऐसे अरहंतों का दर्शन शुभ है। परंतु ब्रह्मायु को लंबे जीवन का अनुभव था। वह जानता था कि बहुधा सांप्रदायिक आचार्य अपने शिष्यों तथा भक्तों द्वारा ऐसा-वैसा मिथ्या प्रचार करवा देते हैं, जिससे उनकी झूठी ख्याति फैल जाती है और वे इस प्रकार लोगों को ठगते हैं। अतः ब्रह्मायु ने सच्चाई की जांच करनी चाही। ठीक ही है –"पानी पीजै छान कर, गुरु कीजै जान कर"। परंतु अपनी बढ़ी हुई आयु के कारण जानने और परखने के लिए वह स्वयं भगवान के पास नहीं जा सकता था। अतः इस काम के लिए उसने अपने पट्टशिष्य उत्तर माणवक को तैयार किया, जो अपने गुरु के समान ही शास्त्रज्ञ था और बत्तीस महापुरुष लक्षणों का ज्ञाता था। ब्रह्मायु ने उससे कहा – तात उत्तर, तुम श्रमण गोतम के पास जाकर यह जांचो कि श्रमण गोतम के बारे में जो कीर्ति शब्द फैला है, वह यथार्थ है या अयथार्थ। क्या श्रमण गोतम सचमुच वैसे ही हैं या नहीं? मैं तुम्हारे माध्यम से उनके बारे में जान सकूंगा।

अपने गुरु के आदेश पर उत्तर माणवक जहां भगवान विहार कर रहे थे वहां गया। उनके शरीर पर बत्तीस महापुरुष-लक्षण देख कर संतुष्ट एवं प्रसन्न हुआ। उनके जीवन, व्यवहार को भली-भांति जांचने के लिए वह सात महीने उनके साथ रहा, जिनमें छः महीने तो पीछे लगी छाया की भांति साथ लगा रहा।

उसने लौट कर भगवान के बारे में पूरा विवरण अपने गुरु ब्रह्मायु को सुनाया, बत्तीस महापुरुष लक्षणों की सत्यता बतलायी और बहुत अच्छी प्रकार से निरीक्षण-परीक्षण की गयी भगवान की आदर्श दिनचर्या का अत्यंत उदार परंतु सच्चाईभरा ब्यौरा प्रस्तुत किया।

ब्रह्मायु ब्राह्मण बहुत समझदार था। तुरंत सारी वस्तु-स्थिति समझ गया और जिस दिशा में भगवान विहार कर रहे थे उस ओर अंजलि जोड़ कर, श्रद्धायुक्त हो, उसने तीन बार उदान के ये शब्द कहे – **नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स**।

तदनंतर उसे अपनी बढ़ी हुई आयु का ध्यान आया, अपने दुर्बल शरीर का ध्यान आया और अत्यंत भाव-विभोर होकर कह उठा –

अप्पेव नाम मयं कदाचि करहचि तेन भोता गोतमेन समागच्छेय्याम?

– उन आप गोतम के साथ क्या कभी हमारा समागम होगा, क्या उनसे हमारी भेंट होगी?

अप्पेव नाम सिया कोचिदेव कथासल्लापोति – उनके साथ कभी कथा-संलाप हो सकेगा।

(म० नि० २.३८८, ब्रह्मायुसुत्त)

यह तभी संभव था, जब भगवान उस भक्त तक आते, क्योंकि वह स्वयं यात्रा-योग्य नहीं था। और ऐसा सुयोग-संयोग हुआ कि भगवान विदेह देश की यात्रा करते हुए मिथिला नगरी आ पहुँचे। ब्रह्मायु की मनोकामना पूरी होने का सुअवसर आया। वह भगवान से मिलने स्वयं गया। उन्हें नमस्कार कर उनके सामने बैठ गया। समीप ही मिथिला के ब्राह्मण गृहस्थों की बड़ी मंडली बैठी थी। उसने पहले भगवान के बत्तीस महापुरुष लक्षण जांचे और उन्हें सही पाकर भगवान से धर्म-चर्चा शुरू की। उसने मुनि, केवली और बुद्ध जैसे बहुप्रचलित शब्दों का भगवान से सही अर्थ पूछा। भगवान ने उसे समझाया –

पुब्बेनिवासं यो वेदि, सग्गापायञ्च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो, अभिञ्ञा वोसितो मुनि॥

– जो अपने पूर्व जन्म को जानता है, जो स्वर्ग-नरक को स्वयं देख सकता है, जो जन्म-क्षय की अवस्था प्राप्त कर चुका है, वह अभिज्ञान का जीवन जीने वाला मुनि है।

चित्तं विसुद्धं जानाति, मुत्तं रागेहि सब्बसो।
पहीनजातिमरणो, ब्रह्मचरियस्स केवली॥

– जो अपने विशुद्ध हुए चित्त को जानता है, जो समस्त रागों से मुक्त हो चुका है, जिसका जीवन-मरण का चक्र टूट गया है, जिसने ब्रह्मचर्य का जीवन पूरा कर लिया है, वह केवली है।

पारगू सब्बधम्मानं, बुद्धो तादी पवुच्चति।

– जो सारे धर्मों के पारगू हैं, वे बुद्ध कहलाते हैं।

इन शब्दों की यह परम कल्याणी व्याख्या सुन कर ब्राह्मण ब्रह्मायु ने अपने उपरने (उत्तरीय) को एक कंधे पर रखा और भगवान के चरणों में सिर टेक दिया। वह भगवान के चरणों को मुख से चूमता हुआ, उन पर हाथ फेरता हुआ, अपना नाम सुनाने लगा –

भो गोतम, मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं; भो गोतम, मैं ब्रह्मायु ब्राह्मण हूं।

वह यह सब बिना किसी झिझक के उस बृहद ब्राह्मण-मंडली के सम्मुख ही कर रहा था, जिसका कि वह मान्य नेता था और जो बुद्ध के दर्शनार्थ वहां आयी थी। यह देख कर समस्त ब्राह्मण परिषद विस्मित हुई, चकित हुई और कह उठी –

अच्छरियं वत, भो, अब्भुतं वत, भो।

– आश्चर्य है भो! अद्भुत है भो! (इस श्रमण की महानता तो देखो –)

यत्र हि नामायं ब्रह्मायु ब्राह्मणो ञातो यसस्सी एवरूपं परमनिपच्चकारं करिस्सतीति।

(म० नि० २.३९५, ब्रह्मायुसुत्त)

– कि ब्रह्मायु जैसा प्रसिद्ध, यशस्वी ब्राह्मण (उनके प्रति) इस प्रकार की परम नम्रता प्रकट कर रहा है।

भगवान ने उसे पैरों पर से उठाया और सामने बैठा कर आनुपूर्वी यानी क्रमशः उत्तरोत्तर धर्म को समझाने वाला उपदेश दिया। ब्राह्मण ब्रह्मायु पूर्व संचित पारमिताओं का धनी था। भगवान की धर्म-वाणी सुनते-सुनते स्वतः उसके भीतर उदय-व्यय-बोधिनी विपश्यना जाग गयी और देखते-देखते निरोध-निर्वाण-अवस्था में उसकी डुबकी लग गयी। उसे विरज-विमल धर्म-चक्षु प्राप्त हुए और यह अनुभव हुआ कि –

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मन्ति। (म० नि० ..... ब्रह्मायुसुत्त)

– जो कुछ समुदय स्वभाव वाला है, वह निरोध स्वभाव वाला भी है।

भगवान के चले जाने के बाद ब्रह्मायु ब्राह्मण इसी विपश्यना विद्या का अभ्यास करते हुए स्रोतापन्न अवस्था से बढ़ते-बढ़ते अनागामी अवस्था तक पहुँचा और चंद दिनों के बाद उसका शरीर शांत हो गया। वह बुद्ध के समागम से और उनसे हुए वार्तालाप से सचमुच निहाल हो गया।

इस प्रकार एक नहीं, अनेक समझदार लोगों का भगवान से संपर्क हुआ और शुद्ध धर्म की कल्याणी शिक्षा पाकर उनका मानवी जीवन सफल हुआ। उनके जीवन का अंधकार दूर हुआ। उनमें प्रकाश समा गया और वह इसलिए हो सका कि भगवान विद्याचरणसंपन्न थे, प्रज्ञा और करुणा के क्षेत्र में सूर्य की भांति आभास्वर थे।

भगवान विद्या के आधार पर सर्वज्ञ हुए, चरण के आधार पर महाकारुणिक।

भगवान विद्या के आधार पर धर्मस्वामी हुए, चरण के आधार पर धर्मदाता हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं संबुद्ध हुए, चरण के आधार पर औरों को बोधि बांटने लगे।

भगवान ने विद्या के आधार पर संसार के दु:खों को जाना, चरण के आधार पर संसार के दुक्खविमोचन में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर आत्महित साधन में सफल हुए, चरण के आधार पर परहित साधन में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं भवसागर से तरे, चरण के आधार पर औरों के तरने में सहायक हुए।

भगवान विद्या के आधार पर स्वयं बंधनमुक्त हुए, चरण के आधार पर औरों की मुक्ति में सहायक हुए।

भगवान ने विद्या के आधार पर स्वयं निर्भयता प्राप्त की, चरण के आधार पर औरों को निर्भय बनाया।

भगवान ने विद्या के आधार पर स्वयं निर्वैरता प्राप्त की, चरण के आधार पर औरों को निर्वैर बनाया।

भगवान विद्या के आधार पर अहंकार ममंकार शून्य हुए, परंतु चरण के आधार पर वात्सल्यभाव से आप्लावित हो गए।

भगवान अनुपम विद्या-संपन्न थे।

भगवान अनुपम चरण-संपन्न थे।

भगवान विद्या-चरण-संपन्न थे।

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो।

इतिपि सो भगवा सुगतो

इतिपि सो भगवा सुगतो

वे भगवान सुगत भी हैं।

कौन होता है सुगत?

सोभना गति अस्साति सुगतो – जिसकी कायिक, वाचिक और मानसिक सभी कर्मगतियां सुष्ठु हों, शोभन हों, सुंदर हों, निर्दोष हों, निष्कलंक हों, दर्शनीय हों, श्रवणीय हों, ग्रहणीय हों वह सुगत होता है। भगवान की सारी गतियां ऐसी ही थीं, इस कारण वे सुगत कहलाते थे।

कायिक कर्म-गति

उनका प्रत्येक कायिक कर्म सर्वथा निर्दोष था, निष्कलंक था, आदर्श था। वे आरंभिक, माध्यमिक और महाशील का पूर्णतया पालन करते हुए कायिक कर्म करते थे। इसकी एक लंबी सूची हम ब्रह्मजालसुत्त में देखते हैं, जैसे कि –

१. वे जीव-हिंसा से सर्वथा विरत रहते थे। वे दंड और शस्त्र को त्याग कर, करुणा से परिपूर्ण हो, सब प्राणियों का हित चाहने वाले थे। भोजन के लिए सजीव बीजों तक का नाश नहीं करते थे, जैसे मूल-बीज, स्कंध-बीज, फल-बीज, अग्र-बीज और बीज-बीज।

२. मैथुन कर्म से विरत रहते हुए अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करते थे।

३. विकाल भोजन से विरत रहते थे।

४. ऊंची और विलासी शय्या से विरत रहते थे।

५. नशे-पते और जूए आदि से विरत रहते थे।

६. उन दिनों अनेक श्रमण, ब्राह्मण जोड़ने-बटोरने में लगे रहते थे। वे कच्चा अन्न, कच्चा मांस ग्रहण करते थे। स्त्री, कुमारी, दास-दासी, भेड़-बकरी, मुर्गे, सूअर, हाथी, गाय, घोड़ा, खच्चर, खेत और अन्य माल-असबाब ग्रहण करते रहते थे। वे अन्न, पान, वस्त्र, वाहन, शय्या, गंध और ऐसी ही अन्य वस्तुएं एकत्र करते रहते थे। भगवान इस प्रकार जोड़ने-बटोरने से विरत रहते थे।

७. उन दिनों अनेक श्रमण, ब्राह्मण नृत्य, गीत, वाद्य में तथा लीला, ताली, ताल देने, घड़े पर तबला बजाने में रुचि लेते थे। वे लोहे की गोली के खेल, बांस के खेल, हाथी, अश्व, महिष, वृषभ, बकरों, भेड़ों, मुर्गों, बतखों को लड़ाने के खेल तथा लाठी, मुष्टि, कुश्ती, मारपीट, सेना और लड़ाई की चालों के खेल देखने में निरत रहते थे। भगवान इन सबसे विरत रहते थे।

८. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण सजने-धजने में रत रहते थे, जैसे उबटन लगवाना, मालिश करवाना, औरों के द्वारा नहलाया जाना, शरीर दबवाना; दर्पण, अंजन, माला, लेप, मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन (क्रीम), आभूषण इत्यादि का प्रयोग करना, शिखा में सजावट के लिए कुछ बांधना; छड़ी,

तलवार, छाता, खूबसूरत जूता, टोपी, मणि, चँवर, लंबी झालर वाले सफेद उजले कपड़े पहनना आदि-आदि। भगवान ऐसे सजने-धजने से विरत रहते थे।

९. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण अपने यश-लाभ के लिए अनेक प्रकार की हीन आजीविकाएं अपनाते थे, जैसे अंग-विद्या, उत्पाद-विद्या, स्वप्न-विद्या, लक्षण-विद्या के प्रयोग अथवा अग्निहोम, दर्वीहोम, कणहोम, तण्डुलहोम, घृतहोम, तैलहोम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर होम करते-करवाते थे। वे वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, भूत-प्रेत विद्या, सर्प-बिच्छु विष विद्या, झाड़-फूंक विद्या, मूषिक-विद्या, पक्षी-विद्या या शर-परित्राण और मृगचक्र जैसी विद्या का प्रयोग कर आजीविका चलाते थे। भगवान इस प्रकार की हीन विद्याओं से विरत रहते थे।

१०. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण मणि के लक्षण और इसी प्रकार वस्त्र, दंड, तलवार, धनुष, बाण, हथियार, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, दास, दासी, हाथी, घोड़ा, भैंसा, बैल, गाय, बकरी, भैंस, भेड़, मुर्गा, बतख, गोह, कर्णिका, कछुआ तथा मृग आदि के लक्षण बताने की आजीविका पर जीते थे। भगवान ऐसी हीन आजीविका से विरत रहते थे।

११. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण धनियों और राजपुरुषों के लिए दूतों का काम करते थे। भगवान इस प्रकार की हीन आजीविका से विरत रहते थे।

१२. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण ज्योतिष तथा अन्य प्रकार से भविष्यवाणियां करके जीविका चलाते थे, जैसे युद्ध में हार या जीत की भविष्यवाणी करके, चन्द्र-ग्रहण, सूर्य-ग्रहण, नक्षत्र-ग्रहण, उल्का-पात, दिशा-दाह, भूकंप आदि का फल क्या होगा यह बता करके तथा अकाल, सुकाल, सस्ती, महँगी, कुशल, अकुशल, रोग, निरोग आदि की भविष्यवाणियां गणना द्वारा या हस्त-रेखा द्वारा करके जीविकोपार्जन करते थे। भगवान इस प्रकार की हीन विद्याओं से विरत रहते थे।

१३. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण गृहस्थों की अनेक प्रकार की सेवा करके आजीविका चलाते थे, जैसे सगाई-विवाह के लिए, तलाक देने के लिए, उधार लेने या ऋण देने के लिए उचित नक्षत्र बताना अथवा मंत्र-बल द्वारा किसी की गर्भ-पुष्टि करना, किसी का अनिष्ट कर देना, दर्पण पर देवता बुला कर प्रश्न पूछना, कुमारी के अथवा अन्य देव-वाहिनी के शरीर पर देवता बुला कर प्रश्न पूछना, किसी पुंसक को नपुंसक और नपुंसक को पुंसक बना देना, मनौती मनवाना आदि-आदि। भगवान ऐसी घृणित आजीविकाओं से विरत रहते थे।

१४. उन दिनों के अनेक श्रमण, ब्राह्मण दवा देकर वमन, विरेचन, ऊर्ध्व-विरेचन, शिरो-विरेचन करवाना अथवा कान में तेल डालना, नाक में तेल डालना, छिंकवाना, आंख के लिए अंजन तैयार करना, छुरी-कांटे से चीर-फाड़ की चिकित्सा करना तथा अन्य प्रकार के वैद्य-कर्मों द्वारा आजीविका चलाते थे। भगवान इन सब से विरत रहते थे।

वाचिक कर्म-गति

१. भगवान झूठ से विरत रह कर सदा सत्यवादी, सत्य से जुड़े, विश्वासभरी वाणी बोलते थे।

२. वे चुगली से विरत रह कर, फूट डालने के लिए न इधर की बात उधर और न उधर की बात इधर कहते थे। बल्कि फूट पड़े हुए लोगों को मिलाने के लिए, मिले हुए लोगों के मेल को और दृढ़ करने के लिए

उचित वाणी बोलते थे। वे सदा एकता-प्रिय, एकता-रत, एकता में प्रसन्न रहने वाले और एकता स्थापित करने वाले थे।

३. वे कटु, कठोर वाणी से विरत रह कर सदा निर्दोष, मधुर, प्रेमिल, मान्य, प्रिय और शिष्ट वाणी बोलते थे।

४. वे निरर्थक बातों से विरत रह कर सदा समयोचित, यथार्थ, आवश्यक, सारयुक्त, धर्म और विनय की वाणी बोलते थे।

५. वे राजा अथवा चोर, मंत्री, सेना, युद्ध, अन्न-पान, वस्त्र, शय्या, माला, गंध, जाति, रथ, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पुरुष, चौपाल, पनघट, भूत-प्रेत आदि की कथाओं और विविध प्रकार की घटनाओं और जनश्रुतियों की निकम्मी चर्चाओं से विरत रहते थे।

६. वे पारस्परिक वाद-विवाद और लड़ाई-झगड़ों की बातों से दूर रहते थे।

भगवान चार प्रकार की उत्तम वाणी को बोलने का उपदेश देते थे और जो उपदेश देते थे, उसे स्वयं भी पालते थे।

सुभासितं उत्तममाहु सन्तो, धम्मं भणे नाधम्मं तं दुतियं।
पियं भणे नाप्पियं तं ततियं, सच्चं भणे नालिकं तं चतुत्थं॥

(सु० नि० ४५२, सुभासितसुत्त)

– संतों ने सुभाषित वाणी को उत्तम बताया है। धार्मिक वचन बोले न कि अधार्मिक, यह दूसरी उत्तम वाणी है, प्रिय वचन बोले न कि अप्रिय, सत्य वचन बोले न कि असत्य, ये क्रमशः तीसरी और चौथी उत्तम वाणी हैं।

भगवान ने और समझाया –

सुभाषित वचन वही है जिससे न स्वयं संतापित हो और न दूसरे पीड़ित हों। आनंद-प्रदायक प्रिय वचन ही बोले। पाप की बातें छोड़ कर सदा ऐसा बोले जो दूसरों को प्रिय लगे। और फिर कहा –

सच्चं वे अमता वाचा, एस धम्मो सनन्तनो।

– सत्य ही अमृत वचन है, यह सनातन धर्म है।

सच्चे अत्थे च धम्मे च, आहु सन्तो पतिट्ठिता॥

– सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित संतों ने यही कहा है।

यं बुद्धो भासति वाचं, खेमं निब्बानपत्तिया।
दुक्खस्सन्तकिरियाय, सा वे वाचानमुत्तमाति॥ (सु० नि० ४५५-४५६, सुभासितसुत्त)

– योगक्षेम परिपूर्ण निर्वाण की प्राप्ति के लिए और दुःख का अंत करने के लिए बुद्ध जो कल्याणी वाणी बोलते हैं वही उत्तम वाणी है।

बुद्ध सदा कल्याणी वाणी ही बोलते थे और यही लोगों को सिखाते थे। वाणी सुष्ठु हो तो ही कल्याणी होती है, सुभाषित होती है।

पञ्चहि भिक्खवे, अङ्गेहि समन्नागता वाचा सुभासिता होति।

– इन पांच अंगों से परिपूर्ण हो, तो ही वाणी सुभाषित होती है।

कालेन च भासिता होति – समयानुकूल बोली गयी हो।

सच्चा च भासिता होति – सत्य बोली गयी हो।

सण्हा च भासिता होति – स्नेहपूर्वक बोली गयी हो।

अत्थसंहिता च भासिता होति – सार्थक, हितकर बोली गयी हो।

मेत्तचित्तेन च भासिता होति – मैत्री-चित्त से बोली गयी हो। (अ० नि० २.५.१९८, वाचासुत्त)

भगवान स्वयं ऐसी ही सुष्ठु वाणी बोलते थे, सुभाषित वाणी बोलते थे। इसलिए उनके बारे में ऐसा कहा जाता था –

समणो गोतमो कालवादी, भूतवादी, अत्थवादी, धम्मवादी, विनयवादी, निधानवतिं वाचं भासिता।

(दी० नि० १.९, ब्रह्मजालसुत्त)

– श्रमण गोतम समयानुसार बोलने वाले हैं; यथाभूत बोलने वाले हैं; सार्थक बोलने वाले हैं; धर्म की बात बोलने वाले हैं; विनय की बात बोलने वाले हैं; सार की बात बोलने वाले हैं।

भगवान धर्मवादी थे, अतः विवाद में नहीं पड़ना चाहते थे। उन्होंने कहा –

नाहं, भिक्खवे, लोकेन विवदामि – भिक्षुओ, मैं लोगों से विवाद नहीं करता।

लोकोव मया विवदति – लोग ही मुझसे विवाद करते हैं।

न, भिक्खवे, धम्मवादी केनचि लोकस्मिं विवदति। (सं० नि० २.३.९४, पुप्फसुत्त)

– भिक्षुओ, धर्मवादी व्यक्ति लोक में कोई विवाद नहीं करता।

जो आश्वलायन जैसे समझदार थे, वे भगवान से विवाद करने के लिए जाना ही नहीं चाहते थे, क्योंकि भगवान धर्मवादी थे और धर्म की ही बात बोलने वाले थे। धर्मवादी से कोई क्या विवाद करता भला?

भगवान स्वयं विवाद में नहीं उलझना चाहते थे। वप्प जैसे उलझे हुए व्यक्ति को धर्म समझाना होता तो कहते –

हे वप्प, जो बात तुम्हें मान्य हो, उसे मानना। जो स्वीकारने योग्य न लगे, उसे स्वीकार मत करना। यदि मेरी कोई बात समझ में न आये, तो उसका अर्थ मुझसे भले पूछ लेना।

ऐसी अवस्था में विवाद को स्थान कहां? बिना विवाद के वार्त्तालाप हो सके इस लायक वातावरण तैयार करके भगवान कहते थे –

सिया नो एत्थ कथासल्लापो। (अ० नि० १.४.१९५, वप्पसुत्त)

– अब हम दोनों का कथा-संलाप हो, हमारी बातचीत हो।

ऐसी बातचीत बिना विवाद ही होती थी।

पिंगलकोच्छ ब्राह्मण

जब कोई व्यक्ति उनके पास आकर विवाद की कोई बात उठाता, तो वे उसे टालकर धर्म की बात में लगा लेते थे।

एक बार भगवान श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे। पिंगलकोच्छ ब्राह्मण उनसे मिलने आया। उन दिनों के प्रसिद्ध छः अन्य आचार्यों के बारे में और उनकी योग्यता के बारे में उसने चर्चा शुरू की। भगवान ने इस निरर्थक विषय को टालते हुए कहा–

अलं, ब्राह्मण, तिट्ठतेतं – बस कर, ब्राह्मण, रहने दे इस बात को।

धम्मं ते, ब्राह्मण, देसेस्सामि, तं सुणाहि – ब्राह्मण, तुझे धर्म का उपदेश देता हूं, उसे सुन।

साधुकं मनसिकरोहि, भासिस्सामि – मैं कहता हूं, इसे अच्छी तरह मनन कर।

(म० नि० १.३१२, चूळसारोपमसुत्त)

सुभद्र

महापरिनिर्वाण के थोड़े समय पहले जब सुभद्र नामक परिव्राजक भगवान से मिला, तो उसने भी इसी प्रकार अन्य आचार्यों की बात उठायी। भगवान ने इस विषय को निरर्थक विवाद मान कर उसे भी इसी प्रकार टाला और यही कहा–

अलं, सुभद्द, तिट्ठतेतं – बस कर, सुभद्र, रहने दे इस बात को। (दी० नि० २.२१३, महापरिनिब्बानसुत्त)

और इस चर्चा को धर्म की ओर मोड़ दिया। उसे शुद्ध धर्म का उपदेश देकर उसका कल्याण किया।

अचेल काश्यप

ऐसे अनेक प्रसंग हमारे सामने आते हैं, जिनमें हम देखते हैं कि भगवान ने बड़ी समझदारी के साथ विवादास्पद प्रसंग टाल दिये और तार्किक व्यक्ति को धर्म की ओर मोड़ दिया। एक बार भगवान उजुञ्ञा के समीप कण्णकत्थल मृगदाय में विहार कर रहे थे। नग्न साधु अचेल काश्यप उनसे मिलने आया। उसने विवाद की बात छेड़ी। भगवान ने टालते हुए कहा–

येसु नो, आवुसो, ठानेसु न समेति, तिट्ठन्तु तानि ठानानि। (दी० नि० १.३८५, महासीहनादसुत्त)

– आवुसो, जिन बातों में हम असहमत हैं, उन्हें अभी जाने दें।

उन्हीं की बात करें, जिनमें हम सहमत हैं। शुद्ध धर्म की बात में सबकी सहमति होती है। ऐसी बात करते-करते विवाद का विषय स्वतः गौण हो जाता था और बातचीत का बहाव धर्म की ओर मुड़ जाता था। विवाद निरर्थक बातों में ही होता है। धर्म में क्या विवाद होता? सुगत सदा धर्म की ही बात करते थे। धर्म का ही पक्ष लेते थे। धर्म पर कथा-संलाप हो तो धर्म की ही जीत होती थी। धर्म विरोधी प्रतिपक्ष स्वतः पराजित हो जाता था। इसीलिए भगवान के बारे में प्रसिद्ध था–

अच्छरियं वत भो, अब्भुतं वत भो, समणस्स गोतमस्स महिद्धिकता महानुभावता।

– सचमुच बड़ा आश्चर्य है, बड़ी अद्भुत बात है। श्रमण गोतम की महाऋद्धि और महानुभावता तो देखो।

यत्र हि नाम सकवादं ठपेस्सति, परवादेन पवारेस्सति। (दी० नि० ३.५६, उदुम्बरिकसुत्त)

– जो अपने पक्ष की स्थापना करते हैं, परपक्ष का निराकरण।

भगवान का पक्ष सदा धर्म का पक्ष होता था, अतः उसकी स्थापना सहज ही हो जाती थी। धर्म की स्थापना होती तो धर्मविरोधी परपक्ष का सहज निराकरण हो जाता। वाद-विवाद करना भगवान के स्वभाव में नहीं था, परंतु जब कोई विवाद के लिए तुल ही जाता तो उसे नम्रतापूर्वक धर्मपक्षीय उत्तर देकर शांत कर देते थे।

यदि धर्म संबंधी कोई भी प्रश्न उनसे कभी भी किया जाता, वे तुरंत अनुकूल उत्तर देते थे। अभय राजकुमार को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उत्तर देने के लिए उन्हें कोई पूर्व चिंतन नहीं करना पड़ता था। क्या चिंतन करते? उत्तर बुद्धि के स्तर पर नहीं, अनुभूति के स्तर पर दिया जाता था। अतः तुरंत दिया जाता था और सही दिया जाता था। उन्होंने धर्म के स्वभाव को बींध-बींध कर, उसके तार-तार अलग करके, स्वानुभूति से जान लिया था। अतः उत्तर देने के लिए क्या चिंतन करते? उत्तर देने में उनसे क्या भूल होती? तभी कहा –

सा हि, राजकुमार, तथागतस्स धम्मधातु सुप्पटिविद्धा।

– राजकुमार, तथागत ने धर्म की धर्मता का स्वभाव भली प्रकार प्रतिवेधन करके यानी बींध-बींध कर देख लिया है।

यस्सा धम्मधातुया सुप्पटिविद्धत्ता ठानसोवेतं तथागतं पटिभाति। (म० नि० २.८७, अभयराजकुमारसुत्त)

– धर्म-स्वभाव का यह प्रतिवेधन तथागत को तत्काल प्रतिभान करा देता है।

इसी कारण उत्तर सही होता था, सटीक होता था और तत्क्षण होता था।

प्रतिपक्षी को नीचा दिखाना भगवान का लक्ष्य नहीं होता था। अतः अत्यंत करुण चित्त से, संयत होकर, धर्म का सार व्याकृत करते थे।

निग्गय्ह निग्गय्हाहं, आनन्द, वक्खामि; पवय्ह पवय्ह, आनन्द, वक्खामि।

– हे आनंद, मैं निग्रह कर कर के बोलता हूं, विषय को बार-बार स्पष्ट करने के लिए बोलता हूं।

यो सारो सो ठस्सति – जो सार है, वह ठहरेगा ही। (म० नि० ३.१९६, महासुञ्ञतसुत्त)

जो करुण, संयत चित्त से बार-बार धर्म के सार की व्याख्या करे, उसकी बात अंततः मान्य होती ही है और यही हुआ। वाणी की सुष्ठुता के कारण सुगत की शिक्षा लोगों के मानस पर छाती चली गयी। उनकी वाणी में शुद्ध धर्म ही धर्म समाया हुआ था।

तथागत धर्मसंपन्न थे। इसी कारण उनकी वाणी गरिमामयी थी। इसी कारण सुगत 'सुगत' थे।

प्रश्नोत्तर

भगवान चार प्रकार से प्रश्नों का उत्तर देते थे। किसी प्रश्न का एकांश उत्तर देते थे यानी एक ही बार में उत्तर दे देते थे। किसी का विभाजन कर-कर के उत्तर देते थे। किसी का प्रति-प्रश्न करके उत्तर देते थे और किसी का बिना उत्तर दिये रह जाते थे।

किसी-किसी प्रश्न का उत्तर न देने में ही समझदारी थी।

अथो अत्थे अनत्थे च, उभयस्स होति कोविदो।

अनत्थं परिवज्जेति, अत्थं गण्हाति पण्डितो॥ (अ० नि० १.४.४२, पञ्हब्याकरणसुत्त)

– वह अर्थ और अनर्थ दोनों विषयों का जानकार होता है। जो समझदार है, वह अनर्थ को छोड़ कर अर्थ को ग्रहण करता है।

जो प्रश्न सार्थक हों, यानी जिनके उत्तर देने में लोक कल्याण समाया हुआ हो, उनका उत्तर देना तो ठीक, परंतु जो निरर्थक हों, उन्हें त्यागना ही उचित था। उन दिनों कुछ ऐसे दार्शनिक प्रश्न बहुत चर्चित थे, जो निकम्मे थे, निरर्थक थे, अप्रासंगिक थे। केवल दार्शनिकों के बुद्धि-विलास के प्रिय विषय थे – जैसे कि जीवन्मुक्त व्यक्ति का मरने के बाद क्या होता है, अथवा यह संसार ससीम है या असीम? आदि-आदि। ऐसे प्रश्न और उनके उत्तर निरर्थक थूक-बिलोवन ही थे।

न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति।

– यह न निर्वेद के लिए है, न वीतरागता के लिए है, न निरोध, न उपशमन, न अभिज्ञान, न संबोधि और न निर्वाण के लिए है।

तस्मा तं मया अब्याकतं। (म० नि० २.१२८, चूळमालुक्यसुत्त)

– इसलिए मैंने इन्हें अव्याकृत यानी उत्तर देने योग्य नहीं माना।

जैसे कोई व्यक्ति विष-बुझे बाण से बिंधा हो और शल्य-चिकित्सक वैद्य उसका इलाज करने आये, परंतु वह व्यक्ति इस बात की जिद करे कि इलाज करने के पहले मुझे यह बताओ कि बाण-वेधक व्यक्ति क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है या शूद्र, वह लंबा है या नाटा, गोरा है या काला आदि-आदि। तो वह व्यक्ति इन प्रश्नों का उत्तर पाये बिना ही मर जाएगा। (म० नि० २.१२६, चूळमालुक्यसुत्त)

किसी भी समझदार वैद्य के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि रोगी को बताये कि उसका रोग क्या है? रोग का मूल कारण क्या है? उसके निवारण का उपाय क्या है? रोगी के लिए यही सार्थक बातें हैं, बाकी सब निरर्थक हैं। यही प्रासंगिक हैं, बाकी सब अप्रासंगिक।

सुगत सदा अपनी वाणी का सदुपयोग करते थे। वे अर्थ-वादी थे। उनकी वाणी सदा सार्थक होती थी। तभी उन्होंने कहा – कोई मुझसे दुःख आर्य-सत्य के बारे में पूछे, उसके कारण, उसके निवारण और उस निवारण के आर्य अष्टांगिक मार्ग के बारे में पूछे, तो मैं उसे व्याकृत करता हूं।

(म० नि० २.२४६, महासकुलुदायिसुत्त)

क्योंकि इसके व्याकृत करने में लोक मंगल समाया हुआ है।

यह निर्वेद के लिए है; निरोध, उपशमन, अभिज्ञान, संबोधि और निर्वाण के लिए है।

(म० नि० २.१२८, चूळमालुक्यसुत्त)

सुगत जो बोलते थे, सार्थक बोलते थे, लोकहितकारी वचन बोलते थे, निरर्थक नहीं।

सहस्समपि चे गाथा, अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो, यं सुत्वा उपसम्मति॥ (ध० प० १०१, सहस्सवग्ग)

– हजार निरर्थक पदों की तुलना में केवल एक सुभाषित गाथापद श्रेष्ठ है, जिसे सुन कर सुनने वाला उपशांत हो जाता है।

यही धर्म है। सुगत धर्मवादी थे, सदा धर्मवाणी ही बोलते थे। धर्मवाणी वह जो अनुभूत सत्य है, जो कल्पना-प्रसूत सांप्रदायिक मान्यता पर आधारित नहीं है। सुगत सदा सत्यवादी थे, यथाभूतवादी थे।

सत्यवाणी, यथाभूत वाणी ही बोलते थे। इसीलिए राज-कथा, चोर-कथा, आदि निरर्थक बातों में न पड़ कर अर्थ-कथा, सत्य-कथा और धर्म-कथा ही कहते थे, जैसे कि – अल्पेच्छ-कथा, संतुष्टि-कथा, प्रविवेक-कथा, असंसर्ग-कथा, पुरुषार्थ-पराक्रम-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा, विमुक्ति-कथा, विमुक्ति-ज्ञानदर्शन-कथा। (म० नि० ३.१८९, महासुञ्ञतसुत्त)

सुगत सदा सार्थक, सत्य, धर्म-कथा ही कहते थे, अन्यथा मौन रह जाते थे। सुगत अपने शिष्यों से भी यही करवाते थे, स्वयं भी यही करते थे। जो कहते थे, वही करते थे। जो करते थे, वही कहते थे। तभी सुगत की वाणी सुभाषित होती थी, सफल होती थी।

यथापि रुचिरं पुप्फं, वण्णवन्तं सुगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा, सफला होति कुब्बतो॥ (ध० प० ५२, पुप्फवग्ग)

– जैसे सुंदर पुष्प सुगंधित भी हो, उसी प्रकार जो कहे उसके अनुसार स्वयं आचरण भी करे तो वाणी सुभाषित होती है, सफल होती है।

सुगत की केवल वाणी ही नहीं उनकी हर क्रिया सार्थक होती थी। बिना अर्थ के मुस्कराते तक नहीं थे। जब कभी मुस्कराते तो आनंद के मन में कौतूहल जागता और उसके पूछने पर सुगत किसी पुरातन घटना का उल्लेख कर धर्म ही प्रकाशित करते। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है, एक क्षण भी नष्ट क्यों हो? जो जीवन्मुक्त होंगे वे जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग करेंगे। दुरुपयोग कैसे करेंगे?

सुगत जीवन्मुक्त थे।

पहीनजातिमरणं असेसं – जन्म मरण से छूट गये थे।

अतः शरीर या वाणी से ऐसी कोई भी क्रिया नहीं कर सकते थे, जो निरर्थक हो, जो अन्य किसी को भी पीड़ा पहुँचाये और उसकी हानि करे। वे शरीर और वाणी का कोई भी कर्म करते हुए सजग, सतर्क रहते थे। परिपूर्ण जानकारी के साथ ही कर्म करते थे।

सङ्खेय्यकारो च तथागतानं। (सु० नि० ३५३, निग्रोधकप्पसुत्त)

– तथागत जानकारी के साथ काम करते हैं।

जानकारी के साथ काया का काम करते थे, जानकारी के साथ वाणी का काम करते थे, तो भूल कैसे हो सकती थी? वे सदा सजग रहते थे कि उनके द्वारा किसी को पीड़ा न पहुँचे। तभी उनकी वाणी में बड़ा मिठास होता था। कोई उनसे मिलने आये, तो स्वागत-भरी वाणी में कहते थे –

अगमा खो त्वं, महाराज, यथापेमं – आइये, महाराज, प्रेमपूर्वक आइये।
(दी० नि० १.१६१, सामञ्ञफलसुत्त)

जिसका इन शब्दों में स्वागत किया वह महाराज अजातशत्रु था जिसके सहयोग से देवदत्त ने भगवान की हत्या करने के असफल प्रयत्न किये थे, परंतु भगवान का प्यार सब पर एक जैसा उमड़ता था। उनके लिए कोई बैरी नहीं था।

उनकी किसी भी क्रिया से किसी को जरा सी भी हानि न हो, यह ध्यान सदा बना रहता था। तभी वाणी में इतना स्नेह, इतनी मृदुता, इतनी नम्रता भरी रहती थी।

राजगृह में कुम्हार भार्गव की धर्मशाला में एक रात बिताने के लिए उसकी स्वीकृति चाहते हुए उन्होंने कहा –

"भार्गव, यदि तुम्हें भार न हो, याने तुम्हें कष्ट न हो तो मैं एक रात यहां विहार करूं?"

और जब पता चला कि वहां कोई संन्यासी पहले से टिका हुआ है, तो यह जानते हुए भी कि धर्मशाला का कक्ष बहुत बड़ा है और इसमें एक से अधिक लोग आसानी से ठहर सकते हैं, फिर भी उन्होंने नम्रतापूर्वक उस संन्यासी से पूछा –

"हे संन्यासी, तुम्हें भार याने कष्ट न हो, तो मैं यहां एक रात रुकूं" (म० नि० ३.३४२, धातुविभङ्गसुत्त)।

यदि कभी वार्त्तालाप के दौरान प्रश्नकर्ता से कोई प्रति-प्रश्न करना होता, तो भी कहते –

"तुम्हें भारी न लगे याने कष्ट न हो तो बताओ...?"

जिस सौम्यता से प्रश्न करते उसी सौम्यता से उत्तर भी मिलता – "भंते, मुझे कष्ट नहीं है, जब आप या आप जैसा कोई व्यक्ति सामने हो (दी० नि० १.१६४, सामञ्ञफलसुत्त)।"

जब कोई अन्य व्यक्ति भी धर्म संबंधी अच्छी कल्याणी बात बोलता, तो बड़े प्यार से उसका अभिनंदन करते और कहते –

कल्याणं वुच्चति ब्राह्मणा – हे ब्राह्मण, तू बहुत अच्छी कल्याणी बात बोलता है।

(दी० नि० १.२९९, अम्बट्ठसुत्त)

वार्त्तालाप के समय वाणी में ऐसा मधुर रस भर कर बोलने वाले सुगत कभी आवश्यक होता तो कठोर वाणी का भी उपयोग करते थे, बशर्ते कि वह कल्याणकारी हो, जैसे कि देवदत्त के लिए उन्होंने कठोर शब्दों का प्रयोग किया। इस घटना ने विरोधियों के शिविर में बड़ी हलचल पैदा कर दी थी।

उन दिनों भगवान की ख्याति देश-प्रदेश में बहुत फैल चुकी थी। अनेक मत-मतांतरों के लोग उनके बताये हुए चित्त-विशुद्धि के मार्ग पर चलने लगे थे। संप्रदायवादियों के लिए यह स्थिति असह्य थी। भगवान की प्रसिद्धि-प्रतिष्ठा को नीचे गिराना उन्हें बहुत आवश्यक लगा। देवदत्त के प्रति प्रयोग में लाये गये कठोर शब्दों में उन्हें भगवान बुद्ध की प्रतिष्ठा के हनन होने का एक उपाय सूझ पड़ा। अभय राजकुमार के पूर्वाचार्य ने इसका लाभ उठाना चाहा।

उसने अभय राजकुमार को समझाया कि यह बहुत अच्छा अवसर है। इससे तुम्हारी प्रसिद्धि बहुत फैलेगी। श्रमण गोतम जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति से विवाद कर तुम उसको सरलता से परास्त कर सकते हो। तुम उसके पास जाओ और यह प्रश्न पूछो – "क्या आप कभी किसी के प्रति ऐसे कठोर शब्द प्रयोग में लाते हैं, जिससे उसका मन पीड़ित हो?" अगर वह उत्तर देगा – "हां, कभी-कभी मैं ऐसे शब्दों का प्रयोग करता हूं।" तो तुम यह कह कर उसे आसानी से नीचा दिखा सकते हो कि अज्ञानी व्यक्तियों में और आपमें क्या भेद हुआ? अज्ञानी व्यक्ति भी ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग करते रहता है और लोगों को दुःखी करते रहता है। इस उत्तर से उसकी प्रतिष्ठा स्वतः धूल में मिल जायेगी। परंतु यदि श्रमण गोतम बड़ी चालाकी के साथ तुम्हारे प्रश्न का ऐसा उत्तर दे कि – "मैं कभी ऐसी कठोर वाणी नहीं बोलता, जिससे किसी के मन को चोट पहुँचे।" तो तुम कह सकते हो कि – "आपने देवदत्त के प्रति ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो उसके मन को दुःखी करने का कारण बना है।" इस प्रकार श्रमण गोतम झूठा साबित हो जायेगा, उसका मान-मर्दन होगा और तुम्हारी जीत हो जाएगी।

वह पहला उत्तर दे अथवा दूसरा, उसकी हार और तुम्हारी जीत निश्चित है। यह प्रश्न ही ऐसा है, जिसका उत्तर हां या ना को छोड़ कर और किसी प्रकार नहीं दिया जा सकता। इस प्रश्न से उसका हाल बेहाल हो जायेगा, जैसे किसी के कंठ में कोई लोहे का कांटा फँस जाय, जिसे कि न निगलते बने, न उगलते। 'हां' कहे तो मरे, 'ना' कहे तो मरे।

अपने गुरु के दबाव से अभय राजकुमार भगवान के पास गया। दूसरे दिन उन्हें अपने घर आमंत्रित कर गुरु ने जैसे समझाया था वैसे प्रश्न प्रस्तुत किया –

"भंते भगवान, क्या आप कभी ऐसे कठोर वचन बोलते हैं जिनसे कि सुनने वाले को पीड़ा पहुँचे?"

भगवान ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया – "इस प्रश्न का 'हां' या 'ना' में एकांशिक यानी एकाकी उत्तर नहीं, बल्कि अनेकांशिक उत्तर होगा।"

बेचारा अभय राजकुमार हतप्रभ हो गया। उसके गुरु ने तो बलपूर्वक कहा था कि 'हां' या 'ना', इन दो को छोड़ कर तीसरा उत्तर हो ही नहीं सकता और इन दोनों में से कोई भी उत्तर देने पर श्रमण गोतम मात खा जायेगा। पर अब तीसरा उत्तर सामने आने वाला है। भगवान द्वारा उस प्रश्न का अनेकांशिक उत्तर दिये जाने के पूर्व ही अभय ने अपनी तार्किक हार स्वीकार कर ली और अपने गुरु के द्वारा फेंके गये पासे का उद्घाटन कर दिया। तदुपरांत वह बहुत अधीर होकर भगवान के अनेकांशिक उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

भगवान ने उत्तर देने के पहले अभय से ही एक प्रति-प्रश्न पूछ लिया।

संयोग से उस समय उसकी गोद में उसका दुधमुँहा बच्चा चित यानी पीठ के बल पर लेटा हुआ था। उसकी ओर संकेत करते हुए भगवान ने पूछा –

"राजकुमार, यदि तुम्हारी या धाय की असावधानी से इस नन्हे बच्चे के कंठ में कोई कंकड़ या काठ का टुकड़ा चला जाय, तो उसे बाहर निकालने के लिए तुम क्या करोगे?"

"भंते भगवान, ऐसा टुकड़ा बच्चे के गले में फँस कर उसके प्राण तक हरण कर सकता है। इसलिए मैं उसे उसके मुँह से निकालने का हर संभव प्रयत्न करूंगा। आवश्यकता हुई तो बायें हाथ से उसका सिर पकड़ कर दायें हाथ की अँगुली को टेढ़ी करके वह पत्थर या काठ का टुकड़ा उसके कंठ से निकाल दूंगा। भले ही ऐसा करने से बच्चे के मुँह में कहीं खून भी क्यों न आ जाय, भले उसे पीड़ा भी क्यों न हो।"

"तुम ऐसा क्यों करोगे?"

"क्योंकि मुझे बच्चे से बेहद प्यार है। उस पर असीम अनुकंपा है, दया है।"

"राजकुमार! ऐसे ही तथागत की प्राणियों पर असीम अनुकंपा होती है, इसलिए कभी-कभी वे ऐसी वाणी भी बोलते हैं, जो कठोर होते हुए भी उनके लिए हितकारी होती है।

"जो असत्य है, अहितकारी है तथा सुनने वालों के लिए अप्रिय, अनचाही भी है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, परंतु अहितकर है तथा सुनने वाले के लिए अप्रिय, अनचाही है, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो असत्य है और अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, परंतु अहितकर है, फिर भले ही सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही हो, ऐसी वाणी तथागत नहीं बोलते।

"जो सत्य है, पर हितकर है और सुनने वाले के लिए प्रिय और मनचाही है, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।

"जो सत्य है और हितकर है, फिर सुनने वाले के लिए चाहे अप्रिय और अनचाही ही क्यों न हो, ऐसी वाणी तथागत समयानुसार अवश्य बोलते हैं।"

सम्यक वाणी का ऐसा कल्याणकारी विश्लेषण सुन कर अभय राजकुमार अवाक रह गया।

सुगत की वाणी ऐसी ही कल्याणी हुआ करती थी। सुगत के सारे वाचिक कर्म ऐसे ही सुष्ठु और शोभन हुआ करते थे।

मानसिक कर्म-गति

सम्यक संबुद्ध बनने के पूर्व बोधिसत्त्व ने असंख्य जन्मों में पारमिताएं परिपूर्ण करने का व्रत पूरा किया। पारमिताएं शरीर, वाणी और चित्त के कर्मों को निर्मल करने का काम करती हैं। भगवान दीपंकर के पादमूल में बैठ कर सम्यक संबुद्ध बनने का संकल्प इस करुण चित्त से ही लिया था कि केवल मेरी मुक्ति ही मेरे लिए श्रेय नहीं है, मैं बहुतों की मुक्ति में सहायक बन सकूं, तभी मेरी मुक्ति श्रेयस्कर है। अतः बोधिसत्त्व का हर जीवन मैत्री और करुणा से ओत-प्रोत रहता था। अपने अंतिम जीवन में बोधि-वृक्ष के पादमूल में बैठ कर सम्यक संबोधि प्राप्त की, तो नितांत विकार-विमुक्त हुए और परिणामतः महाकारुणिक हो गये, सुगत हो गये। शरीर और वाणी से तो कोई दुष्कर्म करने का सवाल ही नहीं, मन से भी कोई दुष्कर्म करना उनके लिए अशक्य और असंभव हो गया।

जानने वालों ने भगवान के बारे में जान लिया था कि –

सो नेव अत्तब्याबाधाय चेतेति, न परब्याबाधाय चेतेति।

– न वे आत्म-पीड़न के लिए चिंतन करते हैं, न पर-पीड़न के लिए चिंतन करते हैं।

न उभयब्याबाधाय चेतेति।

– न आत्म और पर दोनों के पीड़न के लिए चिंतन करते हैं।

अत्तहितपरहितउभयहितसब्बलोकहितमेव सो भवं गोतमो चिन्तेन्तो निसिन्नो होति।

(म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त)

– आप गोतम आत्महित, परहित, उभयहित और सर्वलोकहित का ही चिंतन करते हुए आसीन होते हैं।

नितांत विमुक्त अवस्था तक पहुँचे हुए सुगत लोक-मंगल का ही चिंतन करेंगे, क्योंकि उनके मन से राग, द्वेष और मोह की जड़ें निकल चुकी हैं। तभी कहा –

येसं, भन्ते, रागो... दोसो... मोहो पहीनो उच्छिन्नमूलो तालावत्थुकतो अनभावङ्कतो आयतिं अनुप्पादधम्मो, ते लोके सुकता।

(अ० नि० १.३.७३, आजीवकसुत्त)

– जिनका राग..., द्वेष..., मोह प्रहीण हो गया, जड़ से उखड़ गया, सिर कटे ताड़ जैसा हो गया, अभाव को प्राप्त हो गया, भविष्य में जिनकी पुनरुत्पत्ति की कोई आशंका नहीं रही, वे ही संसार में सुगत हैं।

भगवान ऐसे ही सुगत थे।

क्योंकि सुगत का व्यापाद दूर हो गया, द्वेष-द्रोह दूर हो गया, अतः वे अव्यापाद का जीवन जीते थे, याने मैत्री का जीवन जीते थे।

अब्यापज्झारामो, भिक्खवे, तथागतो अब्यापज्झरतो।

– तथागत अव्यापाद यानी मैत्री-भाव में ही निमग्न रहते हैं, मैत्री-भाव में ही रत रहते हैं।

तमेनं, भिक्खवे, तथागतं... एसेव वितक्को बहुलं समुदाचरति।

– ऐसे मैत्री-चित्त वाले तथागत... के मन में प्रायः यही वितर्क उत्पन्न होता है।

इमायाहं इरियाय न किञ्चि ब्याबाधेमि, तसं वा थावरं वा। (इतिवु० ३८, वितक्कसुत्त)

– मैं अपनी शारीरिक हरकतों से किसी भी स्थिर या जंगम प्राणी को पीड़ा तो नहीं पहुँचा रहा हूं?

सुगत की चाल-ढाल, उनका रहन-सहन स्वभावतः संयत हो जाता है। वे शरीर, वाणी या चित्त से ऐसा कोई काम नहीं करते, जो अकुशल हो, जो अन्य प्राणियों के लिए हानिकारक हो। जिनका चित्त नितांत निर्मल हो जाता है, उनके कर्म स्वतः निर्मल हो जाते हैं, स्वतः निर्दोष हो जाते हैं। जिसके कर्म सदोष हों, वह अपने दुष्कर्म छिपाने का प्रयत्न करता है। एतदर्थ झूठ बोलता है, अन्य अकुशल कर्म करता है।

तथागत का कोई शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुष्कर्म नहीं होता, कोई ऐसी मिथ्या आजीविका नहीं होती, जिनके विषय में तथागत को यह सावधानी बरतनी पड़े कि मेरे इस दोष को दूसरे न जान लें। (अ० नि० २.७.५८, अरक्खेय्यसुत्त)

मन स्वच्छ हो, तो मन के सारे कर्म स्वच्छ हो ही जाते हैं। मन के कर्म स्वच्छ हो जाते हैं, तो शरीर और वाणी के कर्म स्वतः स्वच्छ हो जाते हैं। बाहर-भीतर स्वच्छ ही स्वच्छ, निर्मल ही निर्मल। तब सारा जीवन एक खुली पुस्तक जैसा हो जाता है। क्या छिपाये? क्यों छिपाये?

जब किसी के मन में यश की आकांक्षा होती है या निंदा से दुराव होता है, तब उसका मन अकुशल कर्म करने लगता है। वह वास्तविकता छिपा कर मिथ्यात्व का ढोंग करता है। पर सुगत निंदा-प्रशंसा से ऊपर उठ गये थे, दोनों के प्रति निस्संग हो गये थे। वे ऐसा ढोंग क्यों करते भला?

जब तथागत पर कोई आक्रोश करता है, उनकी निंदा करता है, उन पर क्रोध करता है, उन्हें कष्ट पहुँचाता है, तब तथागत आघातित नहीं होते, विचलित नहीं होते, चित्त में विकार नहीं जगाते।

और जब कोई तथागत का सत्कार करता है, आदर करता है, सम्मान करता है, पूजन करता है तब तथागत का चित्त सौमनस्यपूर्ण हो कर हर्षातिरेक में डूब नहीं जाता। (म० नि० १.२४६, अलगद्दूपमसुत्त)

जिन सुगत का चित्त इस प्रकार समता में स्थापित हो गया, वे किसी भी प्रिय-अप्रिय अवस्था में मन को मैला कैसे करेंगे? किसी भी प्रकार का अकुशल वितर्क कैसे करेंगे?

अकुशल वितर्क तीन प्रकार के होते हैं–

१. **अनवज्जत्तिपटिसंयुत्तो** – निंदित न होने की कामना से संयुक्त,

२. **लाभसक्कारसिलोकपटिसंयुत्तो** – लाभ-सत्कार और प्रशंसा की कामना से संयुक्त,

३. **परानुद्दयतापयपटिसंयुत्तो** – दूसरों की दया, अनुकंपा प्राप्त करने की कामना से संयुक्त।

सुगत इन सभी कामनाओं से मुक्त थे, इसलिए ऐसे अकुशल वितर्कों से मुक्त रहते थे।

भय के कारण भी कोई व्यक्ति अपना मन मैला कर लेता है और अपनी कमियों को छिपाने के लिए वाणी और शरीर से दुष्कर्म कर लेता है। परंतु सुगत को चार वैशारद्य प्राप्त थे यानी मानस के स्तर पर नितांत निर्भयता प्राप्त थी। अतः वे भयजन्य विकार पैदा नहीं करते थे। भय उसी को उत्पन्न होता है जो –

१. सम्यक संबोधि प्राप्त किये बिना ही अपने आपको सम्यक संबुद्ध घोषित कर देता है।

२. क्षीणास्रव अरहंत की अवस्था प्राप्त किये बिना ही ऐसी घोषणा कर देता है।

३. अंतराय उत्पन्न करने वाले धर्मों का सेवन करते हुए भी अपने आपको अंतराय से मुक्त घोषित कर देता है।

४. मुक्ति की ओर न ले जाने वाले मिथ्या धर्म का उपदेश करता है।

ऐसे व्यक्ति को सदा भय बना रहता है, आशंका बनी रहती है कि इस विषय में कोई जानकार व्यक्ति मुझसे प्रश्न पूछ लेगा, तो मैं क्या उत्तर दूंगा?

सुगत इन चारों विषयों में विशारद हो गये थे। वे इस प्रकार की कोई भूल नहीं करते थे, अतः निर्भय थे।

निर्भय थे तो अपना मन क्यों मैला करते?

सुगत ने अपना मनोबल इस कदर बढ़ा लिया था कि इसी कारण वे दसबलधारी कहलाते थे। सुगत के दस मनोबल ये थे –

१. वे स्थान को स्थान के तौर पर, अस्थान को अस्थान के तौर पर यथाभूत जानते थे।

२. वे अतीत, वर्तमान और भविष्य के कर्म-फलों को स्थान और हेतुसहित यथाभूत जानते थे।

३. वे सर्वत्रगामिनी प्रतिपदा को यथाभूत जानते थे।

४. वे अनेक धातु, नाना धातु वाले लोकों को यथाभूत जानते थे।

५. वे नाना संकल्प वाले प्राणियों को यथाभूत जानते थे।

६. वे अन्य प्राणियों की इंद्रियों की सबलता, दुर्बलता यथाभूत जानते थे।

७. वे ध्यान, विमोक्ष, समाधि समापत्ति की उपलब्धियों में बाधक दोषों को, बाधाविहीन निर्दोषता को और उनके उत्थान को यथाभूत जानते थे।

८. वे अनेक पूर्वजन्मों को याद कर सकते थे।

९. वे विशुद्ध दिव्यचक्षु से प्राणियों की जन्म-मृत्यु और सद्गति-दुर्गति को स्पष्टतया देख सकते थे।

१०. वे आस्रव-रहित चित्त की चेतो-विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में साक्षात्कार कर विहार करते थे।

इस प्रकार चार वैशारद्य और दसबलधारी सुगत के मन में मैल की एक धूमिल-सी रेखा भी नहीं खिंच पाती थी। उनका मन सतत नितांत निर्मल और निष्कपट रहता था। जब मन ही दुष्कर्म नहीं करता, तो वाणी या शरीर से दुष्कर्म कैसे होता?

ब्राह्मण पिंगिय के उद्गार

जब दसबलधारी सुगत की प्रशंसा-प्रशस्ति देश-प्रदेश में, नगर-नगर, गांव-गांव और घर-घर में फैलने लगी, तो अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ ब्राह्मण आचार्य इस कीर्ति-कथा की सच्चाई को जांचने के लिए भगवान तक स्वयं गये अथवा अपने-अपने प्रमुख शिष्यों को भेजा।

जैसा ऊपर देख चुके हैं, दक्षिण के शतायु ब्राह्मण बावरी ने अपने सोलह प्रौढ़, अनुभवी शिष्यों को इसी निमित्त भगवान के पास भेजा था। उनमें से एक था ब्राह्मण आचार्य पिंगिय। भगवान से मिल कर, उनकी भली-भांति जांच-पड़ताल करके, वह अपने साथियों सहित पूर्ण आश्वस्त हुआ कि भगवान की जैसी कीर्त्ति फैली है, वे ठीक वैसे ही हैं। भगवान की एक विशेषता ने उसे सर्वाधिक प्रभावित किया। भगवान किसी से सुनी हुई या कहीं पढ़ी हुई बात का उपदेश नहीं देते थे। जिसका अनुभव वे स्वयं कर चुके हैं, वही लोगों को सिखाते हैं। उनकी शिक्षा यथाभूत यानी यथार्थ की शिक्षा है, काल्पनिक मान्यताओं की नहीं। वे निर्मल-चित्त हैं, भूरि-प्रज्ञ हैं, जीवन्मुक्त हैं। यही देख कर उसके मुँह से अनायास प्रशंसा के ये उद्गार प्रकट हुए थे –

यथाद्दक्खि तथाक्खासि, विमलो भूरिमेधसो।

– उन निर्मल-चित्त, भूरि-प्रज्ञ सुगत ने जैसा स्वयं देखा, वैसा ही आख्यात किया।

निक्कामो निब्बनो नागो, किस्स हेतु मुसा भणे?

(सु० नि० ११३७, पिङ्गियमाणवपुच्छा, पारायनानुगीतिगाथा)

– नाग(बुद्ध) निष्काम हैं, निर्वाण-प्राप्त हैं, वे किसलिए झूठ बोलेंगे?

जिसके मन में कामनाएं शेष हों, जो 'अहं', 'मम' के बंधनों से बँधा हो, वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों को झूठ बोल कर उन्हें ठगेगा। जो निष्काम है, निवृत्त है, विमुक्त है, वह किसे ठगेगा, क्यों ठगेगा?

सुगत की जीवनचर्या

ब्राह्मण नेताओं द्वारा भगवान की जांच करनी-करवानी वाजिब थी। ऐसे-वैसे बनावटी कारणों से भी किसी की प्रसिद्धि हो सकती है। अतः सच्चाई की खोजबीन की जानी स्वाभाविक ही थी।

भगवान ने भी एक प्रसंग में स्वयं कहा था कि कोई व्यक्ति देखने में सुंदर हो, प्रभावी हो, बोलने में चतुर हो, तो ऐसा व्यक्ति केवल इन्हीं कारणों से सज्जन-साधु नहीं हो जाता है। हो सकता है, वह ईर्ष्यालु हो, मत्सरी हो, धोखेबाज हो। (ध० प० २६२-२६३, धम्मट्ठवग्ग)

अतः समझदार ब्राह्मणों द्वारा उनकी पूरी-पूरी जांच की जानी उचित ही थी। ब्राह्मण नेता ब्रह्मायु ने अपने मेधावी पट्ट-शिष्य उत्तर माणवक को भगवान के बारे में सच्चाई जांचने-परखने के लिए ही भगवान के पास भेजा था। लंबे समय तक साथ रह कर उसने भगवान की जीवन-चर्या का बहुत बारीकी से अध्ययन किया। उसने अपने गुरु के समक्ष जो आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया, वह सुगत के महान व्यक्तित्व का सजीव वर्णन है।

आंखों देखा विवरण

उसने भगवान की अत्यंत अनुशासित चाल-ढाल का वर्णन करते हुए बताया कि जब वे चलते हैं, तो सदा दाहिना पांव पहले उठाते हैं। न बहुत लंबा डग रखते हैं और न बहुत छोटा। न बहुत तेज चलते हैं, न बहुत धीमे। न घुटने से घुटना रगड़ कर चलते हैं, न टखने से टखना। जांघ को न ऊंचा उठाते हैं, न हिलाते हैं, न डुलाते हैं, न घुमाते हैं। चलते समय शरीर के नीचे के भाग के बल पर ही आगे बढ़ते हैं। ऊपर के भाग का कोई बल प्रयोग नहीं होता, अतः उसमें कोई हलन-चलन या गति नहीं होती। चीवर उनके शरीर से न बहुत ऊपर रहता है, न बहुत नीचे; न बहुत सटा रहता है, न बहुत ढीला और न ही हवा में फड़फड़ा कर उड़ता है। उनके शरीर में धूल-कीचड़ नहीं लग पाते, क्योंकि वे शरीर को अच्छी तरह ढक कर चलते हैं।

चलते समय नजर न ऊपर उठाते हैं, न नीचे गिराते हैं और न ही इधर-उधर घुमाते हैं। सामने की भूमि पर केवल दो कदम की दूरी तक नजर टिकी रहती है, बाकी सारा ज्ञान दर्शन। चलते हुए अपने शरीर पर नजर न ले जाते हुए भी, उसका अनुभव करते हुए, उसे जानते हुए चलते हैं।

गृहस्थ के घर में प्रवेश करते हुए वे अपनी काया को न ऊंचा करते हैं, न नीचा। न कम झुकाते हैं, न अधिक। अपने गौरव के अनुकूल शरीर की स्थिति रखते हैं। बिछे आसन की ओर जाते हुए काया को आसन से न अति दूर पलटते हैं, न अति समीप। न हाथ का सहारा लेकर आसन पर बैठते हैं और न ही मानो असहाय शरीर को पटकते हुए धम्म से बैठ जाते हैं। न उनके हाथों में चंचलता प्रकट होती है, न पांवों में। न घुटने पर घुटना चढ़ा कर बैठते हैं, न टखने पर टखना और न ही ठुड्डी हाथ पर रख कर बैठते हैं। श्रमण गोतम अत्यंत निश्चल, स्वस्थ, स्व-स्थित होकर बैठते हैं। वे सर्वथा **अछम्भी, अकम्पी, अवेधी, अपरितस्सी, विगतलोमहंसो, विवेकवत्तो च सो भवं गोतमो अन्तरघरे निसिन्नो होति** (म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त) यानी अभय, अकंपित, अविचलित, अपरित्रस्त, अरोमांचित और विवेकयुक्त रह कर बैठते हैं। उनके विराजने में सौम्य गंभीरता समायी रहती है।

भोजन ग्रहण करने के पूर्व जब वे अपने भिक्षा-पात्र को धोते हैं, उस समय जल ग्रहण करते हुए न पात्र को बहुत नीचा करते हैं, न बहुत ऊंचा। न कम झुकाते हैं न अधिक। पात्र धोने के लिए जल न कम लेते हैं, न अधिक। पात्र धोते हुए खल-खल की आवाज नहीं करते और न पात्र को उलट कर धोते हैं। पात्र को भूमि पर फेंक कर अपना हाथ नहीं धोते। पात्र को धोते हुए उनका हाथ धुल जाता है, हाथ धोते हुए उनका पात्र। पात्र व हाथ धोने के लिए काम में आये हुए जल को वे न अति दूर फेंकते हैं, न अति समीप और न हिला-डुला कर, न घुमा-फिरा कर फेंकते हैं। यानी उनकी सारी हरकतें अत्यंत अनुशासित होती हैं।

भोजन (भात) न अधिक ग्रहण करते हैं, न कम। जैसे भोजन की निश्चित मात्रा जानते हैं, वैसे ही व्यंजन यानी तरकारी की भी। भोजन के ग्रास के साथ अधिक मात्रा में व्यंजन ग्रहण नहीं करते। भात चबा-चबा कर खाते हैं। पहला कौर पूरी तरह निगल लेने के बाद ही दूसरा मुँह में लेते हैं। भात का जूठन मुँह से छूट कर उनके शरीर पर कभी नहीं गिरता। भोजन करते हुए वे उसके रस का अनुभव जरूर करते हैं, परंतु उस आस्वादन में राग की प्रतिक्रिया नहीं होती। उनका आहार मौज, शौक, मद अथवा शरीर को सुंदर बनाने के लिए नहीं होता। काया की यथाआवश्यक स्थिति बनाये रखने, जीवन-धारा चलाने और शुद्ध

धर्माचरण का जीवन निभा सकने के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही आहार ग्रहण करते हैं, जिससे भूख की पुरानी वेदना दूर हो और नई नहीं जागे। श्रमण गोतम का दैनिक आहार इन गुणों से परिपूरित होता है।

जैसे भोजन पूर्व, वैसे ही भोजनोपरांत वे उसी संयमित रूप से पात्र और हाथ धोते हैं। अपने भिक्षा-पात्र के प्रति न तो अन्यमनस्क होते हैं और न ही आसक्त होकर उसकी सुरक्षा के बारे में चिंतित रहते हैं। भोजन के बाद थोड़ी-सी देर धर्मासन पर मौन बैठते हैं। इतनी अधिक देर मौन नहीं बैठते, जिससे भोजन-दानानुमोदन के अनुकूल समय का अतिक्रमण हो जाय। वे सदा भोजन का अनुमोदन करते हैं, कभी निंदा नहीं करते। अनुमोदन प्रकट करते हुए यह आभास नहीं होने देते कि उन्हें इस प्रकार का भोजन-दान फिर चाहिए अथवा और चाहिए। अनुमोदन करके जब देशना देते हैं, तो धर्म-कथा द्वारा **सन्दस्सेति** यानी सम्यक रूप से दर्शन करा देते हैं। धर्म का दर्शन करना माने भीतर सच्चाई देखना। बहुधा अपनी पूर्व पारमी के कारण कुछ लोग भगवान की वाणी सुनते-सुनते भीतर की सच्चाई स्वतः देखने लगते हैं यानी अनुभव करने लगते हैं। इसी माने में **सन्दस्सेति। समादपेति** यानी उन्हें उत्साहित कर देते हैं। भीतर देखने वालों का धर्म के प्रति स्वतः उत्साह जाग उठता है। **समुत्तेजेति** – उन्हें धर्म के प्रति भली-प्रकार उत्तेजित कर देते हैं। उनमें धर्म संवेग जाग उठता है। **सम्पहंसेति** – उन्हें प्रसन्न कर देते हैं। ऐसी कल्याणकारिणी देशना सुन कर श्रोता प्रसन्न हो ही उठता है।

तदुपरांत जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार नपे-तुले कदमों से तथागत विहार लौटते हैं। लौट कर बिछे आसन पर बैठते हैं और पांव धोते हैं। यह धोना पांव की सुंदरता के लिए नहीं, मैल दूर करने के लिए होता है। फिर कुछ देर पालथी मार कर, काया सीधी रख कर, सजगता के साथ बैठे रहते हैं। तदुपरांत वे विहार की भिक्षु-परिषद को उत्साहित करने के लिए, न कि निरुत्साहित करने के लिए, धर्म-देशना देते हैं। भिक्षु-परिषद को भी वे उपरोक्त प्रकार से **सन्दस्सेति, समादपेति, समुत्तेजेति** और **सम्पहंसेति** यानी सच्चाई अनुभव करा कर उत्तेजित, उत्साहित और आनंदित करते हैं।

औरों को भी इसी प्रकार धर्म-देशना देते हैं। श्रोता-परिषद जितनी बड़ी या छोटी होती है, उसी के अनुरूप उनकी आवाज तेज या धीमी होती है। सारी परिषद उन्हें सुन पाती है और उससे आगे आवाज नहीं जाती। यों अपने स्वर पर उनका पूरा प्रभुत्व रहता है। उनकी धर्म-देशना सुन कर लोग जब लौटते हैं, तब बिना पीठ दिखाये यानी बिना मुड़े उनके दर्शनीय चेहरे को देखते-देखते चले जाते हैं। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व और उनकी प्रभावशाली वक्तृता को श्रोतागण भुलाये नहीं भूल पाते, वह चिर-स्मरणीय बनी रहती है।

ब्राह्मण कुमार उत्तर माणवक ने अपने गुरु ब्रह्मायु को आगे कहा – मैंने श्रमण गोतम को गमन करते देखा है। खड़े देखा है। गृहस्थ के घर में प्रवेश करते देखा है। भोजनोपरांत अनुमोदन करते देखा है। अपने विहार लौटते देखा है। विहार में चुपचाप बैठे भी देखा है और अपनी परिषद को धर्म-उपदेश करते भी देखा है।

इस प्रकार उसने उनकी सारी दिनचर्या एक बार नहीं, बार-बार देखी। वह सर्वथा निर्दोष थी और किसी भी गृहत्यागी के लिए उच्च आदर्श-स्वरूप थी। यह सब देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। भगवान की गुणमयी दिनचर्या का ऐसा सजीव वर्णन प्रस्तुत करके भी वह तृप्त नहीं हुआ, तो अंत में बोला –

एदिसो च एदिसो च सो भवं गोतमो – आप गोतम ऐसे हैं, ऐसे हैं।

और इतना ही नहीं,

ततो च भिय्यो – इससे भी कहीं अधिक हैं। (म० नि० २.३८७, ब्रह्मायुसुत्त)

कितना कहूं?

ध्यान देने योग्य बात है कि उत्तर माणवक न भगवान बुद्ध का भावुक भक्त और न श्रद्धालु शिष्य था, जो कि उनकी अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा करता। वह तो ब्राह्मण गुरु ब्रह्मायु का पट्ट-शिष्य था, जो अपने गुरु के आदेश पर श्रमण गोतम को जांचने-परखने और उसकी यथा-तथ्य रपट प्रस्तुत करने के लिए गया था। भगवान को एक सरसरी निगाह से देख कर और उनके भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसने यह रपट नहीं दी थी। भगवान के शरीर पर बत्तीस के बत्तीस महापुरुष लक्षण उसने स्वयं ध्यान से देखे थे। छः महीनों तक छाया की भांति उनके पीछे लगा रह कर एक तथ्यदर्शी समालोचक की तरह उनके रहन-सहन, चाल-ढाल, खान-पान, लोक-व्यवहार, धर्म-देशना तथा वाणी को बड़े ध्यान से और बुद्धिमानीपूर्वक परख कर देखा था। तत्पश्चात उसने यह आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया था।

भगवान का जीवन कितना भद्र था, भव्य था, शिष्ट था, शालीन था, सुंदर था, संयत था, अनुशासित था! इसी कारण सुगत 'सुगत' थे।

दिनचर्या

तिपिटक और उनकी अट्ठकथाओं (अर्थकथाओं) को देखने से सुगत की दैनिकचर्या का भी एक भव्य दृश्य हमारे सामने आता है।

सुगत की दिनचर्या दो भागों में बँटी थी। वे दिन में केवल एक बार मध्याह्न पूर्व भोजन ग्रहण करते थे। अतः चर्या का एक भाग भोजन के पूर्व का और दूसरा भोजन के पश्चात का था।

भोजन के पूर्व की चर्या

सुगत प्रातः मुँह, हाथ धोने आदि के नित्य-कर्म से निवृत्त होकर भिक्षाटन के लिए जाने का समय आने तक एकांत स्थान में रहते थे। कभी-कभार भिक्षाटन के लिए जाने के पूर्व किसी अन्य संन्यासी के आश्रम में धर्म-चर्चा के लिए चले जाते थे। भिक्षाटन के लिए कभी अकेले निकलते थे, कभी भिक्षुओं के साथ। गांव में प्रवेश करने के पूर्व स्वयं भी और भिक्षु-संघ भी अपने-अपने चीवर, संघाटी को भली प्रकार पहन-ओढ़ लेते थे। आगे-आगे भगवान चलते थे, पीछे-पीछे पंक्तिबद्ध शांत-दांत भिक्षुगण। भिक्षुओं की कतार का यह दृश्य बड़ा भव्य लगता होगा, जैसा कि आज भी पड़ोसी देशों में देखा जाता है। गांव में प्रवेश करने पर गृहस्थ लोग भगवान से भोजन के लिए अपने घर पदार्पण करने की प्रार्थना करते और साथ में अमुक संख्या में भिक्षुओं की मांग करते थे। श्रद्धालु गृहस्थ भगवान के हाथ से पात्र ले उन्हें अपने घर ले जाता था। उन्हें बिछे हुए सम्माननीय आसन पर बैठा कर भोजन परोसता था। भोजनोपरांत हाथ-मुँह धोकर भगवान पुण्यानुमोदन करते और गृहस्थ को समयानुकूल धर्मोपदेश देते थे। भोजन के पश्चात भिक्षु-संघ के साथ भगवान विहार लौट आते थे। कभी-कभी भगवान थोड़ी-थोड़ी मधुकरी घर-घर से प्राप्त कर एकांत में बैठ कर भोजन ग्रहण करते थे। इसी प्रकार भिक्षु भी घर-घर से मधुकरी प्राप्त करते थे। भोजन के बाद उसी प्रकार अनुशासित, पंक्तिबद्ध हो, विहार लौट आते थे। कभी-कभार भगवान भिक्षा के लिए नहीं भी जाते और भिक्षु लोग जो

भिक्षा मांग लाते उसे ही ग्रहण करते थे। परंतु ऐसा कम ही होता था। फाल्गुनी होली वाले "बाल-त्यौहार" यानी मूर्खों के त्यौहार पर वे विहार में ही रहना पसंद करते थे। भोजन के पश्चात विहार में लौट कर भगवान खुले मंडप के तले बिछे हुए बुद्धासन पर मौन बैठते थे। जब सारे भिक्षु भोजन से निवृत्त हो जाते, तो गंध-कुटी की ओर चले जाते थे।

भोजन के पश्चात की चर्या

भोजनोपरांत गंध-कुटी के बरामदे में बैठ कर भगवान पैर धोते और वहीं बुद्धासन पर बैठ कर भिक्षु-संघ को उपदेश देते थे। भिक्षुओं को उनके अनुकूल साधना का कर्म-स्थान बताते और साधना करने के लिए प्रोत्साहन-भरे शब्द कहते थे। भिक्षु भगवान को नमन कर साधना के लिए अपने-अपने स्थान पर चले जाते थे। कोई पास के अरण्य में, कोई वृक्ष के तले, कोई शून्यागार में। तदुपरांत भगवान गंध-कुटी में प्रवेश कर मुहूर्त्त भर दाहिनी करवट ले, सिंह-शय्या में स्मृति-संप्रज्ञान के साथ लेटते थे और शरीर को आराम देते थे। विश्राम से उठ कर संसार को करुण-दृष्टि से देखते थे। दोपहर के बाद गांव, नगर के लोग भगवान के सम्मान में पुष्प आदि लेकर उन्हें नमन करने आते थे और भगवान उन्हें समयानुकूल धर्म-देशना देते थे। धर्म-चर्चा के बाद लोग अपने-अपने घर लौट जाते थे।

रात्रिचर्या

भगवान की रात्रिचर्या तीन भागों में बँटी होती थी। सायंकाल की धर्मचर्चा से निवृत्त होकर भगवान स्नान करते और चीवर पहन कर मुहूर्त्त भर अकेले, मौन बैठे रहते थे। तदनंतर भिक्षु लोग आकर उन्हें घेर कर बैठ जाते थे। किसी-किसी के प्रश्न का उत्तर देते, किसी-किसी के कर्म-स्थान यानी साधना विधि का स्पष्टीकरण करते, किसी-किसी को लगन के साथ काम करने के लिए प्रोत्साहित करते और कभी कोई धर्मोपदेश देते थे। यों रात्रि का पहला याम पूरा होता था। उपस्थित भिक्षु-संघ अभिवादन कर अपने-अपने निवासस्थान की ओर विश्राम के लिए चले जाते थे।

रात्रि के दूसरे यानी मँझले याम में विभिन्न देव-ब्रह्म लोकों के देव-ब्रह्माओं में से कोई-कोई आते और भगवान से धर्मचर्चा करते थे। भगवान उनके प्रश्नों का यथोचित उत्तर देते हुए रात्रि का यह बिचला भाग उनके साथ बिताते थे।

रात्रि के अंतिम यानी तीसरे याम को तीन भागों में बांटते थे। पहले भाग में शरीर को स्वस्थ रखने के लिए बाहर खुले में चंक्रमण करते थे यानी टहलते थे। दूसरे भाग में गंध-कुटी में प्रवेश कर दायीं करवट, सिंह-शय्या में, स्मृति-संप्रज्ञान के साथ लेटते थे और शरीर को आराम देते थे। तीसरे भाग में शय्या से उठ कर फिर बुद्धासन पर मौन बैठते थे और महाकरुणा समापत्ति में निमग्न हो जाते थे। आज की धर्म-शिक्षा किस पुण्यशाली व्यक्ति को मिले? इसका चिंतन कर, उस पर करुणा की वर्षा करते थे। और इस प्रकार भोर होते-होते रात्रि के तीसरे यानी अंतिम याम की चर्या पूरी करते थे। यों सुगत का मौन-ध्यान भी लोक-कल्याण के भावों से ओत-प्रोत रहता था, बोलते वक्त की तो बात ही क्या!

अशन, पान, शयन को छोड़ कर; मल-मूत्र त्याग के समय को छोड़ कर; निद्रा, थकावट को दूर करने के समय को छोड़ कर तथागत की धर्म-देशना अखंड ही रहती थी। तथागत का धर्म पर व्याख्यान अखंड ही रहता था; तथागत का प्रश्नोत्तर अखंड ही रहता था।

कभी-कभी एकांत में ध्यान करने चले जाते थे, तो उसमें भी लोक-कल्याण की भावना समायी रहती थी। उन्होंने कहा – मैं अरण्य और वन-पथ पर एकांत शयनासन का सेवन इसलिए करता हूं, जिससे कि –

अत्तनो च दिट्ठधम्मसुखविहारं सम्पस्समानो।

– स्वयं को भी परम सत्य के साक्षात्कार का सुख-विहार हो, और –

पच्छिमञ्च जनतं अनुकम्पमानो – भविष्य की जनता पर भी अनुकंपा हो।

(म० नि० १.५५, भयभेरवसुत्त)

अनुकंपा यही कि उनके जैसे मुक्त हुए व्यक्ति द्वारा भी ध्यान किया जाना सुन कर भविष्य की अमुक्त जनता प्रेरणा प्राप्त करे और ध्यान की ओर झुके।

उनकी रात्रिचर्या शोभन थी, उनकी दिनचर्या शोभन थी, उनकी जीवनचर्या शोभन थी। उनकी समस्त कायिक, वाचिक, मानसिक चर्या शोभन थी। उनका बोलना शोभन था, उनका मौन रहना शोभन था। इसी कारण वे सुगत थे।

तथागत

जो सुगत थे, वे तथागत थे। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान के सारे गुण इन दोनों शब्दों में समा गये हैं। भगवान ने स्वयं सुगत की व्याख्या करते हुए समझाया –

कतमो च, भिक्खवे, सुगतो – भिक्षुओ, सुगत कौन है?

और स्वयं उत्तर देते हुए बोले –

इध, भिक्खवे, तथागतो लोके उप्पज्जति – भिक्षुओ, यहां तथागत लोक में उत्पन्न होते हैं।

और फिर तथागत की व्याख्या करते हुए कहा –

अरहं, सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिसदम्मसारथि, सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा।

और फिर कहा –

अयं भिक्खवे, सुगतो – भिक्षुओ, यही सुगत हैं।

अतः तथागत ही सुगत हैं, सुगत ही तथागत हैं।

कतमो च, भिक्खवे, सुगतविनयो – भिक्षुओ, सुगत की शिक्षा क्या है?

सो धम्मं देसेति आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं।

– वे धर्म देशना देते हैं, जो आदि, मध्य और अंत में कल्याणकारिणी है।

इसीलिए कहा गया –

सुगतो वा, भिक्खवे, लोके तिट्ठमानो सुगतविनयो वा।

– भिक्षुओ, संसार में सुगत रहें अथवा (संसार में) सुगत न रहने पर सुगत की शिक्षा रहे, तो वह –

तदस्स बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं।

(अ० नि० १.४.१६०, सुगतविनयसुत्त)

– बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, संसार पर अनुकंपा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के अर्थ, हित और सुख के लिए होती है।

सुगत कहें या तथागत कहें, अर्थ एक ही है। दोनों समानधर्मी हैं। जो सुगत के बारे में कहा गया, वह तथागत पर लागू होता है, जो तथागत के बारे में कहा गया, वह सुगत पर लागू होता है।

तथागत के बारे में कहा गया –

जो यथावादी हैं तथाकारी हैं, जो यथाकारी हैं तथावादी हैं यानी जो बोलते हैं वही करते हैं, जो करते हैं वही बोलते हैं; जिनकी कथनी-करनी में कोई भेद नहीं होता, वही तथागत कहलाते हैं।

और फिर –

जिस रात तथागत अनुत्तर सम्यक संबोधि प्राप्त करते हैं और जिस रात अनुपादिशेष निर्वाण धातु से परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, इस बीच जो कहते हैं, जो बोलते हैं, जो निर्देश देते हैं, वह सब तथता ही होता है यानी वैसा ही होता है, अन्यथा नहीं। सत्य ही होता है, यथार्थ ही होता है (असत्य नहीं, अयथार्थ नहीं)। इसीलिए तथागत कहलाते हैं (इतिवु० ११२, लोकसुत्त)।

सुगद

सुगत का एक अर्थ होता है – सुगद यानी सुभाषी यानी सही, सुंदर, कर्ण-प्रिय, कल्याणी वाणी बोलने वाला। ऐसी ही थी सुगत की वाणी, जैसे किसी भूख से व्याकुल व्यक्ति को मधु-पिंड परोस दिया गया हो।

जिघच्छादुब्बल्यपरेतो मधुपिण्डिकं अधिगच्छेय्य।

– जैसे भूख की दुर्बलता से पीड़ित व्यक्ति मधु-पिंड पा जाय।

सो यतो यतो सायेय्य, लभेथेव सादुरसं असेचनकं। (म० नि० १.२०५, मधुपिण्डिकसुत्त)

– वह जहां-जहां से उसे खाये, वहीं-वहीं तृप्तिकारक, सुस्वादु रस ही पाये।

वंगीस जैसा कवि जब सुगत-वाणी सुनने को लालायित हो उठा तो बोला –

जिस प्रकार हंस गला फैला कर मधुर और सुरीले स्वर में निकूजन करता है, वैसे ही आप शीघ्र मधुर वाणी बोलें, हम उसे ध्यानपूर्वक सुनेंगे।

और जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में गर्मी से पीड़ित लोग पानी के लिए तरसते हैं, वैसे ही मैं आपकी वाणी की आकांक्षा करता हूं। आप वाणी की वर्षा करें (सु० नि० ३५२,३५४, निग्रोधकप्पसुत्त)।

सचमुच सुगत की वाणी प्यासे लोगों के लिए अमृत का काम करती थी। वाणी में धर्म का अमृत तो समाया हुआ था ही, साथ-साथ आवाज भी ऐसी थी जो लोगों को मंत्रमुग्ध कर लेती थी। उनके बत्तीस महापुरुष लक्षणों में से एक लक्षण यह था कि उनका स्वर ब्रह्म-स्वर था, करविंक (कोयल) पक्षी का-सा स्वर

था। ब्रह्मायु के शिष्य उत्तर माणवक ने जब भगवान की जांच करके अपने गुरु को रपट दी, तब यह भी बताया कि उनकी वाणी की आठ विशेषताएं हैं। ब्रह्मा की वाणी की भी यही आठ विशेषताएं होती हैं।

उनकी वाणी –

(१) **विसट्ठो** – यानी अत्यंत स्पष्ट होती है, प्रमाण सहित होती है।

(२) **विञ्ञेय्यो** – यानी जानने योग्य होती है; सरलता से जानी, समझी जा सकती है।

(३) **मञ्जु** – यानी श्रवण-मधुर, कर्ण-प्रिय होती है।

(४) **सवनीयो** – यानी श्रवण-योग्य होती है; सुनने वाले उसे बार-बार सुनना चाहते हैं।

(५) **बिन्दु** – यानी सघन सार-युक्त होती है; उसमें का कोई शब्द अर्थहीन, हल्का और निस्सार नहीं होता।

(६) **अविसारी** – यानी विषयानुकूल सुव्यवस्थित होती है, उसमें अटपटापन नहीं होता।

(७) **गम्भीरो** – यानी गंभीर होती है, और,

(८) **निन्नादी** – यानी महामेघ अथवा मृदंग-घोष सदृश गुंजायमान होती है।

वाणी निन्नादी थी, इसीलिए सुनने वाले के हृदय में पैठ जाती थी। श्रोता के तन-मन में विद्युत का सा करंट प्रवाहित हो जाता था और उस पर गहरा प्रभाव पड़ता था। आज भी उनकी वाणी के बोल कोई सुधी साधक पढ़ता है, तो उसके शरीर का अणु-अणु सचेत हो उठता है। जब वे अपनी निन्नादी वाणी में उद्घोष करते होंगे तो उससे उत्पन्न हुए गहन प्रभाव का तो कहना ही क्या!

आओ, सुगत की कल्याणी वाणी के कुछ उदाहरण देखें और देखें विपश्यी साधक के लिए ये कितने प्रबल प्रबोधक हैं, प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक हैं–

(१) **उट्ठहथ निसीदथ, को अत्थो सुपितेन वो?** (सु० नि० ३३३, उट्ठानसुत्त)
– उठ बैठो! सोने से तुम्हें क्या मिलेगा भला?

(२) **उट्ठहथ निसीदथ, दळ्हं सिक्खथ सन्तिया।** (सु० नि० ३३४, उट्ठानसुत्त)
– उठ बैठो! दृढ़तापूर्वक शांति की शिक्षा में लग जाओ।

(३) **सुत्ता जागरितं सेय्यो, नत्थि जागरतो भयं।** (इतिवु० ४७, जागरियसुत्त)
– सोने से जागना अच्छा है, जागने वाले के लिए भय नहीं है।

(४) **उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्य, धम्मं सुचरितं चरे।**
– उठे! प्रमाद न करे! अच्छे धर्म का पालन करे!

(५) **धम्मचारी सुखं सेति, अस्मिं लोके परम्हि च।** (ध० प० १६८, लोकवग्ग)
– धर्मचारी सुख से सोता है, इस लोक में भी और परलोक में भी।

(६) **अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।** (ध० प० २१, अप्पमादवग्ग)
– अप्रमाद अमृतपद है और प्रमाद मृत्युपद।

(७) **उट्ठाहतो अप्पमज्जतो, अनुतिट्ठन्ति देवता।** (जा० २.१७.११, तेसकुणजातक)
– उठे और जागे हुए अप्रमादी का देवता साथ देते हैं।

(८) **अज्जेव किच्चमातप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे।** (म० नि० ३.२७२, भद्देकरत्तसुत्त)
– आज ही तप कर लो, कौन जाने कल मृत्यु आ जाय।

(९) **खणो वो मा उपच्चगा** – इस क्षण को मत खोओ। (सु० नि० ३३५, उट्ठानसुत्त)

(१०) **खणातीता हि सोचन्ति** – जो यह क्षण खोते हैं, वे पछताते हैं। (सु० नि० ३३५, उट्ठानसुत्त)

(११) **अभिक्खणं सकं चित्तं पच्चवेक्खितब्बं।** (सं० नि० २.३.१००, दुतियगद्दुलबद्धसुत्त)
– क्षण-क्षण अपने चित्त का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए।

(१२) **को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति।**
– कैसी हँसी? कैसा आनंद? देखो, (तुम) सतत जल रहे हो।

(१३) **अन्धकारेन ओनद्धा, पदीपं न गवेसथ॥** (ध० प० १४६, जरावग्ग)
– तुम अंधकार में गिरे हुए हो, प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते?

(१४) **अन्धभूतो अयं लोको, तनुकेत्थ विपस्सति।** (ध० प० १७४, लोकवग्ग)
– यह लोक अंधा हो गया है, यहां विपश्यना करने वाले थोड़े ही हैं।

(१५) **सत्थारा करणीयं सावकानं हितेसिना अनुकम्पकेन अनुकम्पं उपादाय, कतं वो तं मया**
– श्रावकों के हितैषी, अनुकंपक शास्ता को अनुकंपा करके जो करना चाहिए था, वह मैंने तुम्हारे लिए कर दिया।

(१६) **एतानि, चुन्द, रुक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि** – हे चुंद, ये वृक्षमूल हैं, ये शून्यागार हैं,
झायथ, चुन्द – हे चुंद, ध्यान करो।
मा पमादत्थ – प्रमाद मत करो।
मा पच्छाविप्पटिसारिनो अहुवत्थ – पीछे पछतानेवाला न बनना। (म० नि० १.८८, सल्लेखसुत्त)

(१७) **अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा** – उनके लिए अमृत के द्वार खुल गये हैं।
(म० नि० १.२८३, पासरासिसुत्त)

(१८) **इङ्घ तुम्हे, आनन्द, सारत्थे घटथ अनुयुञ्जथ।** (दी० नि० २.२०४, महापरिनिब्बानसुत्त)
– हे आनंद, तुम सार प्राप्त करने के प्रयत्न में लग जाओ।

(१९) **पधानमनुयुञ्ज, खिप्पं होहिसि अनासवो।** (दी० नि० २.२०७, महापरिनिब्बानसुत्त)
– समाधि के अभ्यास में लग जाओ, शीघ्र अनास्रव हो जाओ।

(२०) **सङ्गामे मे मतं सेय्यो, यञ्चे जीवे पराजितो।** (सु० नि० ४४२, पधानसुत्त)
– इस शिव संकल्प के साथ कि पराजित होकर जीने की अपेक्षा तपस्या के संग्राम में रत रहकर मर जाना मेरे लिए श्रेयस्कर है।

(२१) **भद्दको, आवुसो, मग्गो भद्दिका पटिपदा एतस्स निब्बानस्स सच्छिकिरियाय।**
(सं० नि० २.४.३१४, निब्बानपञ्हासुत्त)
–सचमुच निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए यह भद्र मार्ग है, यह भद्र प्रतिपदा है।

(२२) **सतो, भिक्खवे, भिक्खु, सम्पजानो कालं आगमेय्य।**

– भिक्षुओ, भिक्षु स्मृतिमान और संप्रज्ञानी होकर अपने समय की प्रतीक्षा करे।

अयं वो अम्हाकं अनुसासनी – यही मेरी शिक्षा है। (सं० नि० २.४.२५६, दुतियगेलञ्ञसुत्त)

(२३) **यं, भिक्खवे, न तुम्हाकं, तं पजहथ।** (सं० नि० २.३.३३, नतुम्हाकसुत्त)

– भिक्षुओ, जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ दो।

(२४) **मानं, भिक्खवे, एकधम्मं पजहथ।**

– भिक्षुओ, तुम केवल एक धर्म – अभिमान – को त्याग दो।

(२५) **अहं वो पाटिभोगो अनागामिताय।** (इतिवु० ६, मानसुत्त)

– तुम्हारे अनागामी हो जाने का मैं जिम्मा लेता हूं।

(२६) **अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा।**

– भिक्षुओ, स्वयं अपने द्वीप बन कर, स्वयं अपनी शरण ग्रहण कर, किसी अन्य की शरण न ग्रहण कर विहार करो।

(२७) **धम्मदीपा धम्मसरणा अनञ्ञसरणा।** (दी० नि० २.१६५, महापरिनिब्बानसुत्त)

– धर्म-द्वीप बन कर, धर्म की शरण ग्रहण कर, किसी अन्य की शरण न ग्रहण कर विहार करो।

(२८) **तुम्हेहि किच्चमातप्पं, अक्खातारो तथागता।** (ध० प० २७६, मग्गवग्ग)

– तपने का काम तो तुम्हें ही करना होगा, तथागत तो केवल मार्ग के आख्याता होते हैं।

(२९) **हन्द दानि, भिक्खवे** – हन्त, भिक्षुओ,

आमन्तयामि वो आओ, सुनो,

वयधम्मा सङ्खारा – सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, अनित्य हैं।

अप्पमादेन सम्पादेथ – अप्रमाद द्वारा इस सत्य को पूरी तरह जानने का प्रयास करो।

(दी० नि० २.२१८, महापरिनिब्बानसुत्त)

यही नहीं, सुगत के इन जैसे अन्य अनेक बोल हैं जो धर्मपथिकों के लिए कल्याणी चेतावनी का काम करते हैं; मोह-निद्रा में सोये हुओं को जगाने के लिए गुरु-गंभीर शंखनाद का काम करते हैं; शिथिल पड़ गये साधकों के लिए चाबुक की फटकार का सा काम करते हैं। इसीलिए सुगत 'सुगत' हैं, 'सुगद' हैं, 'सुभाषी' हैं, 'तथागत' हैं, 'सचेतक' हैं।

उनके बोल हमारे लिए धर्म की अनमोल विरासत हैं और यही तो वे चाहते थे कि हम उनके निरामिष धर्म के वारिस बनें, आमिष के नहीं।

तस्मातिह मे, भिक्खवे, धम्मदायादा भवथ, मा आमिसदायादा। (म० नि० १.२९, धम्मदायादसुत्त)

– भिक्षुओ, मेरे धर्म वारिस बनो न कि आमिष वारिस।

उनकी वाणी में शुद्ध धर्म ही समाया हुआ था। उनके वारिस बन कर हम अपना ही कल्याण साधेंगे। अपनी सुगति प्राप्त करेंगे।

हम देखते हैं कि भगवान की कायिक, वाचिक और मानसिक सभी कर्म-गतियां सुष्ठु थीं, शोभन थीं, सुंदर थीं, निर्दोष थीं, निष्कलंक थीं, दर्शनीय थीं, श्रवणीय थीं, ग्रहणीय थीं। इसी कारण भगवान 'सुगत' थे।

इतिपि सो भगवा सुगतो

अनुक्रमणिकाएं

हिंदी शब्दानुक्रमणिका

अ

आ

झ

त

द

ध

न

भ

म

स

पालि शब्दानुक्रमणिका

ब

भ

म

स

संदर्भ सूची

नामों की अनुक्रमणिका

हिंदी (पालि)

अग्निवत्सगोत्र (अग्गिवच्छगोत्त)
अग्गिक भारद्वाज (अग्गिक भारद्वाज)
अचेल कोरमत्तक (अचेल कोरमत्तक)
अचेल सेनिय (अचेल सेनिय)
अजातशत्रु (अजातसत्तु)
अनाथपिंडिक (अनाथपिण्डिक)
अनिरुद्ध (अनिरुद्ध)
अभय (अभय)
अशोक (असोक)
अश्वजित (अस्सजि)
अष्टक (अट्ठक)
असित देवल (असित देवल)
अंगीरस (अङ्गीरस)
अंगुलिमाल (अङ्गुलिमाल)
अंबष्ठ (अम्बट्ठ)
आक्रोशक (अक्कोसक)
आक्रोशक भारद्वाज (अक्कोसक भारद्वाज)
आजीवक जंबुक (आजीवक जम्बुक)
आनंद (आनन्द)
आलवक (आळवक)
आलारकालाम (आळार कालाम)
आश्वलायन (अस्सलायन)
इक्ष्वाकु (ओक्काक)
इंद्र (इन्द)
उदयन (उतेन/उदेन)
उद्दक रामपुत्र (उद्दक रामपुत्त)
उरुवेल काश्यप (उरुवेल कस्सप)
उग्र गृहपति (उग्ग गहपति)
उत्तर (उत्तर)
उदय (उदय)
उदायी (उदायी)
उपक (उपक)
उपालि (उपालि)

हिंदी (पालि)

एसुकारी (एसुकारी)
ककुसंध (ककुसन्ध)
कात्यायन (कच्चान कच्चायन)
कालदेवल (कालदेवल)
काश्यप (कस्सप)
किम्मिल (किम्बिल)
किसा गोतमी (किसा गोतमी)
कूटदंत (कूटदन्त)
केणिय (केणिय)
कोटिकर्ण (कोटिकण्ण)
कोणागमन (कोणागमन)
कोलिय (कोलिय)
कोलियपुत्र (कोलियपुत्त)
कोशल (कोसल)
कौंडण्य (कोण्डञ्ञ)
कृषि भारद्वाज (कसिभारद्वाज)
कृष्णायन (कण्हायन)
खुज्जुत्तरा (खुज्जुत्तरा)
गणक मोग्गल्लान (गणक मोग्गल्लान)
गया काश्यप (गया कस्सप)
गोशाल (गोसाल)
गौतम (गोतम)
चंकी (चङ्की)
चुंद (चुन्द)
चुंदक (चुन्दक)
जानुस्सोणि (जाणुस्सोणि)
जीवक (जीवक)
ज्योतिपाल (जोतिपाल)
दीपंकर (दीपङ्कर)
देवदत्त (देवदत्त)
द्रोण (दोण)
धनंजानि, धनंजानी (धनञ्जानी)
नदी काश्यप (नदी कस्सप)

हिंदी (पालि)

हिंदी (पालि)